त्याग किए बिना भी पोषध किया जाता था। स्थानांग सूत्र (४।३।३१४) के अनुसार पोषध की आराधना अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा, अमावस्या—इन पर्व दिनों में की जाती है। स्थानांग (३।१।१५० तथा ४।३।३१४) में 'पोषधोपवास' और 'परिपूर्ण पोषध'—ये दो शब्द मिलते हैं। पोषध (पर्व दिन) में जो उपवास किया जाता है, वह 'पोषधोपवास' है। तथा पर्व तिथियों में पूरे दिन और रात तक आहार, शरीर संस्कार आदि का परित्याग कर ब्रह्मचर्यपूर्वक जो धर्माराधना की जाती है वह 'परिपूर्ण पोषध' है।

दिगम्बर परम्परा के वसुनन्दि श्रावकाचार (२८०-२९४) में उत्तम, मध्यम और जघन्य के भेद से प्रोषध के तीन रूप बताए हैं। उत्तम प्रोषध में चतुर्विध आहार का तथा मध्य में जल को छोड़कर शेष त्रिविध आहार का त्याग होता है। आयंबिल (आचाम्ल), निर्विकृति, एक स्थान और एक भक्त को जघन्य प्रोषध कहते हैं।

बौद्ध परम्परा में अंगुत्तर निकाय (भा० १, पृ० २१२) के अनुसार प्रत्येक पक्ष की अष्टमी, चतुर्दशी और पंचदशी (पूर्णिमा और अमावस्या) को उपोसथ होता है। उपोसथ में प्राणियों की हिंसा, चोरी, मैथुन और मृषावाद का त्याग होता है। रात्रि में भोजन नहीं किया जाता। दिन में भी विकाल में एक बार ही भोजन होता है। माला, गन्ध आदि का उपयोग नहीं किया जाता है।

'उपोसथ' में 'उ' कार का लोप होने के बाद 'थ' को 'ह' हो जाने पर उच्चारणविज्ञान के अनुसार सहज ही प्राकृत का 'पोसहरूप' निष्पन्न हो सकता है।

प्रस्तुत में ब्राह्मणरूपधारी इन्द्र नमिराजर्षि से 'पोषध' करने की बात कहता है। अतः स्पष्ट होता है कि वह जैन परम्परा के 'पोषध' का प्रयोग नहीं बता रहा है। अवश्य ही वैदिक परम्परा में भी किसी न किसी रूप में 'पोषध' का प्रयोग उस युग में होता होगा। उत्तर में नमिराजर्षि ने इन्द्र-निर्दिष्ट उक्त तप को बालतप कहकर जो निषेध किया है, वह भी उक्त 'पोषध' को जैन परम्परा का सिद्ध नहीं करता है।

गाथा ४४—'कुसग्गेण तु भुंजए' में आए कुशाग्र के दो अर्थ होते हैं। एक तो वही प्रसिद्ध अर्थ है कि जितना कुश के अग्रभाग पर टिके, उतना खाना, अधिक नहीं। सुखबोधा वृत्ति में दूसरा अर्थ है—कुश के अग्रभाग से ही खाना, अंगुली आदि से उठाकर नहीं—'कुशाग्रेणैव दर्भाग्रेणैव भुंक्ते, न तु करांगुल्यादिभिः।'

गाथा ६०—सूत्रकृतांग चूर्णि (पृ० ३६०) के अनुसार तीन शिखरों वाला मुकुट और चौरासी शिखरों वाला तिरीड अर्थात् किरीट होता है। वैसे सामान्यतया मुकुट और किरीट—दोनों पर्यायवाची माने जाते हैं।

उत्तराध्ययन सूत्र
दर्शनाचार्य
साध्वी श्री चन्दना
सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा-२.

तीर्थंकर श्रमण भगवान् महावीर की पच्चीसवीं निर्वाण शताब्दी के उपलक्ष्य में

उत्तराध्ययन सूत्र

(भगवान् महावीर का अंतिम उपदेश)

[संक्षिप्त विवेचन, अनुवाद एवं विशेष टि]

आचाय विनयचन्द्र ज्ञान भण्डार

लाल , चौड़ा , जयपुर-३ (.)

साध्वी चन्दना, दर्शनाचार्य

सन्मति नपी , आगरा-२

प्रकाशकीय

प्राचीन जैन साहित्य मे उत्तराध्ययन सूत्र का महत्त्वपूर्ण स्थान है। अतएव एक अजैन विद्वान का तो यह कहना है कि उत्तराध्ययन जैन परम्परा की गीता है। वस्तुत उत्तराध्ययन सूत्र जीवन सूत्र है। वह जीवन के विभिन्न आध्यात्मिक, नैतिक एव दार्शनिक दृष्टि कोणो को बडी गहराई से स्पर्श करता है। एक प्रकार से यह जीवन का सर्वागीण दर्शन है। यही कारण है कि उत्तराध्ययन सूत्र पर जितनी टीकाएँ, उपटीकाएँ एव अनुवाद आदि लिखे गये हैं, इतने अन्य किसी आगम पर नही।

की वर्तमान राष्ट्रभाषा हिन्दी है। हिन्दी मे भी अब तक उत्तराध्ययन के अनेक अनुवाद प्रकाशित हुए हैं। फिर भी हिन्दी मे एक अच्छे अनुवाद की अपेक्षा थी। ऐसा अनुवाद, जो मूल की आत्मा को ठीक तरह स्पर्श कर सके, कब से अपेक्षित रहा है। पूज्य श्री अमरमुनि जी महाराज स्वय ही काफी समय से यह भावना अन्तर्मन मे सजोए हुए थे। परन्तु साधु सम्मेलन आदि के प्रसगो पर दूर-दूर तक भ्रमण करने एव सघसगठनादि कार्यों मे अत्यधिक व्यस्त रहने के कारण सकल्पसिद्धि नही कर सके। सामायिक सूत्र तथा आवश्यक सूत्रान्तर्गत श्रमण सूत्र का उनके मूलपाठ, , हिन्दी भाष्य, विवेचन, तुलनात्मक आलोचना आदि के साथ जो सम्पादन हुआ है, वह कितना महत्त्वपूर्ण एव अभिनन्दनीय है। आज भी विद्वज्जगत् मे उसकी प्रतिष्ठा है। उत्तराध्ययन आदि अन्य आगम साहित्य का भी वे उसी विस्तृत एव विवेचनप्रधान शैली मे सम्पादन करना चाहते थे। परन्तु खेद है, वह उनकी पूर्ण न हो सकी। , वह पूर्ण होती, तो कितना होता।

हमे यह निवेदन करते अतीव हर्षानुभूति है कि उपाध्याय श्री जी के उक्त कार्य को दर्शनाचार्य साध्वी श्री चन्दना जी ने आगे बढाया है। श्री चन्दना जी जैन सघ की एक महान् विदुषी साध्वी हैं। उनका अध्ययन विस्तृत है, चिन्तन बहुत गहरा है। प्राकृत व्याकरण, जैन इतिहास, तत्त्वार्थ सूत्र टीका आदि अनेक ग्रन्थ उनकी विद्वत्ता के साक्षी हैं। दर्शनशास्त्र की तो वे पण्डिता हैं। उनकी वाणी मे वह जादू है,

कि प्रवचन करती हैं तो श्रोताओ को मन्त्रमुग्ध कर देती है। प्रतिपाद्य विषय का प्रतिपादन इतना चिन्तन प्रधान, तलस्पर्शी एव सर्वागीण होता है कि पूछो नही। उत्तराध्ययन सूत्र के प्रस्तुत अनुवादन एव सम्पादन मे भी उनकी विलक्षण प्रतिभा के दर्शन होते है। शुद्ध मूलपाठ, स्वच्छ मूलस्पर्शी हिन्दी अनुवाद, प्रत्येक अध्ययन के प्रारम्भ मे अध्ययन के प्रतिपाद्य विषय की सक्षिप्त, किन्तु गम्भीर मीमासा और अन्त मे टिप्पण आदि के रूप मे इतना अच्छा कार्य हुआ है, जो चिरअभिनन्दनीय रहेगा। एतदर्थ हम श्री चन्दना जी के आभारी है। साथ ही आभारी हैं उनकी गुरुणी विदुषी-रत्न, प्रशान्तमूर्ति महासती श्री सुमति कुवर जी तथा जैन सघ के भी, जिनकी प्रेरणा से उत्तराध्ययन का यह श्रेष्ठ सम्पादन जिज्ञासु जनता को उपलब्ध हो सका। है, भविष्य मे उनके द्वारा और भी ऐसा ही श्रेष्ठ हमे फिर मिलेगा।

प्रस्तुत उत्तराध्ययन का प्रकाशन बहुत शीघ्रता मे हुआ है। महासती श्री जी ने, जैसे कि इसे बहुत जल्दी मे, सुना है—४५ दिन मे ही लिखा है, वैसे ही प्रकाशन भी प्रारम्भ के १० फार्म को छोडकर, बहुत शीघ्रता मे, यो कहिए कि सब मिलाकर दश-पन्द्रह दिन मे ही हुआ है। एतदर्थ श्री अखिलेश मुनि जी धन्यवादार्ह हैं, जो प्रारम्भ से लेकर अन्त तक अपनी योग्य सेवाओ के साथ निष्ठापूर्वक मे निरन्तर अनुरत रहे हैं। साथ ही प्रेम इलैक्ट्रिक प्रेस के स्वामी एव प्रबन्धक उत्साही एव भावनाशील युवक श्री प्रेमचन्द्र जैन के भी हम हृदय से आभारी हैं। यदि पर उनका सर्वाधिक सहयोग न मिला होता तो उक्त विराट शास्त्र का इतना जल्दी, साथ ही इतना सुन्दर, मुद्रण कथमपि सम्भव नही हो पाता।

हम प्रस्तुत से कुछ और भी अधिक सुन्दर के ले रहे थे। परन्तु समय की और साधनो की कमी के हम वैसा कुछ कर नही पाए। इसके लिए हमारे पास क्षमायाचना का ही एक मात्र मार्ग है। है, प्रबुद्ध जनता का भविष्य मे यदि उत्साह वर्द्धक सहयोग मिलता रहा तो हम अपने आज के स्वप्नो को तब अच्छी तरह पूर्ण कर सकेंगे—धन्यवाद।

सोनाराम जैन
मन्त्री
सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा-२

प्रकाशन-सहयोगी

विगत मे कुछ वर्ष पहले आगम प्रकाशन-योजना का सूत्रपात हुआ था। अच्छा खासा उत्साह था धर्म प्रेमी सज्जनो मे तब। पाँच-पाँच हजार के सदस्य, उस समय, कितने ही महानुभाव बने थे। उनमे से कितने ही सज्जनो ने तो अपना पाँच हजार का पूरा देय एक साथ दे भी दिया था। और कितनो ने देय का अमुक अश अर्पण किया था। हम उन सभी महानुभावो के हृदय से है कि समय पर की गई उनकी अर्थ-सेवा से आज यह विराट सूत्र-ग्रन्थ प्रकाशित हो सका।

हम देयराशि के साथ उनके शुभनामो का सधन्यवाद उल्लेख करते है। आशा है भविष्य मे भी उनकी ओर से इसी प्रकार यथावसर सहयोग मिलता रहेगा।

५१००)	श्री प्रतापचन्द्र भगवानदास जैन	आगरा
४०००)	,, बद्रीशाह एण्ड सन्स	आगरा
१६२५)	,, हजारीमल णदास जैन	आगरा
१०००)	,, प्रभुदयाल राजमुकट जैन	
३०००)	,, नन्हेबाबू ओमप्रकाश जैन	आगरा
१६२५)	श्रीमती कटोरी देवी जैन माता श्री पदमकुमार जैन	आगरा
१६२५)	श्रीमती राजमती जैन धर्मपत्नी, स्व श्री श्यामलालजी जैन	आगरा
१६२५)	श्रीमती माया देवी जैन धर्मपत्नी, श्री मास्टर जगन्नाथ जैन	आगरा
२००१)	श्री घनी राम महेन्द्र कुमार जैन	कानपुर
११०१)	,, कस्तूरी लाल सुरेन्द्र कुमार जैन	आगरा
१०००)	,, मदन लाल राजकुमार जैन	आगरा

५०००)	श्री	पद्म श्री सेठ मोहनमल जी चोरडिया	
५०००)	,,	गुप्तदान	जयपुर
५०००)	,,	गुप्तदान	देहली
२००१)	,,	गुप्तदान	देहली
१५००)	,,	अमोलकचन्द जी गेलडा ट्रस्ट	मद्रास
१०००)	,,	कुन्दनलाल जी पारख	देहली
१०००)	,,	प्रभुदास वल्लभदास जी मेहता	सतारा
१००१)	,,	रमणीकलाल वी शाह	बम्बई
१००१)	,,	वचनमल गुलाबचन्द जी सुराना	सिकन्दराबाद
१०००)	,,	घीसूलालजी कोठारी	जयपुर
१००१)	,,	गुलाबचन्द्र गनपतलाल कोठारी	जयपुर
१०००)	,,	गुप्तदान	जयपुर

सोनाराम जैन
मन्त्री—सन्मति ज्ञानपीठ, —२

प्रेम इलैक्ट्रिक प्रेस, आगरा—२

हयोग

कामानी जैन भवन (कलकत्ता) को गौरव प्राप्त है कि हमारे यहाँ गत वर्ष दर्शनाचार्य साध्वी श्री चन्दना जी के द्वारा उत्तराध्ययन सूत्र का विराट सपादन सम्पन्न हुआ था। साथ ही इस वर्ष तपोमूर्ति श्री रम्भाकु वर जी, आदर्श साध्वीरत्न श्री सुमतिकु वर जी, साध्वीश्रेष्ठ श्री चन्दना जी के पुनीत सानिध्य मे, हमारे यहाँ ही, सौ० सुश्री ललिता वहन-उत्तमचन्द पचमिया के द्वारा उद्घाटन विधि भी सम्पन्न हुई।

युगद्रष्टा, राष्ट्र सत, उपाध्याय श्री अमर मुनि जी की सत्प्रेरणा से सस्थापित सन्मति ज्ञानपीठ आगरा ने अपने सर्वजनोपयोगी विविध प्रकाशनो एव अमर भारती (मासिक पत्रिका) के द्वारा समाज मे नवचेतना जागृत की है। प्रस्तुत उत्तराध्ययन का प्रकाशन भी ज्ञानपीठ के द्वारा ही हुआ है। अत उद्घाटन के प्रस्तुत मगल प्रसग पर 'कामानी जैन भवन' की ओर से हम २०००१) की स्वल्प भेंट, ज्ञानपीठ को सादर समर्पण करते है।

मन्त्री

हंसराज लक्ष्मी

कामानी जैन भवन

३-सी० रायस्ट्रीट

-२०

उद्घाटन-दिवस

कार्तिक पूर्णिमा, श्री लोका शाह जयन्ती

दिनाक २०-११-१९७२

उद्घाटन शोभायात्रा का एक दृश्य

सौ० ललिता बहन उत्तमचद पचमिया, उत्तराध्ययन सूत्र का विमोचन कर, मपादिका साध्वी श्री चन्दना जी को प्रथम प्रति भेट कर रही हे । वहन पचमिया ने इस प्रसग पर आगमप्रकाशन हेतु ५५५५) शुभ दान भी घोपित किया ।
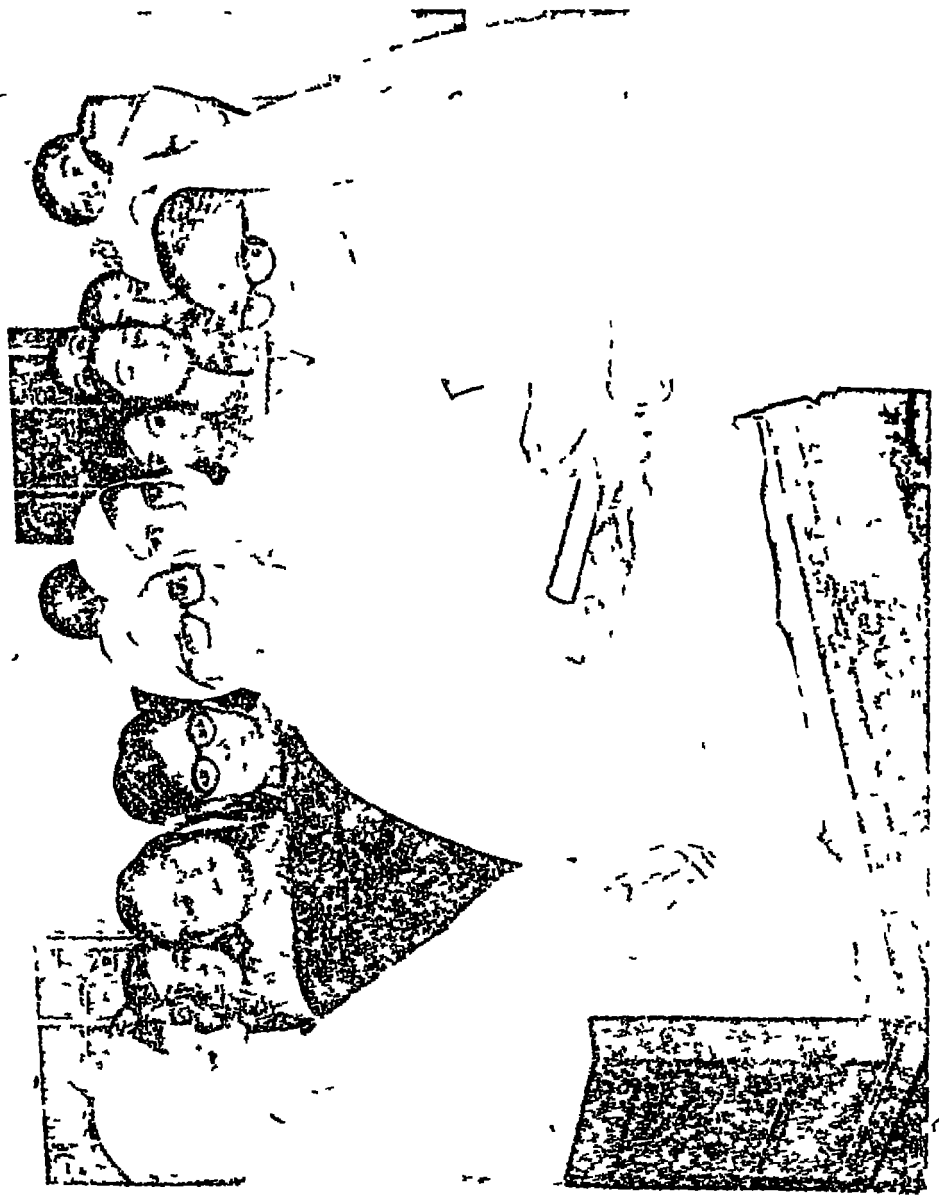
दर्शनाचार्य साध्वी श्री चन्दना जी उत्तराध्ययन सूत्र का सम्पादन करती हुई ।

पादकोय

आगमिक जैन वाङ्मय ज्ञान का एक विराट सागर है। इतना विराट कि किनारा शब्द पाठ से तो पाया जा सकता है, किन्तु भाव की गहराई मे तल को नही छुआ जा सकता। ऊपर-ऊपर तैर जाना एक बात है, और चिन्तन की गहरी डुबकी लगाकर अन्तस्तल को जाकर छू लेना दूसरी बात है। फिर भी मानव ने कहाँ छोडा है ? वह डुबकी-पर-डुबकी लगाता ही आ रहा है, और ही जाएगा।

उत्तराध्ययन सूत्र आगम सागर का ही एक बहुमूल्य दीप्तिमान् रत्न है। वह स्वय इतना परिष्कृत है कि उसे अपने मूल्य को उजागर करने के लिए किसी और परिष्कार की अपेक्षा नही है। अत मैंने उत्तराध्ययन के सम्बन्ध मे परिष्कार जैसा नया कुछ नही किया है। प्राकृतभाषा की परिधिमे रुकी हुई उस की जनकल्याणी भाव धारा को आज की राष्ट्रभाषा हिन्दी मे रित अवश्य किया है, ताकि साधारण मनीषा के जिज्ञासु भी जगत्पितामह प्रभु महावीर की इस अन्तिम दिव्य देशना का आनन्द ले सकें। मूल पाठ की शुद्धता का काफी रखा गया है। अनुवाद को भी मूल के आस-पास ही रखा गया है, दूर नही जाने दिया है। बहुत से अनुवाद बहुत दूर चले गए हैं, और उसका यह परिणाम है कि मूल की प्रभा उन पर न आ सकी और वे अपना अर्थ ही खो बैठे। मेरा अनुवाद कैसा है, मैं स्वय क्या कहूँ। जहाँ तक बन पडा है, मैंने उसे से बनाने का उपक्रम किया है। फिर भी आप जानते है, अनुवाद आखिर अनुवाद ही तो है। मूल की भावगरिमा को वह ज्यो-की-त्यो कैसे वहन कर है ? साथ ही मैं अपनी सीमा को भी जानती हूँ। अत मेरे कर्तृत्व का भी मुझे बोध है कि वह कैसा और कितना होता है। मेरे अनुवाद की कमजोरियो का मुझे पता है। फिर भी 'यावद् बुद्धि-बलोदयम्' मैंने जो किया है, उस पर गर्व तो नही, किन्तु सात्विक सन्तोष है। यह मेरा पहला ही है। रखती हूँ, यदि मुझे आगे बढने का और अवसर मिला, तो अब की अपेक्षा सब और उपस्थित कर सकूँगी।

गत वर्ष मे दीपावली पर, परम्परा के अनुसार, सूत्र का वाचन हुआ था। मैंने उत्तराध्ययन पर चिन्तन प्रस्तुत किया। इस पर कलकत्ता सघ के भावनाशील प्रबुद्ध श्रोताओ एव चिन्तको का आग्रह हुआ कि 'आप उत्तराध्ययन पर अपनी शैली से लिखें, मेरा मन इतना गुरुगम्भीर उत्तरदायित्व लेने को प्रस्तुत नही था। फिर भी स्नेहशील जनमन का आग्रह, साथ ही स्वनामधन्य तपोमूर्ति, आदरणीया श्रीरम्भाकु वरजी महाराज तथा कृपामूर्ति एव भाववत्सला गुरुणी श्री सुमति कु वर जी महाराज की प्रेरणा, यह सब ऐसा हुआ है कि मुझे अनुवादन एव सम्पादन का काम हाथ मे लेना ही पडा। और यह सब काम ४५ दिन की सीमित अवधि मे पूरा भी कर दिया। है ऐसी कि तो काम हाथ मे लेती नही हूँ। अगर ले लेती हूँ, तो फिर शक्ति के साथ उसे जल्दी से जल्दी पूरा करने की एक विचित्र-सी धुन हो जाती है। उत्तराध्ययन के सम्पादन के साथ भी ऐसा ही हुआ है। मैं यह मानती हूँ कि यदि और मिलता, अपेक्षित ग्रन्थो की और अधिक सामग्री मिलती, तो मेरे इस कार्य मे थोडी और आजाती। खैर, जो होना था हुआ, और वह आप सब के है।

सहयोगियो की स्मृति कैसे भूल सकती हूँ ! मेरी मातृतुल्य दोनो महत्तराओ का वरद हस्त तो मेरे पर था ही। प्रस्तुत कार्य मे मेरी लघुबहन साध्वी श्री 'यशा' का भी उल्लेखनीय सहयोग रहा है। प्रेसकापी बनाने मे, लेखन मे पर स्मरणीय सहयोग, होते हुए भी, उससे जो मिला है, मैं हृदय से अभिनन्दन करती हूँ। साथ ही लघु-बहन साध्वी श्री की समयोचित निर्मल सेवा, तथैव सरल हृदय प० चन्द्रभूषण मणि त्रिपाठी का सहकार भी कम स्पृहणीय नही है। के सेवामूर्ति एव मधुरभावापन्न भाई बहिनो को तो मैं कभी भूलूँगी ही नही। कितना निश्छल, निर्मल सहयोग है। मेरी स्मृति मे वह मुस्कराते खिले पुष्प की तरह या हर क्षण महकता रहेगा। नाम किस-किस का लूँ। प्रेम मैंने जो पाया है, वह सब का ही रहने दूँगी। नाम लिखकर उसे सीमित नही करूँगी।

उत्त के अब तक अनेक प्रकाशित हुए हैं। परन्तु मेरी नजरो मे जो आए हैं उनमे विद्वद्रत्न मुनि श्री जी का सम्पादित ही अत्युत्तम लगा है। मे उनकी प्रतिभा का तो है ही, साथ ही सुदीर्घ श्रम भी चिर श्लाघनीय है। मैंने उन्ही के पथ का अनुसरण किया है। अन्य अपेक्षित सामग्री के मे मेरे उत्तराध्ययन की श्री कमलसयमोपाध्याय-विरचित 'सर्वार्थ सिद्धि' प्राचीन टीका और मुनि श्री जी

सम्पादित ही आदर्श रहे है। अत. मैं दोनो की हृदय से आभारी हूँ, अतीत के उस अभिनन्दनीय विद्वद्वरेण्य टीकाकार की भी और वर्तमान के उक्त महनीय मनीषी की भी। बात लम्बी न करूँ। भूमिका के लिए आदरणीय प० श्री विजय मुनि जी की हृदय से हूँ। उन्होने अपने व्यस्त मे भी समय निकालकर जो लिखा है, वह उनके अप्रतिम पाण्डित्य का परिचायक तो है ही, साथ ही उनके स्नेहशील हृदय का भी परिचायक है। और आशीर्वाद के लिए पूज्य चरण, श्रद्धेय श्री जी, नाम क्या लिखूँ, जो अपने नाम के अनुसार कर्म से भी है, सहज उदारता की प्रतिमूर्ति के रूप मे मेरे -कक्ष मे सदा ही समादृत रहेगे। उनके सहयोग की चर्चा कर मैं सहयोग के उस मूल्य को कम नही चाहती।

पर कि की, भगवान् महावीर के महान् ों की और सेवा-पूजा कर सकूँ, इसी शुभाशा के साथ ।

जैन कामानी — साध्वी
भवानीपुर, ३, C रायस्ट्रीट
(बंग)

उत्तरा न ़ : एक अनुचिन्तन

—विजयमुनि, शास्त्री

आज समय आ गया है कि हम एकता की भावना मे एकत्रित हो। ऐसी एकता को यह समृद्धि समेटती है, जिसमे दूसरे धार्मिक विश्वासो की धार्मिक यथार्थताएँ नष्ट न हो, वल्कि एक सत्य की मूल्यवान् अभिव्यक्ति के रूप मे सजोयी जाएँ। हम उन यथार्थ और स्वत स्फूर्त प्रवृत्तियो को समझते है, जिन्होने विभिन्न धार्मिक विश्वासो को रूप दिया। हम मानवीय प्रेम के उस स्पर्श, करुणा और सहानुभूति पर जोर देते है, जो धार्मिक आस्थाओ की कृतियो से भरी पडी है। धार्मिक आयाम के अतिरिक्त मनुष्य के लिए कोई भविष्य नही है। धर्म की तुलनात्मक जानकारी रखने वाला कोई भी व्यक्ति अपने सम्प्रदाय के सिद्धान्त मे अनन्य आस्था नही रख । हम जिस ससार मे श्रम करते हैं, उसके साथ हमे एक स्थापित करना चाहिए। इसका अर्थ यह नही, कि हम धर्मो की लक्षणहीन एकता के लिए काम करें। हम इस भिन्नता को नही खोना चाहते, जो मूल्यवान् आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि को घेरती है। चाहे पारिवारिक जीवन मे हो, या राष्ट्रो के जीवन मे, या आध्यात्मिक जीवन मे, यह भेदो को एक साथ मिलाती है, जिससे कि प्रत्येक की सत्यनिष्ठा बनी रह सके। एकता एक तीव्र यथार्थ होना चाहिए, मात्र मुहावरा नही। मनुष्य अपने को भविष्य के सभी अनुभवो के लिए खोल देता है। प्रयोगात्मक धर्म ही भविष्य का धर्म है। धार्मिक ससार का उत्साह इसी ओर जा रहा है।"[1]

"वर्तमान युग मे धर्म के नाम पर अनेक विवाद चल रहे हैं, अनेक प्रकार के सघर्ष सामने आ रहे है। ऐसी बात नही है कि अभी वर्तमान मे ही यह विवाद और सघर्ष उभर आए है, प्राचीन और बहुत प्राचीन काल से ही धर्म एक विवादास्पद प्रश्न रहा है। धर्म के स्वरूप को समझने मे कुछ भूलें हुई है।

मूल प्रश्न यह है कि धर्म क्या है ? अन्तर् मे जो पवित्र भाव-तरगें उठती हैं, चेतना की निमल धारा वहती है, मानम मे शुद्ध सस्कारो का एक प्रवाह है,

---

1 डॉ० राधाकृष्णन कृत 'आधुनिक युग में धर्म'—पृ० ९४–९५ ।

वैदिक परम्परा के वेद

वेद, जिन और बुद्ध—भारत की परम्परा तथा भारत की सस्कृति के मूल-स्रोत है। हिन्दू धर्म के विश्वास के अनुसार वेद ईश्वर की वाणी है। वेदो का उपदेष्टा कोई व्यक्ति विशेष नही था, अपितु स्वय ईश्वर ने ही उनका उपदेश दिया था। मूल मे वेद तीन थे। अत उसको वेदत्रयी कहा गया। आगे चलकर अथर्ववेद को मिला कर चार वेद हो गए। वेद की विशेष व्याख्या ब्राह्मण ग्रन्थ और आरण्यक ग्रन्थ है, यहाँ तक कर्मकाड की मुख्यता है। उपनिषदो मे ज्ञानकाड को प्रधानता है। उपनिषद् वेदो का अन्तिम भाग होने से वेदान्त कहा जाता है। वेदो को प्रमाण मानकर स्मृति-शास्त्र तथा सूत्र-साहित्य की रचना की गई। मूल मे इनके वेद होने से ही ये प्रमाणित हैं। वैदिक परम्परा का जितना भी साहित्य-विस्तार है, वह सब वेद-मूलक है। वेद और उसका परिवार, सस्कृत भाषा मे है। अत वैदिक धर्म के विचारो की अभिव्यक्ति स भाषा के माध्यम से ही हुई है।

की वाणी त्रिपिटक

बुद्ध ने अपने जीवन काल मे अपने भक्तो को जो उपदेश दिया था, त्रिपिटक उसी का सकलन है। बुद्ध की वाणी को त्रिपिटक कहा है। बौद्ध परम्परा के विचार और समस्त विश्वासो का मूल त्रिपिटक है। पिटक तीन हैं—सुत्त पिटक, विनय पिटक और अभिधम्म पिटक। सुत्त पिटक मे बुद्ध के उपदेश हैं। विनय पिटक मे आचार है और अभिधम्म पिटक मे तत्त्व-विवेचन है। बौद्ध परम्परा का साहित्य भी विशाल है, परन्तु पिटको मे बौद्ध धर्म के विचारो का सम्पूर्ण सार आ है। अत बौद्ध विचारो का एव विश्वासो का मूल केन्द्र त्रिपिटक है। बुद्ध ने उपदेश भगवान् महावीर की तरह उस युग की जन-भाषा मे दिया था। बुद्ध ने जिस भाषा मे उपदेश दिया, उसको पाली कहते है। अत पिटको की भाषा पाली भाषा है।

महावीर की वाणी

'जिन' की वाणी मे, 'जिन' के उपदेश मे, जिसको विश्वास है, वह जैन है। राग और द्वेष के विजेता को 'जिन' कहते है। भगवान् महावीर ने राग और द्वेष पर विजय प्राप्त की थी, अत वे जिन थे, तीर्थङ्कर थे। तीर्थङ्कर की वाणी को जैन-परम्परा मे आगम कहते हैं। भगवान् महावीर के समग्र विचार और विश्वास तथा सम्पूर्ण आचारो का सग्रह जिसमे हो, उसको वाणी कहते है। भगवान् ने अपना उपदेश उस युग की जन-भाषा मे, जन-बोली मे दिया था। जिस भाषा मे महावीर ने अपने विश्वास, अपने विचार और अपने आचार पर , उस भाषा को अर्द्ध-मागधी कहते हैं। अर्द्ध-मागधी को देववाणी भी कहते है। जैन-सस्कृति

तथा जैन-परम्परा के मूल विचारो का और आचारो का मूल स्रोत -वाङ्मय है। जैन-परम्परा का साहित्य बहुत विशाल है। , , अपभ्रंश, गुजराती, हिन्दी, मराठी, और अन्य प्रान्तीय भाषाओ मे भी विराट् साहित्य लिखा गया है। यहाँ दिशामात्र दर्शन है।

विषय प्रतिपादन

आगमो मे धर्म, दर्शन, सस्कृति, तत्त्व, गणित, ज्योतिष, खगोल, भूगोल और इतिहास तथा समाज—सभी के विषय यथा-प्रसग आ जाते हैं। दशवैकालिक एव आचाराग मे मुख्य रूप से साधु के आचार का वर्णन है। सूत्रकृताग मे दार्शनिक विचारो का गहरा है। और मे आत्मा, कर्म, इन्द्रिय, शरीर, भूगोल, खगोल, प्रमाण, नय और निक्षेप आदि का वर्णन है। ी मे मुख्यरूप से गौतम गणधर एव भगवान् महावीर के प्रश्नोत्तर है। मे विविध विषयो पर और हैं। दशा मे दश श्रावको के जीवन का सुन्दर वर्णन है। अन्तकृत् और अनुत्तरोपपातिक मे साधको के त्याग एव तप का बडा सजीव चित्रण है। - मे पाँच और पाँच सवर का सुन्दर वर्णन किया है। विपाक मे कथाओ पुण्य और पाप का फल गया है। उत्तराध्ययन मे अध्यात्म-उपदेश दिया गया है। नन्दी मे पाँच ज्ञान का विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। अनुयोग द्वार मे नय एव का वर्णन है। छेद सूत्रो मे उत्सर्ग एव का वर्णन है। राजप्रश्नीय मे राजा प्रदेशी और केशीकुमार का र -सवाद सजीव एव मधुर है। मे तत्त्व-चिन्तन गम्भीर, पर बहुत ही व्यवस्थित है। आगमो मे सर्वत्र जीवन-स्पर्शी विचारो का प्रवाह परिलक्षित होता है।

आगमों को

-प्रामाण्य के विषय मे एक मत नही हैं। श्वेताम्बर-मूर्तिपूजक परम्परा ११ अग, १२ उपाग, ४ मूल, २ चूलिका सूत्र, ६ छेद, १० प्रकीर्णक—इस ४५ आगमो को मानती है। इनके अतिरिक्त निर्युक्ति, , चूर्णि और टीका—इन सबको भी मानती है, और के ही इनमे भी रखती है। श्वेताम्बर स्थानकवासी परम्परा और श्वेताम्बर तेरापथी परम्परा केवल ११ अग, १२ उपाग, ४ मूल, ४ छेद, १ —इस ३२ आगमो को प्रमाणभूत स्वीकार करती है, शेष आगमो को नही। इनके अतिरिक्त निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि और टीकाओ को भी सर्वांशत प्रमाणभूत स्वीकार नही करती। दिगम्बर-परम्परा उक्त आगमो को घोषित करती है। उसकी मान्यता के अनुसार सभी आगम लुप्त हो चुके हैं, अत वह ४५ या ३२ तथा निर्युक्ति, , चूर्णि, और टीका—किसी को भी प्रमाणभूत नही मानती।

वैदिक के वेद .

वेद, जिन और बुद्ध—भारत की परम्परा तथा भारत की सस्कृति के मूल-स्रोत हैं। हिन्दू धर्म के विश्वास के अनुसार वेद ईश्वर की वाणी है। वेदो का उपदेष्टा कोई व्यक्ति विशेष नही था, अपितु स्वय ईश्वर ने ही उनका उपदेश दिया था। मूल मे वेद तीन थे। अत उसको वेदत्रयी कहा गया। आगे चलकर अथर्ववेद को मिला कर चार वेद हो गए। वेद की विशेष व्याख्या ब्राह्मण ग्रन्थ और आरण्यक ग्रन्थ है, यहाँ तक कर्मकाण्ड की मुख्यता है। उपनिषदो मे श द को प्रधानता है। उपनिषद् वेदो का अन्तिम भाग होने से वेदान्त कहा जाता है। वेदो को प्रमाण मानकर स्मृति तथा सूत्र-साहित्य की रचना की गई। मूल मे इनके वेद होने से ही ये प्रमाणित हैं। वैदिक परम्परा का जितना भी साहित्य-विस्तार है, वह सब वेद-मूलक है। वेद और उसका परिवार, भाषा मे है। अत वैदिक धर्म के विचारो की अभिव्यक्ति स भाषा के माध्यम से ही हुई है।

की वाणी त्रिपिटक

ने अपने जीवन काल मे अपने भक्तो को जो उपदेश दिया था, त्रिपिटक उसी का सकलन है। बुद्ध की वाणी को त्रिपिटक कहा है। बौद्ध परम्परा के विचार और विश्वासो का मूल त्रिपिटक है। पिटक तीन हैं—सुत्त पिटक, विनय पिटक और अभिधम्म पिटक। सुत्त पिटक मे के उपदेश हैं। विनय पिटक मे आचार है और अभिधम्म पिटक मे तत्त्व-विवेचन है। बौद्ध परम्परा का साहित्य भी विशाल है, परन्तु पिटको मे बौद्ध धर्म के विचारो का सम्पूर्ण सार आ है। अत बौद्ध विचारो का एव विश्वासो का मूल केन्द्र त्रिपिटक है। बुद्ध ने उपदेश भगवान् महावीर की तरह उस युग की जन-भाषा मे दिया था। बुद्ध ने जिस भाषा मे उपदेश दिया, उसको पाली कहते हैं। अत पिटको की भाषा पाली भाषा है।

महावीर की वाणी

'जिन' की वाणी मे, 'जिन' के उपदेश मे, जिसको विश्वास है, वह जैन है। राग और द्वेष के विजेता को 'जिन' कहते हैं। भगवान् महावीर ने राग और द्वेष पर विजय प्राप्त की थी, अत वे जिन थे, तीर्थङ्कर थे। तीर्थङ्कर की वाणी को जैन-परम्परा मे कहते हैं। भगवान् महावीर के विचार और विश्वास तथा सम्पूर्ण आचारो का सग्रह जिसमे हो, उसको वाणी कहते है। भगवान् ने अपना उपदेश उस युग की जन-भाषा मे, जन-बोली मे दिया था। जिस भाषा मे महावीर ने अपने विश्वास, अपने विचार और अपने आचार पर , उस भाषा को अर्द्ध-मागधी कहते हैं। अर्द्ध-मागधी को देववाणी भी कहते हैं। जैन-सस्कृति

तथा जैन-परम्परा के मूल विचारो का और आचारो का मूल स्रोत -वाङ्मय है। जैन-परम्परा का साहित्य बहुत विशाल है। प्राकृत, सस्कृत, अपभ्रश, गुजराती, हिन्दी, मराठी, और अन्य प्रान्तीय भाषाओ मे भी विराट् साहित्य लिखा गया है। यहाँ दिशामात्र दर्शन है।

विषय प्रतिपादन

आगमो मे धर्म, दर्शन, सस्कृति, तत्त्व, गणित, ज्योतिष, खगोल, भूगोल और इतिहास तथा समाज—सभी प्रकार के विषय यथा- आ जाते है। दशवैकालिक एव आचाराग मे मुख्य रूप से साधु के आचार का वर्णन है। सूत्रकृताग मे दार्शनिक विचारो का गहरा मथन है। स्थानाग और मे , कर्म, इन्द्रिय, शरीर, भूगोल, खगोल, प्रमाण, नय और निक्षेप आदि का वर्णन है। ी मे मुख्यरूप से गौतम गणधर एव भगवान् महावीर के प्रश्नोत्तर हैं। मे विविध विषयो पर और दृष्टान्त हैं। दशा मे दश श्रावको के जीवन का सुन्दर वर्णन है। और अनुत्तरोपपातिक मे साधको के त्याग एव तप का बडा सजीव चित्रण है। मे पाँच आश्रव और पाँच सवर का सुन्दर वर्णन किया है। विपाक मे कथाओ पुण्य और पाप का फल बताया गया है। उत्तराध्ययन मे अध्यात्म-उपदेश दिया गया है। नन्दी मे पाँच ज्ञान का विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। अनुयोग द्वार मे नय एव का वर्णन है। छेद सूत्रो मे उत्सर्ग एव का वर्णन है। राजप्रश्नीय मे राजा प्रदेशी और केशीकुमार श्रमण का -सवाद सजीव एव मधुर है। मे तत्त्व-चिन्तन गम्भीर, पर बहुत ही व्यवस्थित है। आगमो मे सर्वत्र जीवन-स्पर्शी विचारो का प्रवाह परिलक्षित होता है।

आगमो की

-प्रामाण्य के विषय मे एक मत नही हैं। श्वेताम्बर-मूर्तिपूजक परम्परा ११ अग, १२ उपाग, ४ मूल, २ चूलिका सूत्र, ६ छेद, १० प्रकीर्णक—इस ४५ आगमो को मानती है। इनके अतिरिक्त निर्युक्ति, , चूर्णि और टीका—इन सबको भी मानती है, और के ही इनमे भी रखती है। श्वेताम्बर स्थानकवासी परम्परा और श्वेताम्बर तेरापथी परम्परा केवल ११ अग, १२ उपाग, ४ मूल, ४ छेद, १ —इस ३२ आगमो को प्रमाणभूत स्वीकार करती है, शेष आगमो को नही। इनके अतिरिक्त निर्युक्ति, , चूर्णि और टीकाओ को भी सर्वांशत प्रमाणभूत स्वीकार नही करती। दिगम्बर-परम्परा उक्त आगमो को घोषित करती है। उसकी मान्यता के अनुसार सभी लुप्त हो चुके हैं, अत वह ४५ या ३२ तथा निर्युक्ति, , चूर्णि, और टीका—किसी को भी प्रमाणभूत नही मानती।

दिगम्बर-आगम

दिगम्बर-परम्परा का विश्वास है कि वीर-निर्वाण के बाद श्रुत का क्रम से ह्रास होता गया। यहाँ तक ह्रास हुआ कि वीर-निर्वाण के ६८३ वर्ष के बाद कोई भी अगधर अथवा पूर्वधर नहीं रहा। अग और पूर्व के अशधर आचार्य अवश्य हुए है। अग और पूर्व के अशो के ज्ञाता आचार्यो की परम्परा मे होने वाले पुष्प दत और भूतवलि आचार्यो ने षट् खडागम की रचना द्वितीय अग्राह्यणीय पूर्व के अश के आधार पर की। और आचार्य गुणधर ने पाँचवें पूर्व ज्ञान-प्रवाद के अश के आधार पर पाहुड की रचना की। भूतबलि आचार्य ने महाबध की रचना की। उक्त आगमो का विषय मुख्य रूप मे जीव और कर्म है। बाद मे उक्त ग्रन्थो पर आचार्य वीरसेन ने धवला और जय धवला टीकाएँ की। ये टोकाएँ भी उक्त परम्परा को मान्य हैं। दिगम्बर परम्परा का सम्पूर्ण साहित्य आचार्यो द्वारा रचित है। आचार्य कुन्द-कुन्द के प्रणीत ग्रन्थ—समयसार, प्रवचनसार, पचास्तिकायसार और नियमसार आदि भी आगमवत् मान्य है। आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती के ग्रन्थ—गोम्मट सार, लब्धिसार, और द्रव्य सग्रह आदि भी उतने ही प्रमाणभूत और मान्य हैं।

उत्त सूत्र

जैन-परम्परा की यह मान्यता रही है कि प्रस्तुत मे भगवान् महावीर की अन्तिम देशना का सकलन है। आचार्यो की यह मान्यता है कि भगवान् महावीर ने निर्वाण प्राप्ति के पहले ५५ अध्ययन दु ख-विपाक के और ५५ सुख-विपाक के कहे थे, उसके बाद बिना पूछे उत्तराध्ययन के ३६ अध्ययनो का वर्णन किया। इसलिए इसे अपुट्ठ वागरणा—अपृष्ट देशना कहते हैं। ऐसा भी कहा जाता है कि ३६ समाप्त करके भगवान् मरुदेवी माता का प्रधान नामक ३७वें का वर्णन करते हुए अन्तर्मुहूर्त का शैलेशीकरण करके सिद्ध-बुद्ध एव मुक्त हो गए। आचार्य भगवान् की अन्तिम देशना इसे नही मानते। प्रस्तुत आगम के वर्णन को देखते हुए ऐसा लगता है कि स्थविरो ने इसे बाद मे सग्रह किया है। कुछ ऐसे हैं, जिनमे प्रत्येक बुद्ध एव अन्य विशिष्ट श्रमणो के द्वारा दिए गए उपदेश एव का सग्रह है। आचार्य भद्रबाहु ने भी इस बात को स्वीकार किया है कि इसमे के अध्ययन अग साहित्य से लिए है। कुछ जिन-भाषित है, और कुछ प्रत्येक बुद्ध श्रमणो के रूप मे है।[3] जो कुछ भी हो, इतना तो मानना ही पडेगा कि प्रस्तुत भाव, भाषा और शैली की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इसमे सरल एव सरस पद्यो मे और कही पर गद्य मे भी धर्म, दर्शन, अध्यात्म, योग और ध्यान का सुन्दर निरूपण किया गया

---

3 निर्युक्ति—गाथा ४।

है। प्रस्तुत आगम मे ३६ अध्ययन है—१ विनय, २ परीषह, ३ चतुरंगीय, ४ असंस्कृत ५ मरण, ६ क्षुल्लक निर्ग्रन्थीय, ७ औरभ्रीय, ८ कापिलीय, ९ नमिपव्रज्जा, १० द्रुमपत्र, ११ बहुश्रुत, १२ हरिकेशीय, १३ चित्त-सभूति, १४ इषुकारीय, १५ सभिक्षुक, १६ ब्रह्मचर्यसमाधि, १७ पाप-श्रमण, १८ सयतीय १९ मृगापुत्रीय, २०. महानिर्ग्रन्थीय, २१ समुद्रपालीय, २२ रथनेमीय, २३ केशी गौतमीय, २४ प्रवचन-माता, २५ यज्ञीय, २६ समाचारी, २७ ीय, २८ मोक्ष मार्ग, २९ सम्यकत्व पराक्रम, ३० तपोमार्ग, ३१ चरण-विधि, ३२ प्रमाद स्थान, ३३ कर्म-प्रकृति, ३४ लेश्या, ३५ अनगार मार्ग, और ३६ जीवाजीव-विभक्ति ।

का सदेश .

बहुत नही बोलना चाहिए, अपने आप पर भी कभी क्रोध न करो, ससार मे अदीन भाव से रहना चाहिए। जीवन मे शकाओ से ग्रस्त—भीत होकर मत चलो। कृत-कर्मो का फल भोगे बिना मुक्त नही है। मनुष्य धन के द्वारा अपनी रक्षा नही कर , न इस लोक मे न परलोक मे। इच्छाओ को रोकने से ही मोक्ष होता है। एक अपने को जीत लेने पर, सबको जीत लिया जाता है। इच्छाएँ के समान अनन्त हैं। जरा मनुष्य की सुन्दरता को कर देती है। जैसे वृक्ष के फल क्षीण हो जाने पर पक्षी उसे छोडकर चले जाते हैं, वैसे ही पुरुष का पुण्य क्षीण होने पर भोग साधन उसे छोड देते है। कर लेने मात्र से वेद रक्षा नही कर सकते। ससार के विषय-भोग क्षण भर के लिए देते है, किन्तु बदले मे चिरकाल तक दुखदायी होते हैं। सदा हितकारी सत्य वचन बोलना चाहिए। जो लाभ-अलाभ, सुख-दुख, जीवन-मरण, निन्दा- और मान-अपमान मे समभाव रखता है, वही वस्तुत मुनि है। तू स्वय है, तो दूसरे का नाथ कैसे हो है? अपनी शक्ति को ठीक तरह पहचान कर यथोचित कर्त्तव्य का करते हुए राष्ट्र मे विचरण कीजिए। ही स्वय का एक शत्रु है। की स्वय की प्रज्ञा ही पर धर्म की समीक्षा कर सकती है। ब्राह्मण वही है जो ससार मे रहकर भी काम भोगो से निर्लिप्त रहता है, जैसे कि जल से लिप्त रहकर भी उसमे लिप्त नही होता। से श्रमण, ब्रह्मचर्य से ब्राह्मण, ज्ञान से मुनि और तपस्या से तापस कहलाता है। कर्म से ही ण होता है, कर्म से ही क्षत्रिय, कर्म से ही वैश्य होता है, और कर्म से ही शूद्र। सब भावो का करने है। वस्तुस्वरूप को यथार्थ रूप से जानने वाले 'जिन' भगवान् ने ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप को मोक्ष का मार्ग बताया है। के मे चारित्र नही हो । ज्ञान के समग्र से, और मोह के विसर्जन से, राग एव द्वेष के क्षय से, आत्मा एकान्त सुख-स्वरूप मोक्ष को प्राप्त है। राग और द्वेष—ये दो कर्म के बीज है।

कर्म मोह से होता है। कर्म ही जन्म-मरण का मूल है। और जन्म-मरण ही वस्तुत दु ख है। देवताओ सहित ससार मे जो भी दु ख है, वे सब कामासक्ति के ही कारण है। जो मनोज्ञ और अमनोज्ञ शब्द आदि विषयो मे सम रहता है, उस की कोई नही है, और न कोई ही है।

नियुक्ति

नियुक्ति, यह आगमो पर सबसे पहली और प्राचीन मानी जाती है। नियुक्ति भाषा मे और पद्यमयी रचना है। सूत्र मे कथित अर्थ, जिसमे उपनिबद्ध हो, उसे नियुक्ति कहा गया है। आचार्य हरिभद्र ने नियुक्ति की परिभाषा इस प्रकार की है—"नियुक्तानामेव सूत्रार्थानाम् युक्ति—परिपाट्या योजनम्"। नियुक्ति शब्द की और दोनो परिभाषाओ से यही फलितार्थ होता है कि सूत्र मे कथित एव निश्चित अर्थ को नियुक्ति है। नियुक्ति की उपयोगिता यह है कि सक्षिप्त और होने के कारण यह साहित्य सुगमता के साथ किया जा था। नियुक्ति की भाषा और रचना छन्द मे होने से इसमे सहज ही और मधुरता की अभिव्यक्ति होती है। नियुक्ति के प्रणेता भद्रबाहु माने जाते है। कौन से भद्रबाहु—प्रथम द्वितीय? इस विषय मे सभी विद्वान् एक मत नही हैं। परन्तु इतिहासकारो का अभिमत है कि नियुक्ति—रचना का प्रारम्भ तो भद्रबाहु से ही हो है। नियुक्तियो का सम्वत् ४०० से ६०० तक माना गया है। किन्तु ठीक-ठीक -निर्णय अभी तक नही हो पाया है।

नियुक्ति मे 'उत्तर' और 'अध्ययन' शब्दो की की है। श्रुत और स्कध को समझाया गया है। गलि और आकीर्ण का देकर शिष्यो की दशा का वर्णन किया है। कपिल और नमि का उल्लेख है। इसमे शिक्षाप्रद कथानको की बहुलता है। मरण की के पर १७ के मरण का उल्लेख किया गया है। इस नियुक्ति मे गन्धार , स्थूलभद्र, , पुत्र और करकण्डु आदि का जीवन वृत्तान्त भी है। निह्नवो का वर्णन है। राजगृह के वैभार आदि पर्वतो का उल्लेख भी होता है। इस नियुक्ति मे धर्म, दर्शन, अध्यात्मयोग एव के - मे भी उल्लेख हैं।

भी आगमो की है। परन्तु नियुक्ति की अपेक्षा विस्तार मे होता है। भाष्यो की भाषा होती है, और नियुक्ति की तरह भी पद्य मे होते हैं। भाष्यकारो मे गणि और जिनभद्र विशेष रूप से प्रसिद्ध है। विद्वान् विक्रम की ७वी शती मानते है।

की गणना भी मूल सूत्र मे है । इस पर शान्ति सूरि ने प्राकृत मे एक विस्तृत टीका लिखी है । इस पर एक लघुभाष्य भी लिखा गया है, जिसकी गाथाएँ इनकी निर्युक्ति मे मिश्रित हो गई हैं । इसमे बोटिक की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है । पाँच प्रकार के निर्ग्रंथो का स्वरूप बतलाया गया है । वे पाँच भेद इस प्रकार से है—पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक । प्रसगवश अन्य वर्णन भी किए गए हैं, जो बहुत सुन्दर हैं ।

चूर्णि

निर्युक्ति और भाष्य की भाँति चूर्णि भी आगमो की व्याख्या है । परन्तु यह पद्य न होकर गद्य मे होती है । केवल प्राकृत मे न होकर प्राकृत और सस्कृत—दोनो मे होती है । चूर्णियो की भाषा सरल और सुबोध्य होती है । चूर्णियो का रचनासमय लगभग ७ वी-८वी शती है । चूर्णिकारो मे जिनदास महत्तर का नाम विशेष उल्लेखनीय है । इनका समय विक्रम की ७ वी शती माना जाता है । चूर्णिकारो मे सिद्धसेन सूरी, प्रलम्ब सूरी और अगस्त्यसेन सूरी का नाम विशेष उल्लेखनीय है । उत्तराध्ययन-चूर्णि जिनदास महत्तर की एक सुन्दर कृति है । यह बहुत विस्तृत नही है । सस्कृत और प्राकृत मिश्रित भाषा होने से समझने मे अत्यन्त सुगम है । कही-कही प्रसगवश इसमे तत्त्व-चर्चा और लोक-चर्चा भी उपलब्ध होती है ।

टीका

युग मे मूल आगम, निर्युक्ति और भाष्यो का ग्रन्थन हुआ । चूर्णियो मे प्रधानता की होने पर भी उनमे सस्कृत का प्रवेश हो चुका था । सस्कृत युग मे प्रधानरूप से टीकाओ की रचना हुई । आगम-साहित्य मे चूर्णि-युग के बाद मे सस्कृत-टीकाओ का युग आया । टीका के अर्थ मे इतने शब्दो का प्रयोग होता रहा है—निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, टीका, विवृति, वृत्ति, विवरण, विवेचना, अवचूरि, अवचूर्णि, दीपिका, व्याख्या, पजिका, विभाषा और । सस्कृत टीकाकारो मे आचार्य हरिभद्र का नाम उल्लेखनीय है । इन्होने चूर्णियो के आधार से टीका की । हरिभद्र के बाद मे आचार्य शीलाक ने सस्कृत टीकाएँ लिखी । आचाराग और सूत्र कृताग पर इनकी विस्तृत और महत्त्वपूर्ण टीकाएँ हैं, जिनमे दार्शनिकता की प्रधानता है । मलधारी हेमचन्द्र भी प्रसिद्ध टीकाकार है । परन्तु टीकाकारो मे सबसे विशिष्ट स्थान आचार्य मलयगिरि का है । आचार्य शान्ति सूरी ने उत्तराध्ययन पर विस्तृत टीका लिखी है । यह और सस्कृत दोनो मे है । परन्तु की प्रधानता है, अत इसका नाम 'पाइय' टीका प्रसिद्ध है । इसमे धर्म और दर्शन का अति सूक्ष्म विवेचन हुआ है । आगमो के टीकाकारो मे देव सूरी भी एक सुप्रसिद्ध टीकाकार है ।

अभयदेव सूरी को नवागी वृत्तिकार कहा जाता है। उत्तर सूत्र पर जिन आचार्यों ने सस्कृत टीकाएँ लिखी है, उनमे मुख्य ये है—वादिवेताल शान्तिसूरी, नेमिचन्द्र, कमलसयम, लक्ष्मी वल्लभ, भावविजय, हरिभद्र, मलयगिरि, तिलकाचार्य, कोट्याचार्य, नमि साधु और माणिक्य शेखर। जैन आगमो मे सबसे अधिक टीकाएँ उत्तराध्ययन पर ही लिखी गई है। यही कारण है कि उत्तराध्ययन सूत्र जैन-परपरा मे अत्यन्त प्रिय और अत्यन्त प्रसिद्ध रहा है।

गीता, ,

जिस प्रकार उपनिषदो का सार गीता मे सचित कर दिया गया है, जिस प्रकार समस्त बुद्धवाणी का मार धम्मपद मे सगृहीत कर दिया गया है, उसी प्रकार भगवान् महावीर की वाणी का समग्र निस्यन्द एव सार उत्तराध्ययन सूत्र मे गुम्फित किया गया है। भगवान् महावीर के विचार, विश्वास और आचार का एक भी दृष्टिकोण इस प्रकार का नही है, जो उत्तराध्ययन सूत्र मे न आ गया हो। इसमे धर्म-कथानक भी है, उपदेश भी हैं, त्याग एव वैराग्य की धाराएँ भी प्रवाहित हो रही है। धर्म और दर्शन का सुन्दर इसमे भली-भाँति परिलक्षित होता है। ज्ञान, दर्शन और चारित्र-तीनो का सुन्दर सगम हुआ है।

प्रस्तुत-

उत्तराध्ययन सूत्र का प्रस्तुत- ही सुन्दर है। इसमे विशेषता यह है कि एक ओर मूल है, और ठीक उसके सामने अनुवाद दिया गया है। स्वाध्याय प्रेमी मूल पाठ कर है, और अर्थ जानने वाला व्यक्ति सीधा अर्थ भी पढ है। अनुवाद की भाषा और शैली एव सुन्दर है। महाविदुषी दर्शनाचार्य श्री चन्दना जी ने इसके अनुवादन एव लेखन मे खूब ही परिश्रम किया है, इसमे जरा भी सन्देह नही है। उनकी दार्शनिक बुद्धि ने यथाप्रसग और शब्दो के मार्मिक अर्थ दिए है। है कि साध्वी समाज मे यह पहला है कि एक साध्वी ने सूत्र का सुन्दर सम्पादन प्रस्तुत किया है। अभी तक चन्दना जी वक्तृत्व कला मे ही प्रसिद्ध थी, पर इस से लेखन के क्षेत्र मे भी वे प्रवेश पा रही हैं।

अन्तर् `बोल

— अमरमुनि

भारतीय वाङ्मय की प्रमुख चिन्तन धारा, त्रिपथगा गगा की भाँति वैदिक, जैन और बौद्ध-परम्परा के रूप मे, तीन धाराओ मे प्रवाहित है। भारतीय तत्त्व द्रष्टा ऋषि-मुनियो एव अध्येता विद्वानो का पुराकालीन वह तत्त्व ज्ञान, जिसने हजारो वर्षो से भारतीय जनजीवन को आध्यात्मिक एव नैतिक आदर्शों की तथा आत्मोत्थान एव ोत्थान के कर्तव्य कर्मों की प्रेरणा दी है, वह इन्ही तीनो परम्पराओ के साहित्य मे है। भारत की ीन पवित्र एव निर्मल आत्मा के दर्शन यदि हम आज कर सकते हैं, तो यही कर सकते हैं, अन्यत्र नही।

वैदिक ब्राह्मणधर्म मे वेदो का तथा बौद्धधर्म मे त्रिपिटक का जो गौरवशाली महत्त्वपूर्ण है, वही जैन धर्म मे आगमसाहित्य का है। समवायाग सूत्र मे आचाराग आदि १२ अग शास्त्रो का तो 'गणिपिटक' के नाम से गौरवपूर्ण उल्लेख हुआ है। समवायाग सूत्र के टीकाकार आचार्य अभयदेव ने 'गणपिटक' का अर्थ किया है—"गणी अर्थात् गणधर आचार्यों का, पिटक अर्थात् धर्मरूप निधि के रखने का पात्र।" अर्थ है—अग साहित्य मे धर्म का विशाल ज्ञानकोष सुरक्षित है। अगशास्त्रो से इतर आगमो मे भी 'गणिपिटक' का उक्त अर्थ समाहित है। उनमे भी जैन तत्त्व ज्ञान का वह कोष है, जो के अन्तरग मे तरगित होने वाली जिज्ञासाओ का योग्य समाधान प्रस्तुत करता है।

और अगबाह्य

जैन साहित्य का सर्वप्रथम 'अग' और 'अगबाह्यरूप' मे दो प्रकार से विभाजन हुआ है।[1] जिनदास महत्तरकृत नन्दीचूर्णि, तत्त्वार्थराजवार्तिक आदि के अनुसार अग वे है, जो' ' मे जिनभाषित है तथा शब्दसूत्र के रूप मे गणधरो द्वारा ग्रथित है।[2] तीर्थंकर महावीर ने आचारांग आदि शास्त्रो के नामोल्लेख

1 नन्दीसूत्र, तत्त्वार्थसूत्र आदि।

2 भगवदर्हन्सर्वज्ञहिमवन्निर्गतवागगङ्गार्थविमलसलिलप्रक्षालितान्त करणै बुद्ध्यतिशर्द्धियुक्तैर्गणधरैरनुस्मृतग्रन्थरचनम् आचारादिद्वादशविधमङ्गप्रविष्टमित्युच्यते।
—तत्त्वार्थवार्तिक १।२०।१२

के साथ न कोई एक कहा है, न लिखा है। उन्होने तो भव्यात्माओ के बोधार्थ केवल धर्मदेशनाएँ दी, आत्महितकर तत्त्वज्ञान का मर्म , और बस कृतकृत्य हो गए। भगवान द्वारा -समय पर दिए गए धर्मोपदेशो का जो अश गणधरो की स्मृति मे रहा, उसे उन्होने सकलनकर सूत्रवद्ध किया, और अपने शिष्यो को कराया। लिखा उन्होने भी नही।

ह्य शास्त्र वे हैं, जो बाद मे कालानुसार मन्दबुद्धि होते जाते शिष्यो के हितार्थ परम्परागत अगसाहित्य के आधार पर स्थविरो ने सकलित किए।[3] अगबाह्य शास्त्रो की का उल्लेख आचार्य उमास्वाति ने सूत्र मे 'अनेक' कह कर किया है,[4] अर्थात् उनकी दृष्टि मे अगबाह्य शास्त्रो की अगशास्त्रो के अनुसार कोई नियत नही है।

उत्तराध्ययन सूत्र की गणना अगबाह्य शास्त्रो मे है।[5] यद्यपि कल्पसूत्र (१४६) के अनुसार उक्त आगम की भगवान् महावीर ने अपने निर्वाण से पूर्व अन्तिम समय मे पावापुरी मे की थी। इस दृष्टि से जिनभाषित होने के इसका अगशास्त्रो मे होना चाहिए था, अगबाह्यो मे नही। सूत्र की अन्तिम (३६।२६८) गाथा को भी कतिपय टीकाकार इसी भाव मे अवतरित करते है कि - का करते हुए भगवान् महावीर परिनिर्वाण को हुए। इस गुत्थी को सुलझाना काफी कठिन है। फिर भी इतना कह हूँ, कि के अशो की भगवान् महावीर ने प्ररूपणा की थी, बाद मे स्थविरो ने और अश जोडकर प्रस्तुत का उत्तराध्ययन के नाम से किया। वर्तमान मे उत्तराध्ययन का जो रूप है, उस पर से ऐसा भी है कि अश पीछे से सकलित हुआ है। साक्षी के लिए केशिगौतमीय, पराक्रम आदि सूक्ष्मता से देखे जा सकते है। केशिगौतमीय मे तीर्थंकर महावीर का भक्ति के साथ गौरवपूर्ण उल्लेख है, जो स्वय भगवान् महावीर के अपने ही श्री मुख से सुसगत नही है। सम्यक्त्वपराक्रम मे प्रश्नोत्तरशैली है, जो परिनिर्वाण के समय की वर्णित स्थिति से घटित नही होती है। दूसरे

---

3 यद् गणधरशिष्यप्रशिष्यैरारातीयैरधिगतश्रुतार्थतत्त्वै कालदोषादल्पमेधायुर्बलाना प्राणिनामनुग्रहार्थमुपनिबद्ध सक्षिप्ताङ्गार्थवचनविन्यास तदङ्गबाह्यम्।
—तत्त्वार्थवार्तिक १।२०।१३

4 श्रुत मतिपूर्व द्व्यनेकद्वादशभेदम्-१।२०

5 नन्दीसूत्र, तत्त्वार्थवार्तिक आदि।

कल्पसूत्रकार ने उत्तराध्ययन को 'अपृष्ट व्याकरण' अर्थात् विना किसी के पूछे स्वत
किया हुआ है।[6] अन्य अध्ययनो के भी अश इसी प्रकार बाद
मे सकलित किए गए प्रतीत होते है। पूर्वोक्त तथ्यो के आधार पर गणधरो द्वारा
सकलित न होकर, उक्त , पश्चाद्भावी स्थविरो द्वारा सकलित हुआ है, अत
उसे ो मे नही, अगबाह्य ो मे स्थान मिला है। किन्तु इसका यह अर्थ
नही कि उत्तराध्ययन सूत्र मे भगवान् महावीर का धर्मोपदेश नही है। काफी मात्रा मे
उन्ही का धर्मोपदेश है, जो प्रदीप्तिमान है, और की अन्तरात्मा
को स्पर्श है। वीतरागवाणी का तेज छिपा नही रहता है। वह महाकाल के
अवरोधो को तोडता हुआ आज भी प्रकाशमान है, भव्यात्माओ का साधनापथ
उजागर कर रहा है।

आगमसाहित्य की तीन एँ

साहित्य की सुरक्षा का प्रश्न से ही काफी जटिल रहा है।
अध्येता मुनि आगमो को अर्थात् स्मृति मे रखते थे, लिखते नही थे। लिखने
और रखने मे उन्हे हिंसा आदि का दोष था[7] और आदि के
सग्रह से परिग्रह आदि का दोष भी ? इसीलिए गुरुशिष्य परम्परा से श्रुत होने
के साहित्य को 'श्रुत' कहा है। श्रुत अर्थात् सुना गया,
पुस्तक मे देखकर पढा नही गया। वेद भी पहले श्रुत परम्परा से ही चलते आए
थे, लिखे नही गए थे। अत उन्हे भी 'श्रुति' कहा है। परन्तु श्रुत होने पर भी
वेदो का शब्द पाठ, पाठ की अपेक्षा अधिक सुरक्षित रहा। इसका कारण एक
तो यह है कि वेदपाठी ब्राह्मण एक जगह रहता था, अत वह निरन्तर अभ्यास मे,
उच्चारण की शुद्धता मे लगा रहता था। दूसरे वेदमत्रो का प्रयोग यज्ञयागादि क्रिया
काण्डो मे प्राय निरन्तर होता रहता था। आगमो के लिए यह स्थिति नही थी। एक
तो जैन भिक्षु भ्रमणशील था। एक जगह अधिक रहना, उसके लिए निषिद्ध था। दूसरे
लोकजीवनसम्बन्धी सामाजिक क्रियाकाण्डो मे कोई उपयोग भी नही था।

---

6 छत्तीस च अपुट्ठ वागरणाइ—कल्पसूत्र १४६

7 (क) पोत्थएसु घेप्पतएसु असजमो भवइ। —दशवैकालिक चूर्णि पृ० २१

(ख) जत्तियमेत्ता वारा, मु चति बधति य जत्तिया वारा।
जति अक्खराणि लिहति व, तति लहुगा ज च आवज्जे॥

—निशीथ भाष्य, ४००४

ब्राह्मणो की तरह श्रमण, भाषा की पवित्रता को भी कोई महत्त्व न देते थे। उनका लक्ष्य अर्थ था, शब्द नही। यही कारण है कि जहाँ ब्राह्मण वेद के शब्दो को नित्य मानता रहा है, वहाँ श्रमण आगमो के शब्दो को अनित्य मानकर चला है।[8] वेदो मे शब्द-पाठ पहले है, अर्थ बाद मे है। श्रमणो के यहाँ अर्थ पहले है, शब्दपाठ बाद मे है।[9]

डा० हरिश्चन्द्र जैन ने 'अगशास्त्र के अनुसार मानव व्यक्तित्व का विकास' नामक अपने शोध ग्रन्थ मे ठीक ही लिखा है कि "ब्राह्मण के लिए वेदाध्ययन सर्वस्व था, किन्तु जैन श्रमण के लिए आचार ही सर्वस्व है। अतएव कोई मन्दबुद्धि शिष्य सम्पूर्ण श्रुत का पाठ न भी कर सके, तब भी उसके मोक्ष मे किसी भी प्रकार की रुकावट नही थी और उसका ऐहिक जीवन भी निर्बाध रूप से सदाचार के बल पर व्यतीत हो सकता था। जैन सूत्रो का दैनिक क्रियाओ मे विशेष उपयोग भी नही है। जहाँ एक सामायिक पदमात्र से भी मोक्षमार्ग सुगम हो जाने की हो, वहाँ विरले ही साधक यदि सपूर्ण श्रुतधर होने का प्रयत्न करें, तो इसमे क्या आश्चर्य।" डाक्टर साहब का उक्त कथन ऐतिहासिक सत्य के निकट है। यही कारण है कि आगमो की परम्परा बीच-बीच मे कई बार छिन्न-भिन्न होती रही। भयकर दुष्कालो के तो वह और भी विषम स्थिति मे पहुँच गई। स्मृति दुर्बलता के भी आगमो के अनेक अश अस्तव्यस्त होते गए। और जब-जब यह स्थिति आई, तो आगमो की सुरक्षा के लिए श्रुतधर आचार्यों ने युगानुसार प्रयत्न किए। बौद्ध परम्परा मे त्रिपिटिक के व्यवस्थित सकलन एव सरक्षण के लिए होनेवाली विद्वत्परिषद को सगीति कहते है, जैन परम्परा मे इस प्रकार आगमसुरक्षा के सामूहिक प्रयत्नो को वाचना कहा जाता है। ये वाचनाएँ मुख्य रूप से तीन हैं।

सर्वप्रथम पाटलिपुत्र की वाचना है, जो आचार्य भद्रबाहु स्वामी और आर्य स्थूल भद्र के निर्देशन मे हुई। चन्द्रगुप्त मौर्य के समय मे १२ वर्ष का भयकर दुष्काल पडा था। उस समय सघ बहुत अस्त-व्यस्त हो गया था। ऐसी स्थिति मे आगमो का अभ्यास कैसे चालू रह सकता था। अत दुष्काल के बाद आगमो को यथास्मृति व्यवस्थित रूप देने के लिए प्रथम वाचना का सूत्रपात हुआ।

इस वाचना मे आचाराग आदि ११ अग और बारहवें दृष्टिवाद अग के १४ पूर्वो म १० पूर्व ही शेष बच पाए थे। जैन कथानुसार एक मात्र स्थूलभद्र ही ऐसे थे, जिन्हे शब्दश १४ पूर्व का और अर्थश १० पूर्वों तक का स्पष्ट ज्ञान था।

---

8 नन्दीसूत्र, उपसहार

9 अत्थ भासइ अरहा, सुत्त गु थति गणहरा निउण। —आवश्यकनिर्युक्ति

दूसरी वाचना आचार्य स्कन्दिल के समय मे मथुरा मे हुई। माथुरी वाचना के नाम से प्रसिद्ध यह वाचना भी १२ वर्ष के भीषण दुष्काल के बाद ही हुई थी। आचार्य स्कन्दिल का पट्टधर काल मुनि श्री कल्याण विजयजी के मतानुसार वीर निर्वाण स० ८२७ से ८४० तक है। स्कन्दिल के समय मे ही दूसरी वाचना आचार्य नागार्जुन की अध्यक्षता मे, सौराष्ट्र प्रदेश के वलभी नगर मे हुई।

तीसरी वाचना भगवान् महावीर के निर्वाण से ९८० अथवा ९९३ वर्ष के लगभग देवर्द्धिगणी के नेतृत्व मे वलभी नगर मे हुई। अन यह वालभी वाचना के नाम से प्रसिद्ध है। प्रथम की दो वाचनाओ मे आगमो को स्मृति-अनुसार केवल मौखिक-रूप से व्यवस्थित ही किया गया था, उन्हे लिखा नही गया था। देवर्द्धिगणी ने ही सर्वप्रथम आगमो को लिखा, पुस्तकारूढ किया। स्मृति पर आधारित शास्त्रो मे हेर-फेर होने की जितनी अधिक सभावना है, उतनी लिखित होने पर नही रहती। अत लिखित रूप मे आगमो की व्यवस्थित सुरक्षा का यह महाप्रयत्न जैन इतिहास मे चिर अभिनन्दनीय रहेगा। वर्तमान मे आगमो का जो रूप है, वह अधिकाशत देवर्द्धिगणी के द्वारा व्यवस्थित किया गया है। उत्तरा सूत्र का परम्परागत वर्तमान मे उपलब्ध सस्करण भी देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण की वालभी वाचना का ही कृपाफल है।

के व्यावहारिक जीवन प्रयोग

उत्तराध्ययन का प्रारम्भ विनय से होता है। विनय अर्थात् शिष्टाचार। गुरुजनो का अभिभावको का अनुशासन जीवन मे कितना निर्माणकारी है, यह प्रथम मे ही मालूम हो जाता है। कैसे बोलना, कैसे बैठना, कैसे खडे होना, कैसे सीखना-समझना—इत्यादि छोटी-छोटी बातो की भी काफी गभीरता के साथ चर्चा की गई है जैसे कि कोई अनुभवी वृद्ध नन्हे बालक को कुछ बता रहा हो। वस्तुत जीवन-निर्माण की ये पहली सीढिया हैं। इनको पार किए बिना ऊपर की मजिल मे कोई कैसे पहुँच सकेगा। आज जो हम विग्रह, कलह और द्वन्द्व परिवार मे, समाज मे और राष्ट्र मे देख रहे हैं, यदि उत्तराध्ययन के प्रथम के दो, तीन अध्ययन ही निष्ठा के साथ जीवन मे उतार लें, तो धरती पर जीते जी ही स्वर्ग उतर आए। देखिए, उक्त अध्ययनो मे कितना सुन्दर कहा है—"बहुत नही बोलना चाहिए। किए को किया कहो और न किए को न किया। गलिताश्व (दुष्ट या दुर्बल घोडा) जैसे बार-बार चाबुक की मार है, ऐसे बार-बार किसी के कुछ कहते रहने और सुनने की आदत मत डालो। समय पर समय (समयोचित कर्तव्य) का आचरण करना चाहिए। दूसरो पर तो क्या, अपने आप पर भी कभी क्रोध न करो। गलती को छिपाओ नही। बिना बुलाए किसी के बीच मे न बोलो। दूसरे दमन करें, इससे तो है कि व्यक्ति स्वय ही स्वय को

अनुशासित करले। दूसरो के दोष न देखो। ज्ञान कर नम्र बनो। खाने-पीने की मात्रा का यथोचित भान रखना चाहिए। बुरे के साथ बुरा होना, बचकानापन है। नही, तो फल मिलेगा ? आज के अलाभ से ही निराशा क्यो ? मन मे दीनता न आने दो।"

उत्तराध्ययन का बन्धनमुक्ति-सन्देश

मानव मे कामना का द्वन्द्व सबसे बडा द्वन्द्व है। यह वह द्वन्द्व है, जो कभी आगे बढ जाता है तो मानव को पशु बना देता है, विक्षिप्त और पागल भी। इसके लिए उत्तराध्ययन मे वैराग्य की जो धारा प्रवाहित है, ब्रह्मचर्यसमाधि स्थान आदि अध्ययनो मे जो व्यावहारिक एव मौलिक चिन्तन है, उस का -अक्षर ऐसा है, जो के चिरबद्ध जाल को, यदि निष्ठा के साथ सक्रियता हो तो ही मे तोड कर फेंका जा है। अपेक्षा है साधना की। उत्तराध्ययन की दृष्टि मे वासना एक असमाधि है, प्रतिपक्ष मे ब्रह्मचर्य समाधि ही समुचित उत्तर है। उसके लिए को कब, कैसे सतर्क एव रहना है, यह के १६ और ३२ वें अध्ययनो से अच्छी तरह जाना जा सकता है।

के आध्यात्मिक उद्घोष

उत्तराध्ययन आध्यात्मिक है। वह जीवन की उलझी गुत्थियो को मे सुलझाता है। बाहर में जो भी द्वन्द्व, विग्रह या सघर्ष नजर मे आते हैं, उनके मूल अन्दर मे है। अत विषवृक्ष के पत्ते नोच लेने मे समस्या का सही समाधान नही है। विषवृक्ष के तो मूल को ही होगा। और वह मूल है प्राणी के अन्तर्मन का राग-द्वेष। इसी लिए उत्तराध्ययन कहता है—'शब्द, रूप, गन्ध, रस आदि का कोई अपराध नही है।[10] असली समस्या उस मन की है, जो मनोज्ञ से राग और अमनोज्ञ से द्वेष करने लगता है। शब्दादिसेनही, मोह से ही विकृति जन्म लेती है।[11] जो साधक सम है, मनोज्ञ और अनमोज्ञ की स्थिति मे भी समभाव रख लेता है, राग द्वेष नही है, वह ससार मे रहता हुआ भी उससे वैसे ही लिप्त नही होता है, जैसे जल मे रहता हुआ भी का पत्ता जल से लिप्त आर्द्र नही होता है।[12]

10 'न किंचि रूव अवरज्झई से'—३२।२५

11 'भो तेसु मोहा विगइ उवेइ'—३२।१०२

12 'न लिप्पए भवमज्झे वि सतो, जलेण वा पोक्खरिणीपलास'—३२।३४

यह है साधना का गूढार्थ ! यह पथ अपने को बदलने का है, भागने का नही। वास्तव मे बदले बिना समस्या का समाधान नही है। राजीमती रथनेमि को ठीक ही कहती है—"ऐसे कैसे काम चलेगा। ऐसे तो जब भी कभी किसी नारी को देखोगे, ा जाओगे, अस्थिर हो जाओगे। कदम-कदम पर ठोकरें खाना, कैसी साधुता है ?"[13] बात ठीक है, ससार मे जब तक है, अन्धे-बहरे, लूले-लगडे, लु ज-पु ज अपग हो कर तो किसी कोने मे नही पडे रहेगे। जीवन एकयात्रा है। यात्रा मे अच्छे-बुरे सभी प्रसग आसकते है। है अपने को ही सँभाले रखने की। बाहर मे किसी से झगडने की नही। अत उत्तराध्ययन साधक को बाहर मे इधर उधर के विषयो से, वातावरणो से बचे रहने की, नीति-नियमो की रक्षा के लिए एकान्त मे अलग बने रहने की अनेक चर्चाएँ करता है, जो प्राथमिक साधक के लिए अतीव आवश्यक भी हैं, और उपयोगी भी है, किन्तु आखिर मे इसी तात्विक निष्कर्ष पर आता है कि विवेकज्ञान से अपने को मे ऐसा तैयार करो कि बाहर मे भला बुरा कुछ भी मिले, तुम मे 'मेरुव्व वाएण अकंपमाणो' (उत्त० २०,१६) रहो।

की दृष्टि मे क्रियाकाण्ड

उत्तराध्ययन पर से चलते रहने की बात तो करता है, किन्तु अर्थहीन देहदण्ड की नही। वह सहज शील को महत्त्व देता है, इसी लिए वह कहता है—"जटा बढाने से क्या होगा ? मुण्ड होने से भी क्या बनेगा ? नग्न रहो तो क्या और अजिन एव सघाटी करो तो क्या ? यदि जीवन दु शील है तो ये जरा भी त्राण नही कर सकेंगे।"[14] बिल्कुल ठीक है यह। मुख्य बात यम की नही, सयम की है—कोरे अनाचार या की नही, सदाचार की है। देवेन्द्र ने जब घोर की चर्चा की, और वही तप तपने की बात कही, तो राजर्षि नमि कहते है—"बाल तप से क्या होता है ? अन्तर्विवेक जागृत होना चाहिए। बालजीव महीने-महीने भर के लम्बे करता है, पारणा के दिन कुशाग्र पर आए इतना अन्न-जल लेता है, तब भी वह श्रुत सहज शुद्ध धर्म की सोलहवी कला को भी नही पा ा है।"[15] कितनी बडी बात कही है उत्तराध्ययन मे। इससे बढकर जड क्रियाकाण्ड का और कौन आलोचक होगा ? उत्तराध्ययन की लडाई शरीर से नही है कि वह पापो की जड है। उसे खत्म करो। शरीर को तो वह ससार सागर को तैरने की नौका है—'सरीर माहु नावित्ति।"[16] मन के चचल अश्व को भी मारने

---

13 दशवैकालिक, उत्तराध्ययन।
14 , ५।२१
15 " " १५।४४
16 " " २३।७३

की बात नही कहता । बस, उसे साधने की बात कहता है । मन के घोडे को ज्ञान का लगाम लगाओ[17] और यात्रा करो, कोई डर नही है ।

उ मे के सूत्र

उत्तराध्ययन मानव की सहज प्रज्ञा का पक्षधर है । वह सत्य का निर्णय किसी चिरागत परम्परा या शास्त्र के आधार पर करने को नही कहता है । वह तो कहता है, 'अप्पणा सच्चमेसेज्जा' तुम स्वय सत्य की खोज करो । अर्थात् अपनी खुद की आखो से देखो । दूसरो की आँखो से भला कोई कैसे देख सकता है । भगवान पार्श्वनाथ और महावीर के सघो के आचार एव वेष व्यवहार की गुत्थी को गौतम ने न पार्श्व जिन के नाम से सुलझाया और न अपने गुरु महावीर के नाम से ही । महापुरुषो और शास्त्रो की दुहाई न दी उन्होने । गौतम का एक ही कहना है—"अपनी स्वत प्रज्ञा से काम लो । देश काल के बदलते परिवेश मे पुरागत मान्यताओ को परखो । 'पन्ना समिक्खए धम्म'[18]—विन्नाणेण , धम्मसाहणमिच्छिय'[19]—प्रज्ञा ही धर्म के सत्य की सही समीक्षा कर सकती है । तत्त्व और को परखने की प्रज्ञा एव विज्ञान के सिवा और कोई कसौटी नही है ।

के क्रान्ति-स्वर

उत्तराध्ययन के क्रान्ति के स्वर इतने मुखर है, जो महाकाल के झझावातो मे भी न अभी क्षीण हुए है, और न कभी क्षीण होगे । भगवान् महावीर के युग मे सस्कृत भाषा को देववाणी मानकर कहा जाता था कि वह ही पवित्र है । इस प्रकार शास्त्रो के अच्छे बुरे का द्वन्द्व भाषा पर ही आ टिका था । भगवान् ने समाधान दिया—कोई भी भाषा पवित्र या अपवित्र नही है । भाषा किसी का सरक्षण नही कर सकती ।[20] पढने भर से किसी का कुछ त्राण नही है ।[21] वही है, जिसके से तप, त्याग, क्षमा, अहिंसा आदि की प्रेरणा मिले ।[22] भगवान् महावीर ने इसीलिए पडिताऊ का मार्ग छोडकर सर्वसाधारण जनता की बोली मे जनता को उपदेश दिया । भाषा का मोह आज भी हमे कितना तग कर रहा है, कितना खून बहा रहा है । हो,

17 ,, ,, २३।५६
18 ,, ,, २३।२५
19 ,, ,, २३।३१
20 ,, ,, ६।१०
21 ,, ,, १४।१२
22 ,, ,, ३।८

उत्तराध्ययन की उक्त चर्चा पर से हम इस द्वन्द्व का कुछ समाधान पाए। शास्त्रों के नाम पर आए दिन नित नये बढते झगडे समाप्त करे।

मानव कही भी और कैसे भी रहे। कोई न कोई वेषभूषा तो होगी ही। सामाजिक ही नही, धार्मिक जीवन मे भी वेष का कुछ अर्थ है। परन्तु द्वन्द्व तब पैदा होता है, जब देश कालानुसार उसमे कुछ बदलाव आता है। और वह आना भी चाहिए। लोक जीवन बहता पानी है। काल के साथ वह भी बहता रहता है। तलैया का पानी बहता नही है, अत वह है। भगवान् पार्श्वनाथ और भगवान् महावीर के सघो मे जब नए पुराने धर्मलिंग का, वेषभूषा का प्रश्न उठा, तो गणधर गौतम बहुत स्पष्ट समाधान करते है। उनकी दृष्टि मे धार्मिक वेष कोई भी हो, देशकालानुसार वह कितना ही और कैसा ही बदले, उसका प्रयोजन लोक तक ही है, आगे नही। 'लोगे लिंगप्पओयण।'[23] वेष और वेष से सम्बन्धित आचार-व्यवहार लोकप्रतीति के लिए विकल्पित किए है, ये तात्त्विक नही है, तो बिल्कुल भी नही। ' च लोगस्स, नाणाविहविगप्पण।'[24] निश्चय मे—मुक्ति के सद्भूत साधन[25] सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यक् चारित्र ही है, वेष आदि नही।

उत्तराध्ययन ने जातिवाद पर भी करारी चोटें की हैं। वह जन्म से श्रेष्ठता नही, कर्म से मानता है। वह जन्म से नही, कर्म से ब्राह्मण होने की बात कहता है—'कम्मुणा बमणो होइ।'[26] यज्ञीय अध्ययन मे यज्ञ की और यायाजी ब्राह्मण की सत्कर्म-प्रधान बडी मौलिक की है। हरिकेश बल पुत्र को देव-पूजित बताया है। स्पष्ट उद्घोष है—' खु दीसइ तवोविसेसो, न दीसई जाइविसेस कोई।'[27] साधना की विशेषता है, जाति की विशेषता नही।

आज के इस युग मे भी ये क्रान्ति के अपराजित स्वर कितने अपेक्षित हैं, यह आज के समाजशास्त्रियो और राष्ट्र नेताओ से पूछो।

उत्तराध्ययन का महत्त्व

उत्तराध्ययन का महत्त्व जैन वाङ्मय मे सर्वविदित है। नाम से ही यह अध्ययन उत्तर अर्थात् उत्तम अध्ययन है। यह वह आध्यात्मिक भोजन है, जो कभी बासी नही होता। यह जीवन के दुखते अगो को सीधा स्पर्श करता है। वस्तुत यह जीवनदर्शन है, जीवनसूत्र है। एक प्राचीन मनीषी के शब्दो मे यह कह दिया

---

23 „ „ २३।३२
24 „ „ २३।३२
25 „ „ २३।३३
26 „ „ २५।३१
27 „ „ १२।३७

जाए तो कोई अतिशयोक्ति न होगी कि 'यदिहास्ति त्र, यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्।'
यहाँ लोकनीति है, सामाजिक शिष्टाचार है, अनुशासन है, अध्यात्म है, वैराग्य है, इतिहास है, पुराण है, कथा है, दृष्टान्त है और तत्त्वज्ञान है। यह गूढ भी है और सरल भी। अन्तर्जगत् का मनोविश्लेषण भी है, और बाह्य जगत् की रूपरेखा भी। अपनापन क्या है, यह जानना हो तो उत्तराध्ययन से जाना जा है। उत्तराध्ययन जीवन की सर्वांगीण व्याख्या प्रस्तुत करता है। एक विद्वान् के मे जैन जगत् का यह गीता दर्शन है। यही कारण है, प्राकृत, सस्कृत, अपभ्रंश तथा लोक भाषाओ मे आजतक जितनी टीकाएँ, उपटीकाएँ, अनुवाद आदि उत्तराध्ययन पर प्रस्तुत किए गए है, उतने और किसी आगम पर नही। चिर अतीत मे निर्युक्तिकार चतुर्दशपूर्वधर भद्रबाहु स्वामी से लेकर आज तक व्याख्याओ का प्रवाह अजस्रगति से बहता ही आ रहा है।

प्रस्तुत

उत्तराध्ययन के सस्करण और भी कई प्रकाशित हुए हैं। अनुवाद और भी कई लिखे गए है। परन्तु यह सस्करण अपनी एक अलग ही विशेषता है। मूल पाठ है। वह यथास्थान द एव विराम आदि से सुसज्जित कर ऐसा लिखा गया है, यदि थोडा सा भी लक्ष्य दिया जाए तो मूल पर से ही काफी अर्थबोध हो सकता है। अनुवाद भी वैज्ञानिक शैली का है, जो मूल को सीधा स्पर्श है। टिप्पण भी भावोद्घाटन की दृष्टि से शानदार हैं। न अधिक विस्तार है, न सक्षेप। काफी है, जो भी और जितना भी है।

उक्त सस्करण की सम्पादिका श्री चन्दना जी वस्तुत श्री हैं। अध्ययन विस्तृत है, चिन्तन गहरा है। प्रज्ञात तत्त्व के प्रति निष्ठा उनकी अविचल है। उसके लिए वे कभी-कभी तो इतनी स्पष्टता पर उतर आती हैं कि आलोचना की शिकार हो जाती हैं। परन्तु अपने मे वे इतनी साफ है, यदि कोई पूर्वाग्रह और पक्ष-विशेष से मुक्त होकर उन्हे देखे तो। उनकी वाणी मे ओज है, एक सहज आकर्षण। जटिल से जटिल प्रतिपाद्य को भी वे बडी सहज सरलता के साथ श्रोताओ के मन-मस्तिष्क मे उतार देती है। वे प्रवचन के साथ अच्छी लेखिका भी है। उनके द्वारा प्राकृत व्याकरण, तत्त्वार्थसूत्र सानुवाद, हमारा इतिहास आदि कई रचनाएँ रूपाकार ले चुकी है। उत्तराध्ययन का प्रस्तुत सपादन भी उसी शृ खला की एक कडी है। पर इस की अपनी एक अलग विशेषता है। जहाँ तक मुझे मालूम है, यह पहली साध्वी है, जो आगमसम्पादन के गहन एव दुर्गम पथ पर अग्रसर हुई है। बहुत जल्दी मे लिखा है उन्होने, जैसा कि सुना गया है। यदि वे कुछ और समय लेती तो निश्चित ही कुछ और भी अधिक सुन्दर प्रस्तुत कर पाती। प्रतिभा की कमी नही है उनके पास। कमी है केवल समय की और समय पर उठाने के वत्स की।

मैं आशा करता हूँ, प्रस्तुत सस्करण से अनेक धर्मजिज्ञासुओ को परितृप्ति मिलेगी। उनके विचार और आचार-दोनो ही पक्ष प्रशस्त होगे। तीर्थंकर भगवान् महावीर के पच्चीस सौवें निर्वाण महोत्सव की पुण्यस्मृति मे उनकी ओर से प्रभु की ही दिव्य वाणी का यह सुन्दर मगलमय उपहार सादर स्वीकृत है।

-अनुक्रमणिका

्य सू

१

विनय-श्रुत

सुधर्मा का आर्य जम्बू को विनयश्रुत का प्रतिबोध !

मुक्ति का चरण है—'विनय।'

पावाकी अन्तिम धर्मसभा मे, आर्य सुधर्मा स्वामी ने भगवान् महावीर से, विनय के सम्बन्ध मे जो सुना और जो समझा, उसे अपने प्रिय शिष्य जम्बू को समझाया है।

यद्यपि सम्पूर्ण विनय के प्रकरण मे आर्य सुधर्मा ने विनय की परिभाषा नही दी है, किन्तु विनयी और अविनयी के व्यवहार और उनके परिणाम की विस्तार से चर्चा की है और उसके आधार पर विनय और अविनय की परिभाषा स्वत स्पष्ट हो जाती है।

वस्तुत विनय और अविनय अन्तरग भाव-जगत् की सूक्ष्म अवस्थाएँ है। विनयी और अविनयी के व्यवहार की व्याख्या हो सकती है, किन्तु विनय और अविनय की शब्दो मे व्याख्या असभव है, फिर भी दोनो के व्यवहार और परिणाम को समझाकर विनय को प्रतिष्ठित किया जा सकता है। और व्यक्ति का बाह्य व्यवहार भी तो अन्तत अन्तरग भावो का प्रतिबिम्ब ही होता है। उस पर से अन्तरग स्थिति को समझने के कुछ सकेत मिल सकते है। यही प्रयास इस प्रकरण मे है।

प्रस्तुत विनयश्रुत अध्ययन में बताया गया है कि विनयी का चित्त अहकारशून्य होता है--सरल, निर्दोष, विनम्र और अनाग्रही होता है। अत वह परम ज्ञान की उपलब्धि मे सक्षम होता है। इसके विपरीत अविनयी अहकारी होता है, कठोर होता है, हिंसक होता है, विद्रोही होता है।

आक्रामक और विध्वसात्मक होता है। इस अहता एव कठोरता के कारण अविनीत अपने जीवन का सही दिशा मे निर्माण नही कर सकता है। उसकी शक्तियाँ बिखर जाती है। उसका व्यक्तित्व टूट जाता है, जीवन विकेन्द्रित हो जाता है। वह अपने जीवन मे कुछ भी अच्छा नही कर सकता।

यहाँ एक बात समझ लेनी जरूरी है कि विनय से आर्य सुधर्मा का अभिप्राय दासता या दीनता नही है, गुरु की गुलामी नही है, स्वार्थ सिद्धि के लिए कोई दुरगी चाल नही है, सामाजिक व्यवस्था-मात्र भी नही है। और न वह कोई आरोपित औपचारिकता ही है। अपितु गुणीजनो और गुरुजनो के महनीय एव पवित्रगुणो के प्रति सहज प्रमोदभाव हैं। यह प्रमोद भाव ही विनय है, जो गुरु और शिष्य के मध्य एक सेतु का काम करता है, उसके माध्यम से गुरू, शिष्य को से लाभान्वित करते है।

वस्तुत गुरु एक दक्ष शिल्पी की भाँति होता है। शिल्पी की ओर से पत्थर पर की गयी चोट पत्थर को तोडने के लिए नही होती है, अपितु उसमे छुपे सौन्दर्य को प्रगट करने के लिए होती है। इसी प्रकार गुरू का अनुशासन भी शिष्य की अन्तरात्मा के छुपे हुए आध्यात्मिक सौन्दर्य को अभिव्यक्त करने के लिए होता है। अत शिष्य का कर्तव्य है कि गुरु के मनोगत अभिप्राय को समझे, गुरु के साथ योग्य सद्व्यवहार रखे। गुरु के निर्माणकारी अनुशासन को सहर्ष स्वीकार करे। अपनी आचार सहिता का सम्यक् पालन करे और गुरु को हर स्थिति मे सतुष्ट और प्रसन्न रखे।

यह एक मनोवैज्ञानिक है कि अगर शिष्य अपने व्यवहार से गुरु को आश्वस्त नही कर सकता है, गुरु की दृष्टि मे यदि वह अप्रामाणिक, अनैतिक और दुराचारी है, तो गुरु शिष्य को जो देना चाहते है, वे ठीक तरह दे नही सकेंगे। स्थिति मे शिष्य जो पाना चाहता है, वह नही पा सकेगा। इसलिए गुरु की मानसिक प्रसन्नता शिष्य के लिए - प्राप्ति की प्रथम शर्त है। गुरु के महत्व को ध्यान मे रखकर शिष्य को गुरु के प्रति अपने को सर्वात्मना समर्पण करना चाहिए।

अ णं : प्र अध्य न

विणय- यं : ि य-

मूल	हिन्दी अनुवाद
१ ोगा विप्पमुक्कस्स, अणगारस्स भिक्खुणो । विणय पाउकरिस्सामि, आणुपुव्वि सुणेह मे ॥	जो सासारिक सयोगो, अर्थात् बन्धनो से मुक्त है, अनगार—गृहत्यागी है, भिक्षु है, उसके विनय धर्म का अनुक्रम से निरूपण करूंगा, उसे ध्यानपूर्वक मुझसे सुनो ।
२ आणानिद्देसकरे, गुरूणमुववायकारए । इगियागारसपन्ने, से 'विणीए' त्ति वुच्चई ॥	जो गुरु की का पालन करता है, गुरु के सान्निध्य मे रहता है, गुरु के इगित एव आकार—अर्थात् सकेत और मनोभावो को जानता है, वह 'विनीत' कहलाता है।
३ आणाऽनिद्देसकरे, गुरूणमणुववायकारए । पडिणीए असबुद्धे, 'अविणीए' त्ति वुच्चई ॥	जो गुरु की का पालन नही करता है, गुरु के सान्निध्य मे नही रहता है, गुरु के प्रतिकूल आचरण करता है, असबुद्ध है—तत्त्वज्ञ नही है, वह 'अवि-नीत' कहलाता है ।
४ जहा सुणी पूई-कण्णी, निक्कसिज्जइ सव्वसो । एव दुस्सील-पडिणीए, मुहरी निक्कसिज्जई ॥	जिस प्रकार सड़े कान की कुतिया घृणा के साथ सभी स्थानो से निकाल दी जाती है, उसी प्रकार गुरु के प्रतिकूल आच-रण करने दु शील वाचाल शिष्य भी अपमानित करके निकाल दिया जाता है ।

५ -कुण्डगं चइत्ताणं,
विट्ठं भुंजइ सूयरे।
एव सील चइत्ताण,
दुस्सीले रमई मिए॥

जिस प्रकार सूअर चावलो की भूसी को छोडकर विष्ठा खाता है, उसी प्रकार मृग—पशुबुद्धि अज्ञानी शिष्य शील–सदाचार छोडकर दु शील–दुराचार मे रमण करता है।

६ सुणिया ,
सूयरस्स नरस्स य।
विणए ठवेज्ज अप्पाण,
न्तो हिय णो॥

अपना हित चाहने वाला भिक्षु, सडे कान वाली कुतिया और विष्ठाभोजी सूअर के समान, दु शील से होने वाले मनुष्य के अभाव—अशोभन—हीनस्थिति को समझ कर विनय धर्म मे अपने को स्थापित करे।

७ तम्हा विणयमेसेज्जा,
सील पडिलभे जओ।
-पुत्त नियागट्ठी,
न निक्कसिज्जइ कण्हुई॥

इसलिए विनय का आचरण करना चाहिए, जिससे कि शील की प्राप्ति हो। जो बुद्ध-पुत्र है—प्रबुद्ध गुरु का पुत्रवत् प्रिय मोक्षार्थी शिष्य है, वह कही से भी निकाला नही जाता।

८ निसन्ते सिया री,
बुद्धाण अन्तिए ।
अट्ठजुत्ताणि सिक्खेज्जा,
निरट्ठाणि उ ए॥

शिष्य बुद्ध–गुरुजनो के निकट सदैव प्रशान्त भाव से रहे, वाचाल न बने। अर्थपूर्ण पदो को सीखे। निरर्थक बातो को छोड दे।

९ अणुसासिओ न कुप्पेज्जा,
खंति सेवेज्ज पण्डिए।
खुड्डेहिं सह ससग्गि,
हास कीड च वज्जए॥

गुरु के द्वारा अनुशासित होने पर समझदार शिष्य क्रोध न करे, क्षमा की आराधना करे—शात रहे। क्षुद्र व्यक्तियो के सम्पर्क से दूर रहे, उनके साथ हसी और अन्य कोई क्रीडा भी न करे।

१० मा य चण्डालिय कासी,
बहुय मा य आलवे।
कालेण य अहिज्जित्ता,
तओ झाएज्ज एगगो॥

शिष्य आवेश मे आकर कोई - लिक-आवेशमूलक अपकर्म न करे, बकवास न करे। अध्ययन काल मे अध्ययन करे और उसके बाद एकाकी ध्यान करे।

११ आहच्च चण्डालियं कट्टु,
न निण्हविज्ज कयाइ वि ।
' ' त्ति भासेज्जा,
'नो ' त्ति य ॥

आवेश-वश यदि शिष्य कोई चाण्डालिक–गलत व्यवहार कर भी ले तो उसे कभी भी न छिपाए। किया हो तो 'किया' कहे, और न किया हो तो 'नही किया' कहे ।

१२ मा गलियस्से व ,
वयणमिच्छे पुणो पुणो ।
व ‸माइण्णे,
परिवज्जए ॥

जैसे कि गलिताश्व—अडियल घोडे को वार-वार चावुक की जरूरत होती है,वैसे शिष्य गुरु के वार-वार आदेश-वचनो की अपेक्षा न करे। किन्तु जैसे आकीर्ण–उत्तम शिक्षित अश्व चावुक को देखते ही उन्मार्ग को छोड देता है,वैसे ही योग्य शिष्य गुरु के सकेतमात्र से पापक कर्म-गलत आचरण को छोड दे ।

१३ अणासवा ‸ या कुसीला
मिउंपि ‸पकरेंति सीसा ।
चित्ताणुया लहु दक्खोववेया,
पसायए ते हु दुरासयं पि ॥

आज्ञा मे न रहने वाले, विना विचारे कुछ का कुछ वोलने वाले दुष्ट शिष्य, मृदु स्वभाव वाले गुरु को भी क्रुद्ध वना देते है। और गुरु के मनोनुकूल चलने वाले एव पटुता से कार्य सम्पन्न करने वाले शिष्य शीघ्र ही कुपित होने वाले दुराश्रय गुरु को भी कर लेते हैं ।

१४ नापुट्ठो वागरे किंचि,
पुट्ठो वा नालियं वए ।
कोहं कुव्वेज्जा,
धारेज्जा पियमप्पियं ॥

विना पूछे कुछ भी न बोले, पूछने पर भी असत्य न कहे। यदि कभी क्रोध आ भी जाए तो उसे निष्फल करे—अर्थात् क्रोध को आगे न वढा कर वही उसे शान्त कर दे। आचार्य की प्रिय और अप्रिय दोनो ही शिक्षाओ को धारण करे ।

१५. चेव दमेयव्वो, हु दुद्दमो । दन्तो सुही होइ, अस्सि लोए परत्थ य ॥	स्वय पर ही विजय प्राप्त करना चाहिए । स्वय पर विजय करना ही कठिन है । -विजेता ही इस लोक और परलोक मे सुखी होता है ।
१६ वरं मे । दन्तो, संजमेण तवेण य । माह परेहि न्तो, बन्धणेहि वहेहि य ॥	शिष्य विचार करे—'अच्छा है कि मैं स्वय ही और तप के द्वारा स्वय पर विजय प्राप्त करू । बन्धन और बध के द्वारा दूसरो से मैं दमित—प्रताडित किया जाऊ, यह नही है ।'
१७ पडिणीय च बुद्धाण, अवुव कम्मुणा । आवी वा वा रहस्से, नेव कुज्जा वि ॥	लोगो के अकेले मे वाणी से कर्म से, कभी भी आचार्यो के प्रतिकूल आचरण नही करना चाहिए ।
१८ न पक्खओ न पुरओ, नेव किच्चाण पिट्ठओ । न जुंजे , सयणे नो पडिस्सुणे ॥	कृत्य—अर्थात् आचार्यो के बराबर न बैठे, आगे न बैठे, न पीठ के पीछे ही बैठे,। गुरु के अति निकट जाघ से जाघ सटाकर शरीर का स्पर्श हो,ऐसे भी न बैठे । बिछौने पर बैठे-बैठे ही गुरु के कथित आदेश का स्वीकृतिरूप उत्तर न दे । अर्थात् से उठकर पास आकर प्रति निवेदन करे ।
१६ नेव पल्हत्थियं कुज्जा पक्खपिण्ड व सजए । पाए पसारिए वावि न चिट्ठे गुरुणन्तिए ॥	गुरु के पलथी लगाकर न बैठे, दोनो हाथो से शरीर को बाधकर न बैठे तथा पैरो को फैलाकर भी न बैठे ।

२०. आयरिएहिं वाहिन्तो, तुसिणीओ न वि । -पेही नियागट्ठी, उवचिट्ठे गुरुं । ॥	गुरु के —कृपाभाव को चाहने वाला मोक्षार्थी शिष्य, ों के द्वारा बुलाये जाने पर किसी भी स्थिति मे मौन न रहे, किन्तु निरन्तर उनकी सेवा मे उपस्थित रहे ।
२१ आलवन्ते लवन्ते वा न निसीएज्ज कयाइ वि । ण धीरो जओ पडिस्सुणे ॥	गुरु के द्वारा एक बार अथवा अनेक बार बुलाए जाने पर बुद्धिमान् शिष्य कभी बैठा न रहे, किन्तु आसन छोडकर उनके आदेश को यत्नपूर्वक—सावधानता से स्वीकार करे ।
२२ -गओ न पुच्छेज्जा नेव सेज्जा-गओ । आगम्मुक्कुडुओ सन्तो पुच्छेज्जा पजलीउडो ॥	आसन पर बैठा-बैठा कभी भी गुरु से कोई बात न पूछे, किन्तु उनके समीप आकर, आसन से और हाथ जोडकर जो भी पूछना हो, पूछे ।
२३ एव बिणय-जुत्तस्स सुत्तं च तदुभय । पुच्छमाणस्स सीसस्स वागरेज्ज जहासुय ॥	विनयी शिष्य के द्वारा इस विनीत से पूछने पर गुरु सूत्र,अर्थ और तदुभय—दोनो का यथाश्रुत (जैसा सुना और हो, वैसे) निरूपण करे ।
२४ मुस परिहरे भिक्खू न य ओहारिणिं वए । -दोस परिहरे च वज्जए ॥	भिक्षु का परिहार करे, निश्चयात्मक भाषा न बोले । भाषा के अन्य परिहास एव सशय आदि दोषो को भी छोडे । माया (कपट) का सदा परित्याग करे ।
२५ न लवेज्ज पुट्ठो न निरट्ठ न । प वा उभयस्सन्तरेण वा ॥	किसी के पूछने पर भी अपने लिए, दूसरो के लिए दोनो के लिए (पापकारी) न बोले, निरर्थक न बोले, मर्म-भेदक वचन भी न कहे ।

२६ समरेसु अगारेसु
सन्धीसु य महापहे ।
एगो एगित्थिए सद्धिं
नेव चिट्ठे न संलवे ॥

लुहार की शाला मे, घरो मे, घरो की बीच की सन्धियो मे और राजमार्ग मे अकेला मुनि अकेली स्त्री के साथ खड़ा न रहे, न बात करे ।

२७ जं मे बुद्धाणुसासन्ति
सीएण फरुसेण वा ।
' लाभो' त्ति पेहाए
पयओ तं पडिस्सुणे ॥

'प्रिय कठोर शब्दो से आचार्य मुझ पर जो अनु करते है, वह मेरे लाभ के लिए है'—ऐसा विचार कर प्रयत्नपूर्वक उनका अनुशासन स्वीकार करे ।

२८ अणुसासणमो
दुक्कडस्स य चोयणं ।
हियं तं मन्नए पण्णो
वेसं होइ हुणो ॥

आचार्य का प्रसगोचित कोमल या कठोर अनुशासन दुष्कृत का निवारक होता है । उस अनुशासन को बुद्धिमान शिष्य हितकर मानता है । असाधु-अयोग्य के लिए वही अनुशासन द्वेष का कारण बन जाता है ।

२९ हियं विगय-
पि ।
वेसं तं होइ मूढाणं
खन्ति-सोहिकरं पयं ॥

भय से मुक्त, मेधावी प्रबुद्ध शिष्य गुरु के कठोर अनुशासन को भी हितकर मानते हैं । किन्तु वही क्षमा एव चित्त-विशुद्धि करने वाला गुरु का अनु मूर्खो के लिए द्वेष का निमित्त हो जाता है ।

३० ` उवचिट्ठेज्जा
अणुच्चे अकुए थिरे ।
अप्पुट्ठाई निरुट्ठाई
निसीएज्जऽप्पकुक्कुए ॥

शिष्य ऐसे पर बैठे, जो गुरु के आसन से नीचा हो, जिस मे कोई न निकलती हो, जो स्थिर हो । आसन से बार-बार न उठे । प्रयोजन होने पर भी कम ही उठे, स्थिर एव शान्त होकर बैठे—इधर-उधर चपलता न करे ।

३१ कालेण निक्खमे भिक्खू
कालेण य पडिक्कमे ।
च विवज्जित्ता
काले समायरे ॥

भिक्षु समय पर भिक्षा के लिए निकले और समय पर लौट आए। असमय मे कोई कार्य न करे। जो कार्य जिस समय करने का हो, उस को उसी समय पर करे।

३२ परिवाडीए न चि
भिक्खू दत्तेसणं चरे।
पडिरूवेण एसित्ता
मियं कालेण भक्खए ॥

भिक्षा के लिए गया हुआ भिक्षु, खाने के लिए उपविष्ट लोगो की पंक्ति मे न खडा रहे। मुनि की मर्यादा के अनुरूप एषणा करके गृहस्थ के द्वारा दिया हुआ आहार स्वीकार करे और शास्त्रोक्त काल मे आवश्यकतापूर्तिमात्र परिमित भोजन करे।

३३ नाइदूरमणासन्ने
नन्नेसिं चक्खु-फासओ।
एगो चिट्ठेज्ज ।
लंघिया तं नइक्कमे ॥

यदि पहले से ही अन्य भिक्षु गृहस्थ के द्वार पर खडे हो तो उनसे अतिदूर या अतिसमीप खडा न रहे और न देने वाले गृहस्थो की दृष्टि के सामने ही रहे, किन्तु एकान्त मे अकेला खडा रहे। उपस्थित भिक्षुओं को लाघ कर घर मे भोजन लेने को न जाए।

३४ नाइउच्चे व नीए वा
नासन्ने नाइदूरओ ।
फासुयं परं पिण्डं
पडिगाहेज्ज संजए ॥

संयमी मुनि प्रासुक—अचित्त और परकृत—गृहस्थ के लिए बनाया गया आहार ले, किन्तु बहुत ऊँचे या बहुत नीचे से लाया हुआ तथा अति समीप या अति दूर से दिया जाता हुआ आहार न ले।

३५ अ ीयम्मि
पडिच्छन्नम्मि ।
संजए भुंजे
जयं अपरिसाडियं ॥

संयमी मुनि प्राणी और बीजो से रहित, ऊपर से ढके हुए और दीवार आदि से संवृत मकान मे अपने सहधर्मी साधुओं के साथ भूमि पर न गिराता हुआ विवेकपूर्वक आहार करे।

३६ सुकडे त्ति सुपक्के त्ति
सुच्छिन्ने सुहडे मडे।
सुणिट्ठिए सुलट्ठे त्ति
वज्जए मुणी ॥

आहार करते मुनि, भोज्य पदार्थों के सम्बन्ध मे—अच्छा किया (बना) है, अच्छा है, अच्छा काटा है, अच्छा हुआ जो इस करेले आदि का कडवापन मिट गया है, प्रासुक हो गया है, सूप आदि मे घृतादि अच्छा भरा है—रम गया है, इसमे अच्छा रस उत्पन्न हो गया है, यह बहुत ही सुन्दर है—इस प्रकार के —पापयुक्त वचनो का प्रयोग न करे।

३७ रमए पण्डिए सास
हयं भद्दं व वाहए।
गलियस्स व वाहए ॥

मेधावी शिष्य को शिक्षा देते हुए आचार्य वैसे ही प्रसन्न होते हैं, जैसे कि वाहक (अश्वशिक्षक) अच्छे घोडे को हाँकता हुआ रहता है। अबोध शिष्य को शिक्षा देते हुए गुरु वैसे ही खिन्न होता है, जैसे कि दुष्ट घोडे को हाकता हुआ उसका वाहक।

३८ ' मे चवेडा मे
अक्कोसा य वहा य मे।'
कल्लाणमणुसासन्तो
पावदिट्ठि त्ति ई ॥

गुरु के कल्याणकारी अनुशासन को पापदृष्टि वाला शिष्य ठोकर और चाटा मारने, गाली देने और प्रहार करने के समान समझता है।

३९ 'पुत्तो मे नाइ' त्ति
साहू मन्नई।
पावदिट्ठी उ अप्पाण
' व' मन्नई ॥

'गुरु मुझे पुत्र, भाई और की तरह आत्मीय शिक्षा देते हैं'—ऐसा सोचकर विनीत शिष्य उनके अनु- को कल्याणकारी है। परन्तु पापदृष्टि वाला कुशिष्य हितानु- से शासित होने पर अपने को दास के समान हीन है।

४० न कोवए रिय
पि न कोवए ।
बुद्धोवघाई न सिया
न सिया तोत्तगवेसए ॥

शिष्य को चाहिए कि वह न तो आचार्य को कुपित करे और न उनके कठोर अनुशासनादि से स्वयं ही कुपित हो। आचार्य का उपघात करने वाला न हो। और न गुरु को खरी-खोटी सुनाने के फिराक मे उनका छिद्रान्वेषी हो।

४१ आयरिय कुविय
पत्तिएण पसायए ।
विज्झवेज्ज पजलिउडो
वएज्ज 'न पुणो' त्ति य ॥

अपने किसी अभद्र व्यवहार से आचार्य को हुआ जाने तो विनीत शिष्य प्रीतिवचनो से उन्हे करे। हाथ जोड़ कर उन्हे करे और कहे कि "मै फिर कभी ऐसा नही करूँगा।"

४२ धम्मज्जिय च ववहार
हायरिय ।
तमायरन्तो ववहार
गरह नाभिगच्छई ॥

जो व्यवहार धर्म से अर्जित है, और प्रबुद्ध आचार्यो के द्वारा आचरित है, उस व्यवहार को आचरण मे लाने वाला मुनि कभी निन्दित नही होता है।

४३ मणोगय
जाणित्ताऽऽयरियस्स उ ।
त परिगिज्झ ाए
कम्मुणा उववायए ॥

शिष्य आचार्य के मनोगत और वाणीगत भावो को जान कर उन्हे सर्व-प्रथम वाणी से ग्रहण (स्वीकार) करे और फिर कार्य रूप मे परिणत करे।

४४ वित्ते ोइए निच्च
खिप्प सुचोइए ।
जहोवइट्ठ सुकय
किच्चाइ कुव्वई ॥

विनयी रूप से प्रसिद्ध शिष्य गुरु के द्वारा प्रेरित न किए जाने पर भी कार्य करने के लिए सदा प्रस्तुत रहता है। प्रेरणा होने पर तो यथोपदिष्ट कार्य अच्छी तरह सम्पन्न करता है।

४५ नमइ मेहावी
लोए किती से जायए।
हवई किच्चाण
सूयाण जगई जहा ॥

विनय के को जानकर जो मेधावी शिष्य विनम्र हो जाता है, उमकी लोक मे कीर्ति होती है। प्राणियो के लिए पृथ्वी जिस प्रकार आधार होती है, उमी प्रकार योग्य शिष्य समय पर धर्माचरण करने वालो का आधार बनता है।

४६ आ पसीयन्ति
संबुद्धा पुव्वसथुया।
लाभइस्सन्ति
विउल अट्ठियं सुय ॥

शिक्षण काल से पूर्व ही शिष्य के विनय-भाव से परिचित, सबुद्ध, पूज्य आचार्य उस पर प्रसन्न रहते हैं। प्रसन्न होकर वे उसे अर्थगंभीर विपुल श्रुत ज्ञान का लाभ करवाते हैं।

४७ स पुज्जसत्थे सुविणीयससए
मणोरुई चिट्ठइ ।
तवोसमायारिसमाहिसवुडे
महज्जुई पच पालिया।

वह शिष्य पूज्यशास्त्र होता है—अर्थात् शास्त्रीय ज्ञान जनता मे सम्मानित होता है। उमके सारे सशय मिट जाते है। वह गुरु के मन को प्रिय होता है। वह कर्मसम्पदा से अर्थात् साधु-समाचारी से युक्त होता है। वह तप समाचारी और समाधि से मम्पन्न होता है। पाच महाव्रतो का पालन करके वह महान् तेजस्वी होता है।

४८ स देव • -मणुस्सपूइए
चइत्तु देहं मलपकपुव्वय।
सिद्धे वा सासए
वा अप्परए महिड्ढिए ॥

वह देव, गन्धर्व और मनुष्यो मे पूजित विनयी शिष्य मल पक से निर्मित इस देह को त्याग कर सिद्ध होता है अथवा अल्प कर्म वाला महान् ऋद्धि-मम्पन्न देव होता है।

—त्ति बेमि।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

२
परीषह-प्रविभक्ति

परीषह आने पर परीषहो से घबराए नही।

परीषह एक ौटी है।

बीज को अकुरित होने मे जल के साथ धूप की भी आवश्यकता होती है। क्या इसी प्रकार जीवन-निर्माण के लिए अनुकूलता की शीतलता के साथ, परीपह की प्रतिकूलता रूप गरमी की आवश्यकता नही है? वस्तुत प्रकृति दोनो के पूर्ण सहयोग मे ही प्रकट होती है।

इसी बात को आर्य सुधर्मा स्वामी समझाते है कि नि श्रेयस की प्राप्ति के लिए सयम के मार्ग पर चलने वाले साधक के जीवन मे परीषह आते है, किन्तु सच्चे साधक के लिए वे बाधक नही, उपकारक ही होते है। अत साधक परीषह के आने पर घबराता नही, उद्विग्न नही होता, अपितु उन्हे शान्त भाव से सहन करता है। वस्तुस्थिति का द्रष्टा होकर वह उन्हे मात्र जानता है, उनमे परिचित होता है। किन्तु उनके दबाव मे स्वीकृत प्रतिज्ञा के विरुद्ध आचरण नही करता, आत्म जागृति के पथ पर ` हुए बीच मे आने वाली विघ्न-बाधाओ मे भी सयम की सुरक्षा का सतत ध्यान रखता है।

परीषह के इस प्रकरण मे एक और वात ध्यान मे रखना जरूरी है कि परीषह का अर्थ शरीर या मन को कष्ट देना नही है, और न आये हुए कष्टो को मजबूरी से सहन करना है। परीषह का अर्थ है—प्रत्येक प्रतिकूल परिस्थिति को, साधना मे सहायक होने के क्षणो तक, प्रसन्नता पूर्वक

स्वीकृति देना। उससे न इधर उधर भागना है, न बचने का कोई गलत मार्ग खोजना है, न उनका मर्यादाहीन प्रतिकार करना है।

परीषह आने पर साधक सोचता है कि यह एक अवसर है स्वय को नापने और परखने का। अत वह घबराता नही है। वरन् मन की ो और सुविधाओ की प्रतिबद्धताओ को तोडकर स्वतन्त्र, निर्भय एव निर्द्वन्द्व खडा हो जाता है।

वह वातावरण का खिलौना नही बनता, अपितु बाहर मे होने वाले इन खेलो का वह द्रष्टा बनता है। उसका यह ज्ञान ही आन्तरिक अनाकुलता एव सुख का कारण बनता है। अत परीषह दु ख नही है, कष्ट नही है। और न मजबूरी से सहन की गई कोई दु स्थिति ही है।

बीयं अज्झयण : ि ीय अ यन

परीसह-पविभ ि : परीषह-प्रविभक्ति

मूल

सूत्र १—सुय मे, । तेण एवमक्खाय—

इह ,बावीस परीसहा या महावीरेण कासवेण पवेइया, जे भिक्खू सो , न , जिच्चा, अभिभूय भिक्खायरियाए परिव्वयन्तो पुट्ठो नो विहन्नेज्जा ।

सूत्र २—कयरे ते बावीस परीसहा सम महावीरेण कासवेण पवे , जे भिक्खू सोच्चा, न , जिच्चा, अभिभूय भिक्खायरियाए परिव्वयन्तो पुट्ठो नो विहन्ने ।

हिन्दी अनुवाद

आयुष्मन् ! मैंने सुना है, भगवान् ने इस प्रकार कहा है—

श्रमण जीवन मे बाईस परीषह होते है, जो गोत्रीय भगवान् महावीर के द्वारा प्रवेदित है, जिन्हे सुनकर, जानकर, स के द्वारा परिचित कर, पराजित कर, 'भिक्षाचर्या के लिए पर्यटन हुआ मुनि, परीषहो से स्पृष्ट— ान्त होने पर विचलित नही होता ।

वे बाईस परीषह कौन से है, जो गोत्रीय श्रमण भगवान् महावीर के द्वारा प्रवेदित है ? जिन्हे सुनकर जानकर, अभ्यास के द्वारा परिचित कर, पराजित कर, भिक्षा-चर्या के लिए पर्यटन हुआ मुनि, उनसे स्पृष्ट—आक्रान्त होने पर विचलित नही होता ।

सूत्र ३—इमे खलु ते बावीस परीसहा ˋ महावीरेण ˋ पवेइया, जे भिक्खू सोच्चा, न , ि , अभिभूय, भिक्खा-यरियाए परिव्वयन्तो पुट्ठो नो विहन्ने , त जहा—

वे बाईस परीषह ये है, जो - गोत्रीय भगवान् महावीर के द्वारा प्रवेदित है, जिन्हे सुनकर, जानकर, के द्वारा परिचित कर, पराजित कर भिक्षाचर्या के लिए पयटन करता हुआ मुनि, उनसे स्पृष्ट—आक्रान्त होने पर विचलित नही होता। वे इस प्रकार है

१ दिगिछा-परीसहे	१ क्षुधा परीषह
२ पिवासा-परीसहे	२ पिपासा परीषह
३ सीय-परीसहे	३ शीत परीषह
४ उसिण परीसहे	४ उष्ण परीषह
५ दस-मसय-परीसहे	५ दश- परीषह
६ अचेल-परीसहे	६ अचेल परीषह
७ अरइ-परीसहे	७ अरति परीषह
८ इत्थी-परीसहे	८ स्त्री परीषह
९ चरिया-परीसहे	९ चर्या परीषह
१० निसीहिया-परीसहे	१० निषद्या परीषह
११ सेज्जा-परीसहे	११ शय्या परीषह
१२ अक्कोस-परीसहे	१२ आक्रोश परीषह
१३ वह-परीसहे	१३ वध परीषह
१४ -परीसहे	१४ याचना-परीषह
१५ -परीसहे	१५ परीषह
१६ रोग-परीसहे	१६ रोग परीषह
१७ तण- -परीसहे	१७ तृण-स्पर्श-परीषह
१८ -परीसहे	१८ जल्ल परीषह
१९ स -पुरक्कार-परीसहे	१९ -पुरस्कार-परीषह
२० -परीसहे	२० प्रज्ञा परीषह
२१ अ परीसहे	२१ परीषह
२२ -परीसहे	२२ दर्शन परीसह

१. परीसहाण पविभत्ती
पवेइया ।
त मे उदाहरिस्सामि
आणुपुव्वि सुणेह मे ॥

कश्यप-गोत्रीय भगवान् महावीर ने परीषहो के जो भेद (प्रविभक्ति) बताए है, उन्हे मैं तुम्हे कहता हूँ। मुझसे तुम अनुक्रम से सुनो।

१—क्षुधा-परीषह

२. दिगिंछा-परिगए देहे
तवस्सी भिक्खु थाम ।
न छिन्दे, न छिन्दावए
न पए, न पयावए ॥

बहुत भूख लगने पर भी मनोबल से युक्त तपस्वी भिक्षु फल आदि का न स्वय छेदन करे, न दूसरो से छेदन कराए, उन्हे न स्वय पकाए और न दूसरो से पकवाए।

३ काली - से
किसे धमणि-सतए ।
मायन्ने -
अदीण-मणसो चरे ॥

लबी भूख के कारण काकजघा (तृण-विशेष) के समान शरीर दुर्बल हो जाए, कृश हो जाए, धमनियाँ स्पष्ट नजर आने लगें, तो भी अशन एव पानरूप आहार की मात्रा को जानने वाला भिक्षु अदीनभाव से विचरण करे।

२—पिपासा-परीषह

४ तओ पुट्ठो पिवासाए
दोगुछी -सजए ।
सीओदग न सेविज्जा
वियडस्सेसण चरे ॥

असयम से अरुचि रखने वाला, लज्जावान् सयमी भिक्षु प्यास से पीडित होने पर भी शीतोदक—सचित्त जल का सेवन न करे, किन्तु अचित्त जल की खोज करे।

५ छिन्नावाएसु पन्थेसु
रे सुपिवासिए ।
परिसुक्क-मुहेऽदीणे
त तितिक्खे परीसह ॥

यातायात से शून्य एकात निर्जन मार्गों मे भी तीव्र प्यास से आतुर—व्याकुल होने पर, यहाँ तक कि मुँह के सूख जाने पर भी मुनि अदीनभाव से प्यास के कष्ट को सहन करे।

३—शीत-परीषह

६ विरय लूह
सीय फुसइ एगया।
न मुणी गच्छे
सोच्चाणं जिणसासण ॥

विरक्त और (अथवा स्निग्ध भोजनादि के से रूक्ष-शरीर) होकर विचरण करते हुए मुनि को शीतकाल मे शीत का कष्ट होता ही है, फिर भी आत्मजयी जिन-शासन (वीतराग भगवान की शिक्षाओ) को स अपनी यथोचित मर्यादाओ का या स्वाध्यायादि के प्राप्त काल का उल्लघन न करे।

७. 'न मे निवारण अत्थि
छवित्ताण न विज्जई।
अह तु अग्गि सेवामि'—
भिक्खू न चिन्तए ॥

शीत लगने पर मुनि ऐसा न सोचे कि "मेरे पास शीत-निवारण के योग्य मकान आदि का कोई अच्छा साधन नही है। शरीर को ठण्ड से बचाने के लिए छवित्राण—कम्बल आदि वस्त्र भी नही है, तो मैं क्यो न अग्नि का सेवन करलूं।"

४—उष्ण-परीषह

८ उसिण-परियावेण
परिदाहेण तज्जिए।
घिसु वा परिय
सायं नो परिदेवए ॥

गरम भूमि, शिला एव लू आदि के परिताप से, प्यास की दाह से, ग्रीष्म-कालीन सूर्य के परिताप से पीडित होने पर भी मुनि सात (आदि के सुख) के लिए परिदेवना—आकुलता न करे।

९ उण्हाहितत्ते मेहावी
सिणाण नो वि पत्थए।
नो परिसिंचेज्जा
न वीएज्जा य ॥

गरमी से परेशान होने पर भी मेघावी मुनि स्नान को न करे। जल से शरीर को सिंचित—गीला न करे, पखे आदि से हवा न करे।

५—दंशमशक-परीषह

१० पुट्ठो य दंसमसएहिं
समरेव महामुणी।
नागो संगामसीसे वा
सूरो अभिहणे परं॥

महामुनि डास तथा मच्छरों का उपद्रव होने पर भी समभाव रखे। जैसे युद्ध के मोर्चे पर हाथी बाणों की कुछ भी परवाह न करता हुआ शत्रुओं का हनन करता है, वैसे ही मुनि भी परीषहों की कुछ भी परवाह न करते हुए राग-द्वेष रूपी अन्तरंग शत्रुओं का हनन करे।

११ न संतसे न वारेज्जा
मणं पि न पओसए।
उवेहे न हणे पाणे
भुंजन्ते मंससोणियं॥

दंशमशक परीषह का विजेता दंश-मशकों से संत्रस्त (उद्विग्न) न हो, उन्हें हटाए नहीं। यहाँ तक कि उनके प्रति मन में भी द्वेष न लाए। मांस काटने तथा रक्त पीने पर भी उपेक्षा भाव रखे, उनको मारे नहीं।

६—अचेल-परीषह

१२ 'परिजुण्णेहिं वत्थेहिं
होक्खामि त्ति अचेलए।
अदुवा 'सचेलए होक्खं'
इइ भिक्खू न चिन्तए॥

"वस्त्रों के अति जीर्ण हो जाने से अब मैं अचेलक (नग्न) हो जाऊंगा। अथवा नए वस्त्र मिलने पर मैं फिर सचेलक हो जाऊंगा"—मुनि ऐसा न सोचे।

१३ 'एगयाऽचेलए होइ
सचेले यावि एगया।'
एयं धम्महियं नच्चा
नाणी नो परिदेवए॥

"विभिन्न एवं विशिष्ट परिस्थितियों के कारण मुनि कभी अचेलक होता है, कभी सचेलक भी होता है। दोनों ही स्थितियां यथाप्रसंग संयम धर्म के लिए हितकारी हैं"—ऐसा समझकर मुनि खेद न करे।

७—अरति-परीषह

१४ गामाणुगाम रीयन्त
अकिंचण ।
अरई अणुप्पविसे
त तितिक्खे परीसह ॥

एक गाव से दूसरे गाव विचरण करते हुए अकिंचन (निर्ग्रन्थ) अनगार के मन मे यदि कभी सयम के प्रति अरति—अरुचि, उत्पन्न हो जाए तो उस परीषह को सहन करे ।

१५ अरइ पिट्ठओ किच्चा
विरए -रक्खिए ।
धम्मारामे निरारम्भे
उवसन्ते मुणी चरे ॥

विषयासक्ति से विरक्त रहने ，आत्मभाव की रक्षा करने वाला, धर्म मे रमण करने वाला, आरम्भ-प्रवृत्ति से दूर रहने वाला निरारम्भ मुनि अरति का परित्याग कर उपशान्त भाव से विचरण करे ।

८—स्त्री-परीषह

१६ 'सगो एस मणुस्साणं
जाओ लोगमि इत्थिओ ।'
एया परिन्नाया
॥

'लोक मे जो स्त्रियाँ है, वे पुरषो के लिए बधन है'—ऐसा जो जानता है, उसका श्रामण्य—साधुत्व सुकृत अर्थात् होता है ।

१७ एवमादाय मेहावी
'पकभूया उ इत्थिओ' ।
नो ताहि विणिहन्नेज्जा
चरेज्जऽत्तगवेसए ॥

'ब्रह्मचारी के लिए स्त्रियाँ पक—दल दल के समान हैं'—मेधावी मुनि इस बात को किसी भी तरह सयमी जीवन का विनिघात न होने दे, किन्तु आत्मस्वरूप की खोज करता हुआ विचरण करे ।

९—चर्या-परीषह

१८ एग एव चरे लाढे
अभिभूय परीसहे ।
गामे वा नगरे वावि
निगमे धा रायहाणिए ॥

शुद्ध चर्या से लाढ अर्थात् प्रशसित मुनि एकाकी ही परीषहो को पराजित कर गाँव, नगर, निगम (व्यापार की मडी) अथवा राजधानी में विचरण करे ।

१९. असमाणो चरे भिक्खू
नेव कुज्जा परिग्गहं ।
असंसत्तो गिहत्थेहिं
अणिएओ परिव्वए ॥

भिक्षु गृहस्थादि से अर्थात् विलक्षण—असाधारण होकर विहार करे, परिग्रह संचित न करे, गृहस्थों में —निर्लिप्त रहे । सर्वत्र अनिकेत भाव से अर्थात् गृहबन्धन से मुक्त होकर परिभ्रमण करे ।

१०—निषद्या-परीषह

२०. सुसाणे सुन्नगारे वा
-मूले व एगओ ।
अकुक्कुओ निसीएज्जा
न य वित्तासए परं ॥

में, सूने घर में और वृक्ष के मूल में एकाकी मुनि भाव से बैठे । के अन्य किसी प्राणी को कष्ट न दे ।

२१ ॰ से चिट्ठमाणस्स
उवसग्गाभिधारए ।
-भीओ न गच्छेज्जा
उट्ठित्ता ॥

उक्त स्थानों में बैठे हुए यदि कभी कोई आजाए तो उसे समभाव से धारण करे कि इससे मेरे -अमर आत्मा की भी क्षति नहीं होने वाली है । अनिष्ट की शका से भयभीत होकर वहाँ से अन्य पर न जाए ।

११—शय्या-परीषह

२२ उच्चावयाहिं सेज्जाहिं
तवस्सी भिक्खु ।
नाइवेलं विहन्नेजा
पावदिट्ठी विहन्नई ॥

ऊंची-नीची [अर्थात् अच्छी या] बुरी ( ) के कारण तपस्वी एवं भिक्षु —मर्यादा को भंग न करे, अर्थात् हर्ष शोक न करे । पाप दृष्टिवाला साधु ही हर्ष शोक से अभिभूत होकर मर्यादा को तोड़ता है ।

२३. पइरिक्कुवस्सय .
कल्लाण अदु ।
'किमेग करिस्सइ'
एव तत्थऽहियासए ॥

प्रतिरिक्त (स्त्री आदि की से रहित) एकान्त पाकर, भले ही वह अच्छा हो या बुरा, उसमे मुनि को समभाव से यह सोच कर रहना चाहिए कि यह एक रात क्या करेगी ? अर्थात् इतने से मे क्या -बिगडता है ?

१२—आक्रोश-परीषह

२४ अक्कोसेज्ज परो भिक्खुं
न तेसि पडिसजले ।
सरिसो होइ
तम्हा भिक्खू न सजले ॥

यदि कोई भिक्षु को गाली दे, तो वह उसके प्रति क्रोध न करे। क्रोध करने वाला अज्ञानियो के सदृश होता है। अत भिक्षु आक्रोश—काल मे सज्वलित न हो, उबाल न खाए।

२५. सोच्चाणं
- ।
तुसिणीओ उवेहेज्जा
न ।ो ।करे ॥

दारुण (असह्य), ग्रामकण्टक—काटे की तरह चुभने वाली कठोर भाषा को सुन कर भिक्षु मौन रहे, उपेक्षा करे, उसे मन मे भी न लाए।

१३—वध-परीषह

२६ हुओ न सजले भिक्खू
मणं पि न पओसए।
तितिक्ख परम ।
भिक्खु- विचिंतए ॥

मारे-पीटे जाने पर भी भिक्षु क्रोध न करे। और तो क्या, दुर्भावना से मन को भी दूषित न करे। तितिक्षा—क्षमा को साधना का श्रेष्ठ अग जानकर मुनिधर्म का चिन्तन करे।

२७ .
हणेज्जा कोई कत्थई ।
'नत्थि जीवस्स नासु' त्ति
एवं पेहेज्ज संजए ॥

सयत और दान्त—इन्द्रियजयी श्रमण को यदि कोई कही मारे-पीटे तो उसे यह चिन्तन चाहिए कि का नाश नही होता है।

१४—याचना-परीषह

२८ दुक्करं भो निच्चं
भिक्खुणो ।
से होइ
नत्थि किंचि अजाइयं ॥

मे अनगार भिक्षु की यह चर्या सदा से ही दुष्कर रही है कि उसे वस्त्र, पात्र, आहारादि सब कुछ याचना से मिलता है। उमके पाम भी अयाचित नही होता है।

२९ गोयरग्गपविट्ठस्स
पाणी नो सुप्पसारए ।
'सेओ -वासु' त्ति
भिक्खू न चिन्तए ॥

गोचरी के लिए घर मे प्रविष्ट साधु के लिए गृहस्थ के सामने हाथ फैलाना सरल नही है, अत 'गृहवास ही श्रेष्ठ है'—मुनि ऐसा चिन्तन न करे।

१५—अलाभ परीषह

३० परेसु घासमेसेज्जा
भोयणे परिणिट्ठिए ।
पिण्डे वा
नाणुतप्पेज्ज संजए ॥
३१ 'अज्जेवाहं न लब्भामि
अवि ो सिया ।'
जो एव पडिसंचिक्खे
अलाभो त न तज्जए ॥

गृहस्थो के घरो मे भोजन तैयार हो जाने पर आहार की एषणा करे। आहार थोडा मिले, या कभी न भी मिले, पर सयमी मुनि इसके लिए अनुताप न करे।

'आज मुझे नही मिला, है, कल मिल जाय'—जो इस प्रकार सोचता है, उसे अलाभ कष्ट नही देता।

१६—रोग-परीषह

३२ दुक्खं
वेयणाए दुहट्टिए ।
अदीणो ए
पुट्ठो तत्थऽहियासए ॥

'कर्मो के से रोग होता है'—ऐसा जानकर वेदना से पीडित होने पर दीन न बने। व्याधि से विचलित प्रज्ञा को स्थिर बनाए और पीडा को समभाव से सहन करे।

३३. तेगिच्छं नाभिनन्देज्जा सचिक्खऽत्तगवेसए । एवं खु स ज न , न कारवे ॥	आत्मगवेषक मुनि चिकित्सा का अभिनन्दन न करे, समाधिपूर्वक रहे। यही उसका श्रामण्य है कि वह रोग उत्पन्न होने पर चिकित्सा न करे न कराए।

१७—तृण-स्पर्श-परीषह

३४. अचे लूहस्स तवस्सिणो । तणेसु सय हुज्जा -विराहणा ॥	अचेलक और रूक्षशरीरी तपस्वी साधु को घास पर सोने से शरीर को कष्ट होता है।
३५ निवाएण हवइ वेयणा । एव न सेवन्ति तन्तुजं तण-तज्जिया ॥	गर्मी पड़ने से घास पर सोते बहुत वेदना होती है, यह जान करके तृण-स्पर्श से पीड़ित मुनि वस्त्र धारण नहीं करते है।

१८—मल-परीषह

३६ किलिन्नगाए मेहावी पंकेण व रएण वा । घिंसु वा परितावेण नो परिदेवए ॥	ग्रीष्म ऋतु मे मैल से, रज से परिताप से शरीर के -लिप्त हो जाने पर मेधावी मुनि साता के लिए परिदेवना—विलाप न करे।
३७ वेएज्ज निज्जरा-पेही आरिय ऽणुत्तर । सरीरभेउ त्ति काएण धारए ॥	निर्जरार्थी मुनि अनुत्तर—अद्वितीय श्रेष्ठ आर्यधर्म (वीतरागभाव की साधना) को पाकर शरीर-विनाश के अन्तिम क्षणो तक भी शरीर पर जल्ल—स्वेद-जन्य मैल को रहने दे। उसे समभाव से सहन करे।

१९—सत्कार-पुरस्कार-परीषह

३८ अभिवायणमब्भुट्ठाण
सामी   निमन्तण ।
जे   पडिसेवन्ति
न तेसिं पीहए मुणी ॥

राजा आदि शासकवर्गीय लोगो के द्वारा किए गए अभिवादन, सत्कार एव निमन्त्रण को जो अन्य भिक्षु स्वीकार करते है, मुनि   ी स्पृहा न करे ।

३९ अणुक्कसाई अप्पिच्छे
अन्नाएसी अलो ।
रसेसु नाणुगि
नाणुतप्पेज्ज ॥

अनुत्कर्ष—निरहकार की वृत्ति वाला, अल्प इच्छा , कुलो से भिक्षा लेने वाला अलोलुप भिक्षु रसो मे गृद्ध-आसक्त न हो । प्रज्ञावान् दूसरो को सम्मान पाते देख अनुताप न करे ।

२०—प्रज्ञा-परीषह

४० 'से नूण मए पुव्व
।
जेणाह नाभिजाणामि
पुट्ठो केणइ कण्हुई ॥'

"निश्चय ही मैंने पूर्व काल मे   फल देने वाले अपकर्म किए है, जिससे मै किसी के द्वारा किसी विषय मे पूछे जाने पर   भी उत्तर देना नही   हूँ ।"

४१ 'अह   उइज्जन्ति
।   ।'
एवमस्सासि
कम्मविव ॥

'   फल देने वाले पूर्वकृत कर्म परिपक्व होने पर   मे आते है'—इस प्रकार कर्म के विपाक को   मुनि अपने को   करे ।

२१—   -परीषह

४२ 'निरट्ठगम्मि विरओ
णाओ सुसवुडो ।
जो   नाभिजाणामि
कल्लाण पावग ॥'

"मैं व्यर्थ मे ही मैथुनादि सासारिक सुखो से विरक्त हुआ, इन्द्रिय और मन का सवरण किया । क्योकि धर्म   कारी है या पापकारी है, यह मैं   तो   देख पाता नही हू—" ऐसा मुनि न सोचे ।

४३ 'तवोवहाणमादाय
पडिम पडिवज्जओ ।
एव पि विहरओ मे
न नियट्टई ॥'

"तप और ान को स्वीकार करता हूँ, प्रतिमाओ का भी पालन कर रहा हू, इस विशिष्ट साधनापथ पर विहरण करने पर भी मेरा छद्म अर्थात् ज्ञानावरणादि कर्म का आवरण दूर नही हो रहा है—"ऐसा चिन्तन न करे ।

२२—दर्शन-परीषह

४४ 'नत्थि नूण परे लोए
इड्ढी वावि तवस्सिणो ।
अदुवा वचिओ मि' त्ति
इइ भिक्खू न चिन्तए ॥

"निश्चय ही परलोक नही है, तपस्वी की ऋद्धि भी नही है, मैं तो धर्म के नाम पर ठगा गया हूँ'—भिक्षु ऐसा चिन्तन न करे ।

४५. 'अभू जिणा अत्थि जिणा
अदुवावि भविस्सई ।
मुस ते एवमाहसु'
इइ भिक्खू न चिन्तए ॥

"पूर्व काल मे जिन हुए थे, वर्तमान मे जिन हैं और भविष्य मे जिन होगे'—ऐसा जो कहते हैं, वे झूठ बोलते है"—भिक्षु ऐसा चिन्तन न करे ।

४६ एए परीसहा
कासवेण पवेइया
जे भिक्खू न विहन्ने
पुट्ठो केणइ कण्हुई ॥

—गोत्रीय भगवान् महावीर ने इन सभी परीषहो का किया है । इन्हे जानकर कही भी किसी भी परीषह से स्पृष्ट—आक्रान्त होने पर भिक्षु इनसे पराजित न हो ।

—त्ति बेमि

—ऐसा मैं कहता हू ।

३

चतुरंगीय

, सद्धर्म-   , यथार्थ दृष्टि,   क् श्रम—

ये परिनिर्वाण के चार   हैं।

अनन्त ससारयात्रा पर चली आती जीवन की नौका, बारी-बारी से जन्म और मृत्यु के दो तटो को स्पर्श करती हुई, कभी ऐसे महत्त्वपूर्ण तट पर लग जाती है, जहाँ उसे यात्रा की परेशानी से मुक्त होने के अवसर मिल जाते हैं। इसी विषय की चर्चा इस तीसरे अध्ययन मे है।

मानव-देह से ही मुक्ति होती है। और किसी देह से नही होती। मनुष्य-देह की तरह और भी बहुत से देह है, और उनमे कुछ मनुष्यदेह से भी अच्छे देह है, किन्तु उनमे मुक्ति प्राप्त होने की योग्यता नहीं है। क्यो नही है ? इस 'नही' का कारण है कि मनुष्य के देह मे मानवता, जो आध्यात्मिक जीवन की भूमि है, अल्प प्रयास से प्राप्त हो सकती है। वह पशु आदि के अन्य देहो मे नामुमकिन है। इसका फलित अर्थ है, मनुष्य देह से नही, किन्तु मनुष्यत्व से मुक्ति है। मनुष्यदेह पूर्व कर्म के फल से मिलता है और मनुष्यत्व कर्म फल को निष्फल करने से मिलता है। मनुष्यदेह प्राप्त करने के बाद भी मनुष्यत्व प्राप्त करना परम दुर्लभ है।

मनु   के   दूसरा अग है 'श्रुति'—अर्थात् सद्धर्म का श्रवण। तत्त्ववेत्ताओ के द्वारा जाने गए मार्ग का श्रवण। सद्धर्म के श्रवण से ही व्यक्ति हेय, ज्ञेय एव उपादेय का बोध कर सकता है। मनुष्यत्व प्राप्त होने के बाद भी श्रुति परम दुर्लभ है।

तीसरा अग है श्रद्धा, अर्थात् यथार्थ दृष्टि। सत्य की प्रतीति। कुछ सुन और जान लेने पर भी तत्त्वश्रद्धा का होना आवश्यक है। अत श्रुति के बाद भी सच्ची श्रद्धा का होना परम दुर्लभ है।

अन्तिम है—पुरुषार्थ। चतुर्थ अग है यह। जो जाना है, जो श्रद्धा के रूप मे स्वीकार किया है, उसके अनुसार उसी दिशा मे श्रम अर्थात् पुरुषार्थ करना परम दुर्लभ है। यहाँ आकर और कुछ भी प्राप्त करने के लिए दुर्लभ नही रह जाता है।

मोक्ष-प्राप्ति के ये चार अग है।

तइयं अज   : तृतीय अध्ययन

चाउरंगिज्जं : च रगीय

मूल	हिन्दी अनुवाद
१ चत्तारि परमगाणि दुल्लहाणीह जन्तुणो । माणुसत्त सुई समि य वीरिय ॥	इस ससार मे प्राणियो के लिए चार परम अग दुर्लभ हैं–मनुष्यत्व, सद्धर्म का , और सयम मे पुरुषार्थ ।
२. ारे नाणा-गोत्तासु जाइसु । ा-विहा पुढो विस्सभिया ॥	नाना प्रकार के कर्मो को करके नानाविध जातियो मे उत्पन्न होकर, पृथक्-पृथक् रूप से प्रत्येक ससारी जीव विश्व को स्पर्श कर लेते है–अर्थात् विश्व मे सर्वत्र जन्म लेते है ।
३. एगया देवलोएसु नरएसु वि एगया । एगया आसुर आहाकम्मेहिं गच्छई ॥	अपने कृत कर्मो के अनुसार जीव कभी देवलोक मे, कभी नरक मे और कभी असुर निकाय मे जाता है–जन्म लेता है ।
४ एगया खत्तिओ होई तओ -वोक्कसो । तओ कीड-पयगो य तओ कुन्थु-पिवीलिया ॥	यह जीव कभी क्षत्रिय, कभी च , कभी वोक्कस–वर्णसकर, कभी कुथु और कभी चीटी होता है ।

५ एवमावट्ट-जोणीसु पाणिणो कम्मकिब्बिसा । न निविज्जन्ति ससारे सव्वट्ठेसु व खत्तिया ॥	जिस प्रकार क्षत्रिय लोग चिरकाल तक समग्र ऐश्वर्य एव सुखसाधनो का उपभोग करने पर भी निर्वेद—विरक्ति को प्राप्त नही होते है, उसी प्रकार कर्मो से मलिन जीव अनादि काल से आवर्त-स्वरूप योनिचक्र मे भ्रमण करते हुए भी ससार दशा से निर्वेद नही पाते है—जन्म-मरण के चक्र से मुक्त होने की नही करते है ।
६ -सगेहिं सम्मूढा दुक्खिया -वेयणा । अमाणुसासु जोणीसु विणिहम्मन्ति पाणिणो ॥	कर्मो के सग से अति मूढ, दु खित और वेदना से युक्त प्राणी मनुष्येतर योनियो मे जन्म लेकर पुन - पुन विनिघात—त्रास पाते है ।
७. ।ण तु पहाणाए आणुपुव्वी उ । जीवा सोहिमणु । न्ति मणु ॥	कालक्रम के अनुसार कदाचित् मनुष्यगतिनिरोधक कर्मो के क्षय होने से जीवो को शुद्धि प्राप्त होती है और उसके उन्हे मनुष्यत्व प्राप्त होता है ।
८. माणुस्स विग्गह सुई दुल्लहा । ज सोच्चा पडिवज्जन्ति तव खन्तिमहिंसय ॥	मनुष्यशरीर प्राप्त होने पर भी धर्म का दुर्लभ है, जिसे सुनकर जीव तप, क्षमा और अहिंसा को प्राप्त करते है ।
९ आहच्च परमदुल्लहा । सोच्चा नेआउय मग्ग बहवे परिभस्सई ॥	कदाचित् धर्म का श्रवण हो भी जाए, फिर भी उस पर श्रद्धा का होना परम दुर्लभ है । बहुत से लोग नैयायिक मार्ग—न्यायसगत मोक्षमार्ग को सुनकर भी उससे विचलित हो जाते है ।

१०. ं च लद्धुं ं च
वीरियं पुण दुल्लहं।
बहवे रोयमाणा वि
नो एण पडिवज्जए ॥

श्रुति और श्रद्धा प्राप्त करके भी सयम मे पुरुपार्थ होना अत्यन्त दुर्लभ है। बहुत से लोग सयम मे अभिरुचि रखते हुए भी उसे सम्यक्तया स्वीकार नही कर पाते है।

११ माणु ंमि आयाओ
जो सोच्च सद्दहे।
तवस्सी वीरिय
सवुडे निद्धुणे रय ॥

मनुष्यत्व प्राप्त कर जो धर्म को सुनता है, उसमे श्रद्धा करता है, वह तपस्वी सयम मे पुरुपार्थ कर सवृत (अनाश्रव) होता है, कर्म रज को दूर करता है।

१२ सोही उज्जुयभूयस्स
धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई।
निव्वाण परम जाइ
घय-सित्त व्व पावए ॥

जो सरल होता है, उसे शुद्धि प्राप्त होती है। जो शुद्ध होता है, उसमे धर्म रहता है। जिसमे धर्म है वह घृत से सिक्त अग्नि की तरह परम निर्वाण (विशुद्ध आत्म दीप्ति) को प्राप्त होता है।

१३ विगिंच कम्मुणो हेउ
ं सचिणु खन्तिए।
प ं सरीर हिच्चा
पक्कमई दिस ॥

कर्मो के हेतुओ को दूर करके और क्षमा से यश—सयम का सचय करके वह साधक पार्थिव शरीर को छोडकर ऊर्ध्व दिशा (स्वर्ग अथवा मोक्ष) की ओर जाता है।

१४. विसालिसेहिं सीलेहिं
उत्तर-उत्तरा।
महासुक्का व वि
मन्नन्ता अपुणच्चवं ॥

अनेक प्रकार के शील को पालन करने से देव होते है। उत्तरोत्तर समृद्धि के द्वारा महाशुक्ल—सूर्य चन्द्र की भाति दीप्तिमान् होते है। और तब वे 'स्वर्ग से च्यवन नही होता है'—ऐसा मानने लगते है।

१५ अप्पि देव
-विउव्विणो ।
कप्पेसु चिट्ठन्ति
पुव्वा बहू ॥

एक प्रकार से दिव्य भोगो के लिए अपने को अर्पित किए हुए वे देव ।-नुसार रूप बनाने मे समर्थ होते है। तथा ऊर्ध्व कल्पो मे पूर्व वर्प शत अर्थात् काल तक रहते हैं।

१६ ठिच्चा जहाठाण
आउक्खए चुया ।
उवेन्ति माणुस जोणि
से वसगेऽभिजायई ॥

वहा देवलोक मे यथास्थान अपनी काल–मर्यादा तक ठहरकर, आयु क्षय होने पर वे देव वहा से लौटते हैं, और मनुष्य-योनि को प्राप्त होते हैं। वे वहा दशाग भोग-सामग्री से युक्त होते हैं।

१७ खेत्त वत्थु हिरण्ण च
पसवो -पोरुस ।
चत्तारि -खन्धाणि
तत्थ से उववज्जई ॥

क्षेत्र–खेतो की भूमि, वास्तु–गृह, स्वर्ण, पशु और दास–पौरुपेय–ये चार काम-स्कन्ध जहा होते हैं, वहाँ वे होते हैं।

१८ मित्तव होइ
गोए य व ।
अप्पायके महापन्ने
अभिजाए जसोबले ॥

वे सन्मित्रो से युक्त,, ज्ञातिमान्, उच्च गोत्र वाले, सुन्दर वर्ण वाले, नीरोग, महाप्राज्ञ, अभिजात–कुलीन, यशस्वी और होते है।

१९ भोच्चा माणुस्सए भोए
अप्पडिरूवे अहाउय ।
पुव्व विसुद्ध-सद्धम्मे
केवल बोहि बुज्झिया ॥

जीवनपर्यन्त अनुपम मानवीय भोगो को भोगकर भी पूर्व काल मे विशुद्ध सद्धर्म के आराधक होने के कारण निर्मल बोधि का अनुभव करते है।

२० दुल्लह
सजम पडिवज्जिया ।
त धुयकम्मसे
सिद्धे हवइ सासए ॥

पूर्वोक्त चार अगो को दुर्लभ जानकर साधक सयम धर्म को स्वीकार करते हैं। अनन्तर ं से समग्र कर्मो को दूर कर सिद्ध होते है।

—त्ति बेमि ।

—ऐसा मै कहता हू ।

४

ं स्कृत

जीवन धन से बचाया नही जा सकेगा ।
परिजन के साथ छोड़ देंगे ।

टूटते हुए जीवन को वचाने वाला या टूट जाने पर पुन उसे जोडने वाला कोई भी तो इस ससार मे नही है । मृत्यु के द्वार पर पहुचने के वाद अशरण जीव को कोई भी शरण नही है । जीवन की सुरक्षा के लिए सगृहीत किए गए एक से एक सशक्त साधन अन्त मे दिखाई तक नही देते है । विपदा आने पर परिजन साथ छोड देते है । मृत्यु से वचने के लिए जिस धन को सर्वोत्तम साधन माना जाता है, वही धन कभी मृत्यु का ही कारण बन जाता है । व्यक्ति जीवन के इस सत्य को ध्यान मे रखे । धन, परिजन आदि सुरक्षा के तमाम साधनो के आवरणो मे छुपी हुई असुरक्षा और अशुभ कर्म-फल-भोग को भूले नही । एक दिन आता है, जव इन साधनो की अन्तिम निष्फलता प्रगट होगी । अत पहले से ही व्यक्ति को सतर्क रहना चाहिए ।

धन एव परिजन आदि के प्रलोभन व्यक्ति को सन्मार्ग से वहका देते है । साधन एक साधन है । उसकी एक वहुत छोटी सी क्षुद्र सीमा है । वही तक उसका अर्थ है । इससे आगे उसको महत्व देना एक भ्रान्ति है, और कुछ नही । भ्रान्ति मानव को दिग्भ्रान्त कर देती है । उसका हिताहित-विवेक नष्ट हो जाता है । यही बात धर्म और दर्शन की भ्रान्ति के सम्बन्ध मे है । धर्म और दर्शन की भ्रान्त धारणाए भी व्यक्ति को बहका देती है । वे सबसे अधिक खतरनाक है । भ्रान्त धारणाओ की प्ररूपणा करने वाले लोग भगवान् महावीर की दृष्टि में अधार्मिक है, असस्कारी है ।

च अज्झयणं : चतुर्थ अध्ययन

: असंस्कृत

मूल	हिन्दी अनुवाद
१ जीविय मा पमायए जरोवणीयस्स हु नत्थि । एव वियाणाहि जणे विहिंसा अ । गहिन्ति ॥	टूटा जीवन साधा नही जा , अत प्रमाद मत करो। बुढापा आने पर कोई शरण नही है। यह विचार करो कि 'प्रमादी, हिंसक और असयमी मनुष्य समय पर किसकी शरण लेंगे।'
२. जे पावकम्मेहि धण मणु समाययन्ती अमइं गहाय। पहाय ते पासपयट्टिए नरे वेराणुबद्धा उवेन्ति ॥	जो मनुष्य के कारण पाप-प्रवृत्तियो से धन का न करते है, वे के जाल मे पडे हुए और वैर (कर्म, से बधे हुए अन्त मे मरने के बाद नरक मे जाते है।
३ तेणे जहा सन्धि-मुहे गहीए सकम्मुणा किच्चइ पावकारी। एव पेच्च च लोए न मोक्ख अत्थि ॥	जैसे सेंध लगाते हुए सधि-मुख मे गया पापकारी चोर अपने किए हुए कर्म से छेदा जाता है, वैसे ही जीव अपने कृत कर्मो के कारण लोक तथा परलोक मे छेदा है। किए हुए कर्मो को भोगे बिना छुटकारा नही है।

४ ' ारभावन्न प अट्ठा
साहारण ज च करेइ ।
ते उ वेय-काले
न बन्धवय उवेन्ति ॥

ससारी जीव अपने और अन्य बधु-बाधवो के लिए साधारण (सबके लिए समान लाभ की इच्छा से किया जाने वाला) कर्म करता है, किन्तु उस कर्म के फलोदय के समय कोई भी बन्धु बन्धुता नही दिखाता है—हिस्सेदार नही होता है ।

५ वित्तेण ' न लभे पमत्ते
सि लोए अदुवा परत्था ।
दीव-प्पणट्ठे व अणन्त-मोहे
नेयाउय दट्ठुमदट्ठुमेव ॥

प्रमत्त मनुष्य इस लोक मे और परलोक मे धन से त्राण-सरक्षण नही पाता है । अधेरे मे जिसका दीप बुझ गया हो उसका पहले प्रकाश मे देखा हुआ मार्ग भी न देखे हुए की तरह जैसे हो जाता है, वैसे ही अनन्त मोह के कारण प्रमत्त व्यक्ति मोक्ष-मार्ग को देखता हुआ भी नही देखता है ।

६. 'सु यावी पडिबुद्ध-जीवी
न वीससे पण्डिए आसु-पन्ने ।
घोरा मुहुत्ता लं सरीरं
भारण्ड ीव चरेऽप्पमत्तो ॥

आशुप्रज्ञावाला ज्ञानी साधक सोए हुए लोगो मे भी प्रतिक्षण जागता रहे । प्रमाद मे एक क्षण के लिए भी विश्वास न करे । समय भयकर है, शरीर दुर्बल है । अत भारण्ड पक्षी की तरह अप्रमादी होकर विचरण करना चाहिए ।

७ चरे इ परिसकमाणो
ज किंचि ' मण्णमाणो ।
लाभन्तरे जीविय वूहइत्ता
परिन्नाय धसी ॥

साधक पग-पग पर दोषो की सभावना को ध्यान मे रखता हुआ चले, छोटे से छोटे दोष को भी पाश (जाल) समझकर सावधान रहे । नये-नये गुणो के लाभ के लिए जीवन को सुरक्षित रखे । और जब लाभ न होता दीखे तो परिज्ञानपूर्वक धर्म-साधना के साथ शरीर को छोड दे ।

८ निरोहेण उवेइ मो
आसे जहा सि[illegible] - धारी।
पुव्वाइ इ चरेऽप्पमत्तो
तम्हा मुणी [illegible] मुवेइ मोक्ख ॥

शिक्षित और वर्म (कवच)-धारी अश्व जैसे युद्ध से पार हो है, वैसे ही स्वच्छन्दता का निरोध करने वाला साधक ससार से पार हो है। पूर्व जीवन मे अप्रमत्त होकर विचरण करने वाला मुनि शीघ्र ही मोक्ष को प्राप्त होता है।

९ स पुव्वमेव न लभेज्ज
एसोवमा सासय-वाइयाण।
विसीयई सिढिले आउयमि
कालोवणीए सरीरस्स भेए ॥

'जो पूर्व जीवन मे अप्रमत्त—जागृत नही रहता, वह बाद मे भी अप्रमत्त नही हो पाता है—'यह ज्ञानी जनो की उपमा—धारणा है। 'अभी क्या है, बाद मे अन्तिम समय अप्रमत्त हो जाएँगे—'यह शाश्वतवादियो (अपने को अजर-अमर समझने वाले अज्ञानियो) की मिथ्या धारणा है। पूर्व जीवन मे प्रमत्त रहने वाला व्यक्ति, आयु के शिथिल होने पर मृत्यु के समय, शरीर छूटने की स्थिति आने पर विषाद को पाता है।

१० खिप्पं न सक्केइ विवेगमेउ
तम्हा समुट्ठाय पहाय कामे।
समिच्च लोय महेसी
-रक्खी चरमप्पमत्तो ॥

कोई भी तत्काल विवेक (त्याग) को प्राप्त नही कर । अत अभी से कामनाओ का परित्याग कर, सन्मार्ग मे उपस्थित होकर, समत्व दृष्टि से लोक (स्वजन-परजन आदि) को अच्छी तरह जानकर क महर्षि होकर विचरण करे।

११ मोह-गुणे चरन्त । फुसन्ती च न तेसु भिक्खू पउस्से ॥	वार-बार मोह-गुणो पर—रागद्वेप की वृत्तियो पर विजय पाने को यत्नशील सयम मे विचरण करते श्रमण को अनेक प्रकार के प्रतिकूल स्पर्श अर्थात् शब्दादि विपय परेशान करते है। किन्तु भिक्षु उन पर मन से भी द्वेप न करे।
१२ मन्दा य । -लोहणि तह-प्पगारेसु न कुज्जा । रक्खेज्ज कोह, विणएज्ज न सेवे, पयहेज्ज लोह ॥	अनुकूल स्पर्श बहुत लुभावने होते हैं। किन्तु साधक तथाप्रकार के विपयो मे मन को न लगाए। क्रोध से अपने को बचाए रखे। मान को दूर करे। माया का सेवन न करे। लोभ को त्यागे।
१३ जे तुच्छ परप्पवाई ते -दोसाणुगया । 'अहम्मे' त्ति दुगुंछमाणो कखे गुणे सरीर-भेओ ॥	जो व्यक्ति सस्कारहीन है, तुच्छ है और परप्रवादी हैं, जो प्रेय-राग और द्वेप मे फसे हुए है, वासनाओ के दास हैं, वे 'धर्म रहित हैं'—ऐसा जानकर साधक उनसे दूर रहे। शरीर-भेद के अन्तिम क्षणो तक सद्गुणो की आराधना करे।
—त्ति बेमि।	—ऐसा मैं कहता हू।

८ • निरोहेण उवेइ मोक्ख
आसे जहा सि -चम्मधारी ।
पुव्वाइ इ चरेऽप्पमत्तो
तम्हा मुणी ि मुवेइ मोक्ख ।।

शिक्षित और वर्म (कवच)–धारी अश्व जैसे युद्ध से पार हो जाता है, वैसे ही स्वच्छन्दता का निरोध करने वाला साधक ससार से पार हो जाता है। पूर्व जीवन मे होकर विचरण करने वाला मुनि शीघ्र ही मोक्ष को प्राप्त होता है।

९ स पुव्वमेव न लभेज्ज ।
एसोवमा स -वाइयाण ।
विसीयई सिढिले आउयमि
ीवणीए सरीरस्स भेए ।।

'जो पूर्व जीवन मे अप्रमत्त–जागृत नही रहता, वह बाद मे भी अप्रमत्त नही हो पाता है–'यह ज्ञानी जनो की उपमा–धारणा है। 'अभी क्या है, बाद मे अन्तिम समय अप्रमत्त हो जाएँगे—'यह शाश्वतवादियो (अपने को अजर-अमर समझने वाले अज्ञानियो) की मिथ्या धारणा है। पूर्व जीवन मे प्रमत्त रहने वाला व्यक्ति, आयु के शिथिल होने पर मृत्यु के समय, शरीर छूटने की स्थिति आने पर विषाद को पाता है।

खिप्प न सक्केइ विवेगमेउ
तम्हा समुट्ठाय पहाय कामे ।
समिच्च लोय महेसी
- ी चरमप्पमत्तो ।।

कोई भी तत्काल विवेक (त्याग) को प्राप्त नही कर सकता। अत अभी से कामनाओ का परित्याग कर, सन्मार्ग मे उपस्थित होकर, समत्व दृष्टि से लोक (स्वजन-परजन आदि समग्रजन) को अच्छी तरह जानकर क महर्षि होकर विचरण करे।

११ मोह-गुणे जयन्त
च ।
फुसन्ती च
न तेसु भिक्खू पउस्से ॥

वार-वार मोह-गुणो पर—रागद्वेप की वृत्तियो पर विजय पाने को यत्नशील सयम मे विचरण करते श्रमण को अनेक प्रकार के प्रतिकूल स्पर्श अर्थात् शब्दादि विपय परेशान करते है। किन्तु भिक्षु उन पर मन से भी द्वेप न करे।

१२ य । -लोहणिज्जा
तह-प्पगारेसु न कुज्जा ।
रक्खेज्ज कोह, विणएज्ज
न सेवे, पयहेज्ज लोह ॥

अनुकूल स्पर्श वहुत लुभावने होते है। किन्तु साधक तथाप्रकार के विपयो मे मन को न लगाए। क्रोध से अपने को बचाए रखे। मान को दूर करे। माया का सेवन न करे। लोभ को त्यागे।

१३ जे तुच्छ परप्पवाई
ते -दोसाणुगया ।
एए 'अहम्मे' त्ति दुगुछमाणो
गुणे सरीर-भेओ ॥

जो व्यक्ति सस्कारहीन है, तुच्छ है और परप्रवादी हैं, जो प्रेय-राग और द्वेप मे फसे हुए हैं, वासनाओ के दास है, वे 'धर्म रहित हैं'—ऐसा जानकर साधक उनसे दूर रहे। शरीर-भेद के अन्तिम क्षणो तक सद्‌गुणो की आराधना करे।

—त्ति ।

—ऐसा मैं कहता हू।

५

ममरणीय

मृत्यु और मृत्यु के भय से मुक्ति ।

हजारो मनुष्य ने पूछे है और हजारो ही समाधान उसे मिले हैं ? किन्तु कुछ ऐसे विलक्षण प्रश्न है, जिनका अनेक वार समाधान होने पर भी प्रश्नत्व मिटा नही है। ऐसे ही प्रश्नो मे जन्म और मृत्यु का प्रश्न भी है। प्रत्येक व्यक्ति का यह प्रश्न है और प्रत्येक व्यक्ति समाधान की खोज मे है।

आत्मा की मृत्यु नही होती है। आत्मा द्रव्यदृष्टि से सनातन है, अत वह अज है, अजर है, अमर है।

शरीर की भी मृत्यु नही होती। शरीर भी मूल पुद्गल द्रव्य की दृष्टि से है, ध्रुव है।

क्या आत्मद्रव्य की पर्याय का परिवर्तन मृत्यु है ?

नही, जिस मृत्यु की चर्चा यहा है वह आत्म द्रव्य की प्रतिक्षण उत्पादव्ययशील पर्याय के परिवर्तन से सम्बन्धित नही है।

तव क्या शरीर का परिवर्तन मृत्यु है ?

नही, वह भी नही। यहा केवल शरीर के परिवर्तन को भी मृत्यु नही कहते हैं।

तव मृत्यु क्या है ?

आत्मा का शरीर को छोडना 'मृत्यु' है।

आत्मा शरीर को क्यो छोडता है ?

दिया क्यो बुझ जाता है ?

जलते-जलते तेल समाप्त हो जाता है, और दिया बुझ जाता है।

समय आता है, आत्मा और शरीर को जोडे रखने वाला आयुष्कर्म भी प्रतिक्षण क्षीण होता-होता अन्त मे सर्वथा क्षीण हो जाता है, और मृत्यु हो जाती है।

मृत्यु का दु ख क्यो है ?

मृत्यु को नही जाना है, इसलिए मृत्यु का दु ख है। यह अज्ञान ही मृत्यु के सम्बन्ध मे भय पैदा करता है, फलत दु ख का कारण बनता है।

क्या मृत्यु के भय से मुक्त हुआ जा सकता है ?

हाँ, मृत्यु को जानकर मृत्यु के भय से मुक्त हुआ जा है, किन्तु मृत्यु को मृत्यु से नही जाना जा सकता है।

वरन् मृत्यु को जीवन से जाना जा सकता है।

आत्मा और शरीर के यौगिक जीवन से नही,

किन्तु मौलिक आत्मद्रव्य के जीवन से—

स्वय की सत्ता के बोध से—

स्वस्वरूप मे रमणता से—सलीनता से।

इस बोध से मृत्यु का भय मिट जाता है, केवल मृत्यु रह जाती है। और इसी मृत्यु को सूत्रकार ने पण्डितो का सकाम मरण कहा है। और वह मृत्यु, जिसमे भय, खेद और कष्ट है, आत्मज्ञान नही है, वह बालजीवो का—अज्ञानियो का अकाम मरण है।

साधक सकाम मरण की अपेक्षा करे, अकाम मरण की नही।

सकाम मरण सयम से और आत्मबोध से होता है।

अकाम मरण असयम से और आत्मअज्ञान से होता है।

पं अज्झय : पां अध्ययन

अ -मरणिज्जं : अ -मरणीय

मूल	हिन्दी अनुवाद
१ अण्णवंसि महोहंसि एगे तिण्णे दुरुत्तरे। एगे महापन्ने पट्ठमुदाहरे ॥	एक सागर की भाँति है, प्रवाह विशाल है, उसे तैर कर दूसरे तट पर पहुचना अतीव कष्टसाध्य है। फिर भी लोग उसे पार कर गये हैं। उन्ही मे से एक महाप्राज्ञ (महावीर) ने यह स्पष्ट किया था।
२ सन्तिमे य दुवे मारणन्तिया। - चेव म - तहा ॥	मृत्यु के दो (भेद या रूप) कहे गये हैं— मरण और मरण।
३ तु भवे। पण्डियाण सकामं तु उक्कोसेण सइं भवे ॥	बालजीवो के अकाम मरण बार-बार होते हैं। पण्डितो का सकाम मरण से-अर्थात् केवल ज्ञानी की उत्कृष्ट भूमिका की दृष्टि से एक बार होता है।
४ तत्थिमं महावीरेण देसियं। -गिद्धे जहा बाले भिसं कूराइं कुव्वई ॥	महावीर ने दो स्थानो मे से प्रथम के विषय मे कहा है कि काम-भोग मे बाल जीव—अज्ञानी आत्मा क्रूर कर्म करता है।

५ जे गिद्धे कामभोगेसु
एगे गच्छई।
'न मे दिट्ठे परे लोए
चक्खु-दिट्ठा रई॥'

जो काम-भोगो मे होता है, वह कूट (हिंसा एव मिथ्या भाषण) की ओर जाता है।

वह कहता है-"परलोक तो मैंने देखा नही है। और यह रति (सासारिक सुख) आखो के सामने है-"

६ 'हत्थ इमे
कालिया जे ।
को परे लोए
अत्थि वा नत्थि वा पुणो॥'

" " के ये कामभोग-सम्बन्धी सुख तो हस्तगत हैं। भविष्य मे मिलने वाले सुख सदिग्ध है। कौन जानता है—परलोक है भी या नही-"

७ 'जणेण सद्धि होक्खामि'
बाले पगब्भई।
-भोगाणुराएण
केसं संपडिवज्जई॥

"मैं तो आम लोगो के साथ रहूँगा। अर्थात् जो उनकी स्थिति होगी, वह मेरी होगी"—ऐसा मानकर अज्ञानी मनुष्य भ्रष्ट हो जाता है। किन्तु अन्ततोगत्वा वह कामभोग के अनुराग से कष्ट ही पाता है।

८ तओ से दण्डं समारभई
तसेसु थावरेसु य।
अट्ठाए य अणट्ठाए
भूयग्गामं विहिंसई॥

फिर वह त्रस एव स्थावर जीवो के प्रति दण्ड का प्रयोग करता है। प्रयोजन से कभी निष्प्रयोजन ही प्राणी-समूह की हिंसा करता है।

९ हिंसे बाले मुसावाई
पिसुणे सढे।
भुंजमाणे सुरं मंसं
सेयमेयं ति मन्नई॥

जो हिंसक, बाल-अज्ञानी, मृषावादी, ी, चुगलखोर तथा शठ (धूर्त) होता है वह मद्य एव मास का सेवन करता हुआ यह मानता है कि यही श्रेय है।

१०.
वित्ते गिद्धे य इत्थिसु।
दुहओ संचिणइ
सिसुणागु व्व मट्टियं॥

वह शरीर और वाणी से मत्त होता होता है, धन और स्त्रियों में रहता है। वह राग और द्वेष दोनों से वैसे ही कर्म-मल संचय करता है, जैसे कि शिशुनाग (केंचुआ) अपने मुख और शरीर दोनो से मिट्टी करता है।

११ तओ पुट्ठो आयंकेणं
गिलाणो परितप्पई।
पभीओ परलोगस्स
कम्माणुप्पेहि अप्पणो॥

फिर वह भोगासक्त बालजीव - रोग से होने पर ग्लान (खिन्न) होता है, परिताप करता है, अपने किए हुए कर्मों को यादकर परलोक से भयभीत होता है।

१२ सुया मे नरए
असीलाणं च जा गई।
वेयणा॥

वह सोचता है, मैंने उन नारकीय स्थानो के विषय मे सुना है, जो शील से रहित क्रूर कर्म वाले अज्ञानी जीवो की गति है, और जहाँ तीव्र वेदना है।

१३ तत्थोववाइयं
मेयमणुस्सुयं।
आहाकम्मेहिं गच्छन्तो
सो परितप्पई॥

जैसा कि मैंने परम्परा से यह सुना है—

उन नरको मे औपपातिक स्थिति है। अर्थात् वहाँ कुम्भी आदि मे तत्काल जन्म होजाता है। आयुष्य क्षीण होने के पश्चात् अपने कृतकर्मो के अनुसार वहा हुआ प्राणी परिताप करता है।

१४ जहा सागडिओ
छिच्चा महापहं।
विसमं मग्गमोइण्णो
अक्खे भग्गमि सोयई॥

जैसे कोई गाडीवान् समतल महान् मार्ग को जानता हुआ भी उसे छोडकर विषम मार्ग से चल है और तब गाडीकी धुरी टूट जानेपर शोक करता है।

१५ एवं ˙विउक्कम्म
अहम्मं पडिवज्जिया ।
बाले मच्चु-मुह
अक्खे भग्गे व सोयई ॥

इसी प्रकार जो धर्म का उल्लघन कर अधर्म को स्वीकार है, वह मृत्यु के मुख मे पडा हुआ बालजीव शोक करता है, जैसे कि धुरी के टूटने पर गाडीवान् शोक करता है ।

१६ तओ से मरणन्तमि
सन्तस्सई ।
-मरण मरई
धुत्ते व कलिना जिए ॥

मृत्यु के समय वह अज्ञानी परलोक के भय से होता है। एक ही दाव मे सब कुछ हार जाने वाले धूर्त—जुआरी की तरह शोक हुआ अकाम मरण से मरता है ।

१७ एयं -मरणं
˙तु पवेइयं ।
एत्तो -मरण
पण्डियाणं सुणेह मे ॥

यह अज्ञानी जीवो के अकाम मरण का प्रतिपादन किया है। अब यहाँ से आगे पण्डितो के मरण को मुझसे सुनो—

१८. मरणं पि सपु॰
जहा मेयमणुस्सुयं ।
विप्पसण्णमणाघायं
॰ ।मओ ॥

जैसा कि मैंने परम्परा से यह सुना है कि—

सयत और जितेन्द्रिय पुण्यात्माओ का मरण अति (अनाकुल) और आघातरहित होता है ।

१९ न इम सव्वेसु भिक्खूसु
न इमं सव्वेसुऽगारिसु ।
नाणा-सीला अगारत्था
विसम-सीला य भिक्खुणो ॥

यह सकाम मरण न सभी भिक्षुओ को प्राप्त होता है और न सभी गृहस्थो को। गृहस्थ नाना प्रकार के शीलो से होते हैं, जबकि बहुत से भिक्षु भी विषम—अर्थात् विकृत शीलवाले होते हैं ।

२० सन्ति एगेहिं भिक्खूहिं
संजमुत्तरा ।
गारत्थेहि य सव्वेहिं
साहवो संजमुत्तरा ॥

कुछ भिक्षुओ की अपेक्षा गृहस्थ सयम मे श्रेष्ठ होते है। किन्तु शुद्धाचारी साधुजन सभी गृहस्थो मे सयम मे श्रेष्ठ हैं ।

२१ चीराजिणं नगिणिणं
जडी-संघाडि-मुण्डिणं ।
एयाणि वि न तायन्ति
दुस्सीलं परियागयं ॥

दुराचारी साधु को चीवर–वस्त्र, अजिन–मृगछाला आदि चर्म, नग्नत्व, जटा, गुदडी, शिरोमुंडन आदि बाह्याचार, नरकगति मे जाने से नही बचा सकते ।

२२ पिण्डोलए व दुस्सीले
नरगाओ न मुच्चई ।
भिक्खाए वा गिहत्थे वा
सुव्वए कम्मई दिवं ॥

भिक्षावृत्ति से निर्वाह करने वाला भी यदि दुःशील है तो वह नरक से मुक्त नही हो सकता है । भिक्षु हो या गृहस्थ, यदि वह सुव्रती है, तो स्वर्ग मे जाता है ।

२३ अगारि-सामाइयंगाइं
सड्ढी काएण फासए ।
पोसहं दुहओ पक्खं
एगरायं न हावए ॥

श्रद्धावान् गृहस्थ सामायिक साधना के सभी अंगो का काया से स्पर्श करे, अर्थात् आचरण करे । कृष्ण और शुक्ल दोनो पक्षो मे पौषध व्रत को एक रात्रि के लिए भी न छोडे ।

२४ एवं सिक्खा-समावन्ने
गिह-वासे वि सुव्वए ।
मुच्चई छवि-पव्वाओ
गच्छे जक्ख-सलोगयं ॥

इस प्रकार धर्म-शिक्षा से सम्पन्न सुव्रती गृहवास मे रहता हुआ भी मानवीय औदारिक शरीर को छोडकर देवलोक मे जाता है ।

२५ अह जे संवुडे भिक्खू
दोण्हं अन्नयरे सिया ।
सव्व-दुक्ख-प्पहीणे वा
देवे वावि महड्ढिए ॥

संवृत–संयमी भिक्षु की दोनो मे से एक स्थिति होती है–या तो वह सदा के लिए सब दुःखो से मुक्त होता है अथवा महान् ऋद्धिवाला देव होता है ।

२६ उत्तराइं विमोहाइं
जुइमन्ताणुपुव्वसो ।
समाइण्णाइं जक्खेहिं
आवासाइं जससिणो ॥

देवताओ के आवास अनुक्रम से ऊर्ध्व अथवा उत्तम, मोहरहित, द्युतिमान्, तथा देवो से परिव्याप्त होते है । उनमे रहने वाले देव यशस्वी—

२७	दीहाउया इड्ढिमन्ता समिद्धा -रूविणो । अहुणोववन्न सा भुज्जो अच्चिमालि-प्पभा ॥	दीर्घायु, ऋद्धिमान्, दीप्तिमान्, ा- नुसार रूप धारण करने वाले और अभी-अभी उत्पन्न हुए हो, ऐसी भव्य कांति वाले एव सूर्य के समान तेजस्वी होते हैं ।
२८.	ताणि ठाणाणि गच्छन्ति सिक्खित्ता । भिक्खाए वा गिहत्थे वा जे सन्ति परिनिव्वुडा ॥	भिक्षु हो या गृहस्थ, जो हिंसा आदि से निवृत्त होते हैं, वे और तप का कर उक्त देव लोको मे जाते है ।
२९	तेसिं सोच्चा सपुज्जाणं ीमओ । न सतसन्ति मरणन्ते सीलवन्ता बहुस्सुया ॥	सत्पुरुषो के द्वारा पूजनीय उन सयत और जितेन्द्रिय आत्माओ के उक्त वृत्तान्त को सुनकर शीलवान् बहुश्रुत साधक मृत्यु के मे भी सत्रस्त नही होते हैं ।
३०.	तुलिया विसेसमादाय खन्तिए । विप्पसीएज्ज मेहावी तहा-भूएण ॥	बालमरण और पडितमरण की परस्पर तुलना करके मेधावी विशिष्ट सकाम मरण को स्वीकार करे, और मरण काल मे दया धर्म एव क्षमा से पवित्र तथाभूत से रहे ।
३१	तओ अभिप्पेए ढी तालिसमन्तिए । विणएज्ज लोम-हरिसं भेय देहस्स ॥	जब मरण-काल आए, तो जिस से प्रव्रज्या स्वीकार की थी, तदनुसार ही भिक्षु गुरु के समीप पीडाजन्य लोमहर्ष को दूर करे, तथा शान्तिभाव से शरीर के भेद अर्थात् पतन की प्रतीक्षा करे ।
३२	अह कालम्मि सपत्ते अ समु । -मरण मरई तिण्हमन्नयर मुणी ॥	मृत्यु का समय आने पर मुनि भक्त-परिज्ञा, इगिनी और प्रायोपगमन—इन तीनो मे से किसी एक को स्वीकार कर समाधिपूर्वक सकाम मरण से शरीर को छोडता है ।
	—त्ति ।	—ऐसा मैं कहता हू ।

६

ुल्लक निर्ग्रंन्थीय

ग्रन्थ बन्धन है, विद्यानुशासन भी बन्धन है।

प्रस्तुत अध्ययन का नाम 'क्षुल्लक निर्ग्रन्थ' है। निर्ग्रन्थ जैन आगमो का महत्वपूर्ण शब्द है। भगवान् महावीर को भी 'निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र' के नाम से अनेक जगह सम्बोधित किया है। भगवान महावीर के परि-निर्वाण के बाद कई शताब्दियो तक भगवान् महावीर के सघ और धर्म को भी 'निर्ग्रन्थ धर्म' व हा गया है।

स्थूल और सूक्ष्म दोनो प्रकार के ग्रन्थ का परित्याग कर क्षुल्लक अर्थात् साधु निर्ग्रन्थ होता है। स्थूलग्रन्थ का अर्थ है—आवश्यकता के अति-रिक्त वस्तुओ को जोडकर रखना और सूक्ष्म ग्रन्थ का अर्थ है—'मूर्छा।'

राग और द्वेष के बन्धन को भी 'ग्रन्थ' कहते है। निर्ग्रन्थ होने के लिए साधु इसका भी परित्याग करता है। ग्रन्थ का मूल अर्थ 'गाठ' है, फिर भले वह बाहर की हो, या अन्दर की।

अज्ञान दुख का कारण है, किन्तु भाषा का ज्ञान या कोरा सैद्धा-न्तिक भी दुख को दूर नही कर सकता। जो कहता अधिक है, जीवन की पवित्रता का काफी ज्ञान बघारता है, किन्तु तदनुसार करता कुछ भी नही है, वह अपने कोरे से मुक्तिलाभ नही कर पाता है। ज्ञान, जो केवल ग्रन्थ तक सीमित है, जीवन मे उतरा नही है, वह भी ग्रन्थ है, भार है, बन्धन है। सच्चा साधु इस ग्रन्थ से भी मुक्त होता है।

ठ : न

ड्डागि ठिज्जं : ुल्लक निर्ग्रन्थीय

मूल	हिन्दी अनुवाद
१ ऽविज्जापुरिसा सव्वे ते वुक्खसभवा । लुप्पन्ति बहुसो मूढा ससारमि अणन्तए ॥	जितने अविद्यावान्—अज्ञानी पुरुष हैं, वे सब दु ख के है। वे विवेकमूढ ससार मे बार-बार लुप्त होते हैं।
२ समियख पडिए तम्हा पासजाईपहे बहू । अप्पणा सच्चमेसेज्जा मेत्ति भूएसु कप्पए ॥	इसलिए पण्डित पुरुष अनेकविध बन्धनो की एवं जातिपथो (जन्म-मरण के हेतु मोहादि भावकर्मो) की समीक्षा करके स्वय सत्य की खोज करे और विश्व के सब प्राणियो के प्रति मत्री का भाव रखे।
३ । पिया ण्हुसा । पुत्ता य ओ । ते मम ाय लुप्पन्तस्स सकम्मुणा ॥	अपने ही कृत कर्मो से लुप्त—पीडित रहने वाले मेरी रक्षा करने मे माता-पिता, पुत्रवधू, भाई, पत्नी तथा औरस पुत्र (आत्म-जात) समर्थ नही हैं।
४ एयमट्ठ सपेहाए पासे समियदसणे । छिन्द गेहिं सिणेहं च न कखे पुव ॥	्रष्टा अपनी बुद्धि से इस अर्थ की को देखे। आसक्ति तथा स्नेह का छेदन करे। किसी के पूर्व परिचय की भी अभिलाषा न करे।

५ ग मणिकुडलं पसवो दासपोरुसं । सव्वमेयं चइत्ताणं कामरूवी भविस्ससि ।।	गौ—गाय और बैल, घोडा, मणि, कुण्डल, पशु, दास और अन्य सहयोगी पुरुष—इन सबका परित्याग करने वाला साधक परलोक मे कामरूपी देव होगा ।
६ थावरं जगमं चेव धण्णं उ । पच कम्मेहिं दुक्खाउ मोयणे ।।	कर्मों से दुःख पाते हुए प्राणी को स्थावर-जगम-अर्थात् चल-अचल सपत्ति, धन, धान्य और उपस्कर—गृहोपकरण भी दुःख से मुक्त करने मे समर्थ नही होते हैं ।
७ अ सव्वओ दिस्स पाणे पियायए । न हणे पाणिणो पाणे भयवेराओ उवरए ।।	'सबको सब तरह से अध्यात्म—सुख प्रिय है, सभी प्राणियो को । जीवन प्रिय है'—यह जानकर भय और वैर से उपरत किसी भी प्राणी के प्राणो की हिंसा न करे ।
८ दिस्स नायएज्ज तणामवि । दोगुछी णो पाए दिन्नं भुजेज्ज भोयण ।।	(चोरी) नरक है, यह जानकर बिना दिया हुआ एक तिनका भी मुनि न ले । असयम के प्रति जुगुप्सा रखने मुनि अपने पात्र मे गृहस्थ द्वारा दिया हुआ ही भोजन ग्रहण करे ।
९ इहमेगे उ मन्नन्ति । आयरियं विदित्ताणं सव्वदुक्खा विमुच्चई ।।	इस ससार मे लोग मानते है कि—'पापो का परित्याग किए बिना ही केवल आर्य—तत्वज्ञान आचरण को जानने-भर से ही जीव सब दुःखो से मुक्त हो जाता है ।'
१० । अकरेन्ता य बन्ध - मोक्खपइण्णिणो । - विरियमेत्तेण समासासेन्ति ।।	जो बन्ध और मोक्ष के सिद्धान्तो की तो करते हैं, कहते बहुत है, किन्तु करते नही हैं, वे ज्ञानवादी केवल वाग्वीर्य से—अर्थात् वाणी के बल से अपने को करते रहते हैं ।

११ न चित्ता तायए
 ो विज्जाणुसासणं ?
विसन्ना -कम्मेहिं
 पि णिणो ॥

विविध भाषाएं रक्षा नही करती हैं, विद्याओ का अनुशासन भी कहा सुरक्षा देता है ? जो इन्हे सरक्षक मानते है, वे अपने ो पण्डित मानने वाले ी जीव पाप कर्मों मे मग्न है, डूबे हुए है।

१२ जे केई सरीरे
 रूवे य सो।
मणसा कायवक्केण
सव्वे ते ॥

जो मन, और काया से शरीर मे, शरीर के वर्ण और रूप मे सवथा हैं, वे सभी अपने लिए दुःख उत्पन्न करते है।

१३ दीहमद्धाण
 म्मि अणतए।
तम्हा सव्वदिस
अप्पमत्तो परिव्वए ॥

उन्होंने इस अनन्त ससार मे लम्बे मार्ग को स्वीकार किया है। इसलिए सब ओर (सर्वदिशाओ को—जीवो के उत्पत्ति स्थानो को) देख-भालकर साधक अप्रमत्त भाव से विचरण करे।

१४ बहिया य
 खे कयाइ वि।
पुव्व - ठाए
इम देह समुद्धरे ॥

ऊर्ध्व (मुक्ति का) लक्ष्य रखने वाला साधक कभी भी बाह्य विषयो की न करे। पूर्व कर्मों के क्षय के लिए ही इस शरीर को धारण करे।

१५ विविच्च कम्मुणो हेउ
कालकखी परिव्वए।
 पिडस्स
 ण भक्खए ॥

प्राप्त का ज्ञाता कर्म के हेतुओ को दूर करके विचरण करे। गृहस्थ के द्वारा अपने लिए तैयार किया गया आहार और पानी आवश्यकतापूर्ति-मात्र उचित परिमाण मे ग्रहण कर सेवन करे।

१६ स... न कुव्वेज्जा
लेव मा सजए।
पक्खी पत्त स
निरवेक्खो परिव्वए ॥

साधु लेशमात्र भी सग्रह न करे, पक्षी की तरह सग्रह से निरपेक्ष रहता हुआ पात्र लेकर भिक्षा के लिए विचरण करे।

१७ एसणासमिओ लज्जू गामे अणियओ चरे। अप्पमत्तो प ेहि पिंड गवेसए ॥	एषणा समिति से युक्त लज्जावान् सयमी मुनि गावो मे अनियत विहार करे, अप्रमत्त रहकर गृहस्थो मे पिण्डपात—भिक्षा की गवेषणा करे।
१८ एव से उदाहु अणुत्तरनाणी अणुत्तरदसी अणुत्तरनाण धरे। अरहा नायपुत्ते भगवं वेसालिए वियाहि ॥	अनुत्तर ज्ञानी, अनुत्तरदर्शी, अनुत्तर ज्ञान-दर्शन के धर्ता, अर्हन्–तत्त्व के व्याख्याता, ज्ञातपुत्र वैशालिक (तीर्थङ्कर महावीर) ने ऐसा कहा है।
—त्ति बेमि।	—ऐसा मैं कहता हू।

७

उरभ्रीय

और मृत्यु का ण आसक्ति है।
अनासक्ति मे है।

इन्द्रिया क्षणिक है। इन्द्रियो के विपय क्षणिक हैं। फलत इन्द्रियो से मिलने वाला सुख भी क्षणिक है। इन क्षणिक सुखो के प्रलोभनो को, इनके भविष्य मे होने वाले विकृत परिणामो को साधक न भूले। ऐसा न हो कि भ्रान्तिवश साधक थोडे-से के लिए अपनी कोई वडी हानि कर ले। इस विपय को इस अध्ययन मे बहुत सुन्दर एव व्यावहारिक पाच सरल उदाहरणो से स्पष्ट किया है। वे पाच उदाहरण इस प्रकार है–

१—एक मालिक मेमने (भेड का बच्चा मेढा) को बहुत अच्छा ताजा और हरा स्निग्ध भोजन खिलाता है। मेमना पुष्ट होता रहता है। मालिक के पास एक और गाय भी है। मालिक गाय को सूखी घास देता है। बछडा मालिक के इस व्यवहार को देखता है। अपनी प्यारी मा से मालिक के व्यवहार की शिकायत करता है—"मा! मालिक मेमने को कितना अच्छा खिलाता है और तुम्हे केवल सूखी घास देता है। जबकि तुम उसे दूध देती हो। ऐसा क्यो है? और मेरे साथ भी तो कोई अच्छा सलूक नही है इसका। मुझे भी इधर-उधर से -सूखा चारा डाल देता है, और बस।" गाय अपने प्रिय बछडे को समझाती है—"मालिक उसे अच्छा खिलाता है, उसका कारण है। बेटा, जिसकी मृत्यु निकट है, उसको बहुत अच्छा मनचाहा खिलाया ही जाता है। कुछ ही दिनो मे देखना, क्या होने वाला है इसका।"

५—पिता का आदेश पाकर तीन पुत्र व्यापार करने गये। एक व्यापार मे बहुत धन कमाकर लौटा। दूसरा जैसे गया था, वैसे ही मूल पूंजी बचाकर लौट आया। और तीसरा जो पूजी लेकर गया था, वह भी खो आया।

मनुष्य-जीवन मूल धन के समान है। मनुष्य जीवन मे जो देवगति पाता है, वह उसका अतिरिक्त लाभ है। मनुष्य से मनुष्य की गति मूल धन की सुरक्षा है। और नरक अथवा तिर्यञ्च की गति मूल धन को भी गंवा देना है।

एक दिन बछड़ा एक भयानक दृश्य देखता है और भय से काप जाता है। माँ से आकर पूछता है—"माँ ! मालिक ने आज मेमने को अतिथि के स्वागत मे काट दिया है। क्या मै भी इसी तरह काटा जाऊगा ?" मा ने कहा—"नही, वेटा ! तू तो सूखी घास खाकर जीता है। जो रूखा-सूखा खाकर जीता है, उसे यह दु ख सहन नही करना पडता है। जो मन चाहे गुल छर्रे उडाते है, एक दिन उन्ही के गले काटे जाते है।"

सुस्वादु भोगो की आसक्ति साधक के जीवन के सार सर्वस्व का सहार कर डालती है।

२—एक भिखारी ने बडी मुश्किल से एक हजार कार्षापण (प्राचीन समय का एक क्षुद्र सिक्का। वीस काकिणी मे एक कार्षापण बदला जाता था) इकट्ठे किए थे। वह अपने गाव लौट रहा था। खाने पीने की व्यवस्था के लिए उसने कुछ काकिणी अपने पास रख छोडी थी। एक दिन गाव मे कही ठहरा। वही एक काकिणी भूल गया और चल दिया। रास्ते मे जाते हुए काकिणी याद आयी तो एक हजार कार्षापण वही कही छुपाकर वह काकिणी लेने के लिए वापस लौट पडा। वह काकिणी उसे नही मिली। उसे कोई उठा ले गया होगा। वह निराश लौटा, जहा उसने एक हजार कार्षापण छुपा कर रखे थे। उसके दु ख की कोई सीमा न रही, जब उसने देखा कि एक हजार कार्षापण मे से एक कार्षापण भी वहाँ नही है। कोई रखते समय देख रहा था, पीछे से चुरा ले गया।

जो अल्प सुख के लिए दिव्य सुखो को छोडते है, वे उक्त भिखारी की तरह अन्त मे दु खी होते है।

३—चिकित्सको ने एक रोगी राजा को आम न खाने का सुझाव दिया था। एक दिन राजा मन्त्री के साथ जगल मे था। वहाँ पेड पर पके हुए मीठे आम लगे देखे तो राजा चिकित्सको के सुझाव को भूल गया। मन्त्री ने रोका भी, किन्तु राजा ने उसकी न मानी और आम खा लिया। आम राजा के लिए अपथ्य था। अत वह वही मर गया। क्षणिक सुख के लिए राजा ने अपना अनमोल जीवन गवा दिया।

४—मनुष्यजीवन के सुख ओस के जलकण की तरह अल्प और क्षणिक है। और दिव्य सुख सागर के जल की तरह विशाल और स्थायी है।

५—पिता का आदेश पाकर तीन पुत्र व्यापार करने गये। एक व्यापार मे बहुत धन कमाकर लौटा। दूसरा जैसे गया था, वैसे ही मूल पूंजी बचाकर लौट आया। और तीसरा जो पूंजी लेकर गया था, वह भी खो आया।

मनुष्य-जीवन मूल धन के समान है। मनुष्य जीवन मे जो देवगति पाता है, वह उसका अतिरिक्त लाभ है। मनुष्य से मनुष्य की गति मूल धन की सुरक्षा है। और नरक अथवा तिर्यञ्च की गति मूल धन को भी गंवा देना है।

· ·: ·अ न

उर भज्ज : उर ीय

मूल	हिन्दी अनुवाद
१. जहाएस समुद्दिस्स कोइ पोसेज्ज एलय। ओयण वेज्जा पोसेज्जा वि सयगणे ॥	जैसे कोई व्यक्ति सभावित अतिथि के उद्देश्य से मेमने का पोषण करता है। उसे चावल, जौ मा हरी घास आदि देता है। और यह पोषण अपने आगन मे ही करता है।
२ तओ से पुट्ठे परिवूढे जायमेए महोवरे। पीणिए विउले देहे आएस परिकंखए ॥	इस प्रकार वह मेमना अच्छा खाते-पीते पुष्ट, बलवान, मोटा, बडे पेटवाला हो जाता है। अब वह तृप्त एव देहवाला मेमना बस आदेश—अतिथि की प्रतीक्षा है।
३. न आएसे जीवइ से ी। अह पत्तमि आएसे सीसं छेत्तूण भुज्जई ॥	जब तक अतिथि नही है, तब तक वह बेचारा जीता है। मेहमान के आते ही वह सिर खा लिया है।
४ जहा से उरब्भे आएसाए समीहिए। एव बाले।अहम्मिट्ठे ईहई नरयाउय ॥	मेहमान के लिए प्रकल्पित मेमना, जैसे कि मेहमान की प्रतीक्षा है, वैसे ही अधर्मिष्ठ अज्ञानी जीव भी यथार्थ मे नरक के आयुष्य की प्रतीक्षा है।

५ हिंसे बाले मुसावाई
अद्धाणम्मि विलोवए ।
त्तहरे तेणे
माई कण्हुहरे सढे ॥

हिंसक, अज्ञानी, मिथ्याभाषी, मार्ग लूटनेवाला बटमार, दूसरो को दी हुई वस्तु को बीच मे ही हडप जाने ,
चोर, मायावी ठग, कुतोहर—अर्थात् कहाँ से चुराऊ—इसी विकल्पना मे निरन्तर लगा रहने वाला, धूर्त—

६ इत्थीविसयगिद्धे य
महारभ—परिग्गहे ।
भु सुर मस
परिवूढे परंदमे ॥

स्त्री और अन्य विषयो मे ,
महाआरम्भ और महापरिग्रह ,
सुरा और मास का उपभोग करने ,
बलवान्, दूसरो को सताने —

७ —मोई य
तुन्दिल्ले चियलोहिए ।
नरए कखे
जहाएस व एलए ॥

बकरे की तरह कर-कर शब्द करते हुए मासादि अभक्ष्य खाने वाला, मोटी तोद और अधिक रक्त व्यक्ति उसी प्रकार नरक के आयुष्य की आकाक्षा करता है, जैसे कि मेमना मेहमान की प्रतीक्षा है ।

८ सयणं
वित्त कामे य भुजिया ।
दुस्साहडं धण हिच्चा
सचिणिया रय ॥

, , वाहन, धन और अन्य कामभोगो को भोगकर, दु ख से एकत्रित किए धन को छोडकर, कर्मो की बहुत धूल सचित कर—

९. तओ गुरू जन्तू
पच्चुप्पन्नपरायणे ।
अय व्व आगयाएसे
मरणन्तम्मि सोयई ॥

केवल वर्तमान को ही देखने मे तत्पर, कर्मो से भारी हुआ जीव मृत्यु के समय वैसे ही शोक है, जैसे कि मेहमान के आने पर मेमना है ।

१०. तओ आउपरिक्खीणे
चुया देहा विहिंसगा ।
आसुरिय विस बाला
गच्छन्ति अवसा तम ॥

नाना प्रकार से हिंसा करने वाले अज्ञानी जीव आयु के क्षीण होने पर जब शरीर छोडते है तो वे कृत कर्मो से विवश अधकाराच्छन्न नरक की ओर जाते हैं ।

११. जहा कागिणिए हेउं
सहस्सं हारए नरो ।
अ मोच्चा
राया तु हारए ॥

एक क्षुद्र काकिणी के लिए जैसे मूढ मनुष्य हजार (कार्पापण) गँवा देता है और राजा एक अपथ्य आम्रफल खाकर बदले मे जैसे राज्य को खो देता है ।

१२ एव माणुस्सगा कामा
देवकामाण अन्तिए ।
सहस्सगुणिया भुज्जो
य दिव्विया ॥

इसी प्रकार देवताओ के कामभोगो की तुलना मे मनुष्य के ोग नगण्य है । मनुष्य की अपेक्षा देवताओ की आयु और कामभोग हजार गुणा अधिक हैं ।

१३
जा सा पन्नवओ ठिई ।
जाणि जीयन्ति दुम्मेहा
वाससयाउए ॥

" साधक की देवलोक मे अनेक युत वर्ष (असख्य काल) की स्थिति होती है"—यह जानकर भी मूर्ख मनुष्य सौ वर्ष से भी कम आयुकाल मे उन दिव्य सुखो को गँवा रहे हैं ।

१४ जहा य तिन्नि वाणिया
मूल घेत्तूण निग्गया ।
एगो लहई लाहं
एगो मूलेण आगओ ॥

तीन वणिक् मूल धन लेकर व्यापार को निकले । उनमे से एक अतिरिक्त लाभ प्राप्त करता है । एक सिर्फ मूल ही लेकर लौट है ।

१५ एगो मूल पि हारित्ता
आगओ तत्थ वाणिओ ।
ववहारे ।
एव धम्मे वियाणह ॥

और एक मूल भी गवाकर लौट है । यह व्यवहार की उपमा है । इसी धर्म के विषय मे भी जानना चाहिए ।

१६ माणुसत्तं भवे मूल
लाभो देवगई भवे ।
मूलच्छेएण जी
नरग-तिरिक्खत्तण धुवं ॥

मनुष्यत्व मूल धन है । देवगति लाभरूप है । मूल के नाश से जीवो को निश्चय ही नरक और तिर्यञ्च गति प्राप्त होती है ।

१७ दुहओ गई
आवई बहुमूलिया ।
देवत्तं माणु च
ज जिए लोलयासढे ॥

अज्ञानी जीव की दो प्रकार की गति हैं—नरक और तिर्यंच। वहाँ उसे वध-मूलक कष्ट प्राप्त होता है। क्योकि वह लोलुपता और वंचकता के कारण देवत्व और मनुष्यत्व को पहले ही हार चुका होता है।

१८ तओ जिए सइ होइ
दुविह दोग्गइ गए ।
दुल्लहा ा
ाए सुचिरादवि ॥

नरक और तिर्यंच—रूप दो प्रकार की दुर्गति को प्राप्त ी जीव देव और मनुष्य गति को सदा ही हारे हुए है। क्योकि भविष्य मे उनका दीर्घ काल तक वहा से निकलना दुर्लभ है।

१९ एव जिय सपेहाए
तुलिया च पडिय ।
मूलिय ते पवेसन्ति
जोणिमेन्ति जे ॥

इस प्रकार हारे हुए बालजीवो को देखकर तथा बाल एव पडित की तुलना कर जो मानुषी योनि मे आते है, वे मूलधन के साथ लौटे वणिक् की तरह है।

२० वेमायाहिं सिक्खाहिं
जे नरा गिहिसुव्वया ।
उवेन्ति माणुस जोणिं
हु पाणिणो ॥

जो मनुष्य विविध परिमाण वाली शिक्षाओ द्वारा घर मे रहते हुए भी सुव्रती है, वे मानुषी योनि मे उत्पन्न होते है। क्योकि प्राणा होते हैं—कृत कर्मो का फल अवश्य पाते है।

२१ जेसिं तु ि सिक्खा
मूलिय ते अइच्छिया ।
सीलवन्ता सवीसेसा
अद्दीणा जन्ति देवय ॥

जिनकी शिक्षा विविध परिमाण वाली है, जो घर मे रहते हुए भी शील से सम्पन्न एव उत्तरोत्तर गुणो से युक्त है, वे अदीन पुरुष मूलधन-रूप मनुष्यत्व से आगे बढकर देवत्व को प्राप्त होते हैं।

२२ एवमद्दीणव भिक्खु
  रिं च वियाणिया ।
कहण्णु जिच्चमेलिक्खं
  जिच्चमाणे न संविदे ?

इस प्रकार दैन्यरहित पराक्रमी भिक्षु और गृहस्थ को लाभान्वित जानकर कैसे कोई विवेकी पुरुष उक्त लाभ को हारेगा ? और हारता हुआ कैसे नही सवेदन (पश्चात्ताप) करेगा ?

२३ जहा कुसग्गे उदगं
  समुद्देण समं मिणे ।
एवं माणुस्सगा
  देवकामाण अन्तिए ॥

देवताओ के काम-भोग की तुलना मे मनुष्य के काम-भोग वैसे ही क्षुद्र हैं, जैसे समुद्र की तुलना मे कुश के अग्रभाग पर टिका हुआ जलबिन्दु ।

२४ कुसग्गमेत्ता इमे कामा
  सन्निरुद्धमि आउए ।
  हेउं पुराकाउं
  जोगक्खेमं न संविदे ? ॥

मनुष्यभव की इस अत्यल्प आयु मे कामभोग कुशाग्र पर स्थित जलबिन्दु-मात्र हैं, फिर भी अज्ञानी किस कारण को आगे रखकर अपने लाभकारी योग-क्षेमको नही है ?

२५ कामाणियट्टस्स
  अव ई ।
सोच्चा नेयाउयं मग्गं
  जं भुज्जो परिभस्सई ॥

मनुष्य भव मे काम भोगो से निवृत्त न होने वाले का आत्मार्थ–अपना प्रयोजन विनष्ट हो जाता है । क्योंकि वह सन्मार्ग को बार-बार सुनकर भी उसे छोड देता है ।

२६ कामणियट्टस्स
  नावरज्झई ।
पूइदेह—निरोहेण
  भवे देवे त्ति मे सुयं ॥

मनुष्य भव मे काम भोगो से निवृत्त होने वाले का आत्म-प्रयोजन नष्ट नही होता है । वह पूतिदेह—मलिन औदारिक शरीर के छोडने पर देव होता है—ऐसा मैंने सुना है ।

२७ इड्ढी जुई जसो वण्णो
  आउं सुहमणुत्तरं ।
भुज्जो मणुस्सेसु
  तत्थ से ई ॥

देवलोक से आकर वह जीव जहाँ श्रेष्ठ ऋद्धि, द्युति, यश, वर्ण, आयु और सुख होते है, उस मनुष्य-कुल मे उत्पन्न होता है ।

२८ ब अहम्मं पडिवज्जिया । चिच्चा धम्मं अहम्मिट्ठे नरए उववज्जई ॥	वालजीव की । तो देखो । वह अधम को ग्रहण कर एव धर्म को छोडकर अधर्मिष्ठ बनता है और नरक मे होता है ।
२९ धीरस्स पस्स धीरत्त सव्वधम्माणुवत्तिणो । चिच्चा धम्मिट्ठे देवेसु उववज्जई ॥	सब धर्मो का अनुवतन—पालन करने वाले धीर पुरुष का धैर्य देखो । वह अधर्म को छोडकर धर्मिष्ठ बनता है और देवो मे उत्पन्न होता है ।
३० तुलियाण ाल चेव पण्डिए । चइऊण भाव सेवए मुणि ॥	पण्डित मुनि बालभाव और अबाल भाव की तुलना—अर्थात् गुण-दोष की दृष्टि से ठीक परीक्षा करके बाल भाव को छोड कर भाव को स्वीकारता है ।
—त्ति बेमि—	—ऐसा मै कहता हू ।

८

का॰ ीय

लोभ लोभ से नही, अलोभ से शान्त होता है।

पिता की मृत्यु के बाद विधवा माँ का पुत्र कौशाम्बी निवासी ब्राह्मण-कुमार कपिल, पिता के मित्र प इन्द्रदत्त के पास अध्ययन के लिए श्रावस्ती मे रहता था। भोजन के लिए श्रेष्ठी शालिभद्र के यहाँ जाता था। श्रेष्ठी ने एक दासी नियुक्त कर दी थी, जो उसे भोजन कराती थी। धीरे-धीरे दोनो का परिचय बढा और अन्त मे वह परिचय प्रेम मे बदल गया।

एक बार श्रावस्ती मे कोई विशाल जनमहोत्सव होना था, दासी ने उसमे जाना चाहा। किन्तु कपिल के पास उसे महोत्सव-योग्य देने के लिए कुछ भी तो नही था। उसे पता चला कि श्रावस्ती में एक धनी सेठ है, जो प्रात काल सबसे पहले बधाई देने वाले व्यक्ति को दो माशा सोना देता है। कपिल सबसे पहले पहुँचने के इरादे से मध्यरात मे ही घर से चल पडा। नगर-रक्षको ने उसे चोर समझा और पकड कर राजा के समक्ष उपस्थित किया।

कपिल शान्त था। राजा ने पूछा तो उसने सारी घटना ज्यो-की-त्यो सुना दी। राजा गरीब कपिल की सरलता एव स्पष्टवादिता पर मुग्ध हो गया और उसे मन चाहा मागने के लिए कहा। कपिल विचार करने के लिए कुछ समय लेकर पास के बगीचे मे गया। काफी देर तक सोचता रहा कि क्या और कितना माँगू ? पर वह कुछ निश्चित नही कर पा रहा था। सोची हुई स्वर्ण मुद्राओ की सख्या उसे बराबर कम लग रही थी। आगे बढ-बढ कर वह सोचता रहा, सोचता रहा। दो माशा सोने से करोडो

२८ ब
अहम्म पडिवज्जिया ।
चिच्चा अहम्मिट्ठे
नरए उववज्जई ॥

बालजीव की तो देखो। वह अधर्म को ग्रहण कर एव धर्म को छोडकर अधर्मिष्ठ बनता है और नरक मे उत्पन्न होता है।

२९ धीरस्स पस्स धीरत्त
सव्वधम्माणुवत्तिणो ।
चिच्चा धम्मिट्ठे
देवेसु उववज्जई ॥

सब धर्मो का अनुवतन—पालन करने वाले धीर पुरुष का धैर्य देखो। वह अधर्म को छोडकर धर्मिष्ठ बनता है और देवो मे होता है।

३० तुलियाण भाव
ाल चेव पण्डिए ।

सेवए मुणि ॥

—त्ति बेमि—

पण्डित मुनि बालभाव और अबाल भाव की तुलना—अर्थात् गुण-दोष की दृष्टि से ठीक परीक्षा करके बाल भाव को छोड कर भाव को स्वीकारता है।

—ऐसा मै कहता हू।

८

ि िय

लोभ लोभ से नही, अलोभ से शान्त होता है ।

पिता की मृत्यु के बाद विधवा माँ का पुत्र कौशाम्बी निवासी ब्राह्मण-कुमार कपिल, पिता के मित्र प इन्द्रदत्त के पास अध्ययन के लिए श्रावस्ती मे रहता था। भोजन के लिए श्रेष्ठी शालिभद्र के यहाँ जाता था। श्रेष्ठी ने एक दासी नियुक्त कर दी थी, जो उसे भोजन करानी थी। धीरे-धीरे दोनो का परिचय बढा और अन्त मे वह परिचय प्रेम मे बदल गया।

एक बार श्रावस्ती मे कोई विशाल जनमहोत्सव होना था, दासी ने उसमे जाना चाहा। किन्तु कपिल के पास उसे महोत्सव-योग्य देने के लिए कुछ भी तो नही था। उसे पता चला कि श्रावस्ती मे एक धनी सेठ है, जो प्रात काल सबसे पहले बधाई देने वाले व्यक्ति को दो माशा सोना देता है। कपिल सबसे पहले पहुँचने के इरादे से मध्यरात मे ही घर से चल पडा। नगर-रक्षको ने उसे चोर समझा और पकड कर राजा के समक्ष उप-स्थित किया।

कपिल शान्त था। राजा ने पूछा तो उसने सारी घटना ज्यो-की-त्यो सुना दी। राजा गरीब कपिल की सरलता एव स्पष्टवादिता पर मुग्ध हो गया और उसे मन चाहा मागने के लिए कहा। कपिल विचार करने के लिए कुछ समय लेकर पास के बगीचे मे गया। काफी देर तक सोचता रहा कि क्या और कितना माँगू ? पर वह कुछ निश्चित नही कर पा रहा था। सोची हुई स्वर्ण मुद्राओ की सख्या उसे बराबर कम लग रही थी। आगे बढ-बढ कर वह सोचता रहा, सोचता रहा। दो माशा सोने से करोडो

स्वर्ण मुद्राओ पर पहुँच गया। फिर भी उसे सन्तोष नही था, विराम नही मिल रहा था। अन्त मे चिन्तन ने सहसा दूसरा मोड लिया और लोभ की पराकाष्ठा अलोभ मे परिवर्तित हो गई। और वह मुख पर त्याग का तेज लिए राजा के पास पहुचा और राजा से बोला—"आप मे कुछ लेने की अब मुझे कोई चाह नही रही हे। जो पाना था, वह मैंने पा लिया। अब मुझे किसी से कुछ नही चाहिए।"

और वह निर्ग्रन्थ मुनि बन गया।

श्रावस्ती और राजगृही के बीच एक जगल मे कपिल मुनि विहार कर रहे थे। उस जगल मे ५०० चोर रहते थे। उन्होने कपिल मुनि को देखा, तो उन्हे घेर लिया। कपिल मुनि ने उन्हे गाकर समझाया—"विरक्ति, सयम और विवेक दुर्गति से बचने के मार्ग है। भोगो से विरक्ति तथा परिग्रह का त्याग ही बन्धन से मुक्ति दिलाता है।" चोर समझ गये और अन्त मे वे सब भी मुनि बन गये।

कपिल मुनि का चोरो को दिया हुआ वह उपदेश ही इस अध्ययन मे सकलित है।

्ठम अज्झय ं : अ ं अ८ न

काविलीय : ापिलीय

मूल	हिन्दी अनुवाद
१ अधुवे असासयमि ससारंमि दुक्खपउराए । कि नाम होज्ज त कम्मय जेणाऽह दोग्गइ न गच्छेज्जा ॥	अध्रुव, अशाश्वत और दुखबहुल ससार मे वह कौनसा कर्म–अनुष्ठान है, जिससे मैं दुर्गति मे न जाऊँ ?
२ विजहित्तु पुव्वसजोग न सिणेह कहिंचि कुव्वेज्जा । असिणेह सिणेहकरेहिं दोसपओसेहि मुच्चए भिक्खू ॥	पूर्व सम्बन्धो को एक बार छोडकर फिर किसी पर भी स्नेह न करे। स्नेह करने वालो के साथ भी स्नेह न करने वाला भिक्षु सभी प्रकार के दोषो और प्रदोषो से मुक्त हो जाता है।
३ तो —दसणसमग्गो हियनिस्सेसाए सव्वजीवाण । तेसिं विमोक्खणट्ठाए भासई मुणिवरो विगयमोहो ॥	केवलज्ञान और केवल ं से सम्पन्न तथा मोहमुक्त कपिल मुनि ने सब जीवो के हित और ण के लिए तथा मुक्ति के लिए कहा—
४ गन्थ ह च विप्पजहे तहाविह भिक्खू । सव्वेसु जाएसु पासमाणो न लिप्पई ताई ॥	मुनि कर्मबन्धन के हेतुस्वरूप सभी प्रकार के ग्रन्थ (परिग्रह) का तथा कलह का त्याग करे। काम भोगो के सब प्रकारो मे दोष देखता हुआ आत्मरक्षक मुनि उनमे लिप्त न हो।

५ भोगामिसदोसवि `
हियनिस्सेयसबुद्धिवोच्चत्थे ।
बाले य मन्दिए मूढे
ई मच्छिया व खेलमि ।।

आसक्तिजनक आमिषरूप भोगो मे निमग्न, हित और निश्रेयस मे विपरीत बुद्धि वाला, अज्ञ, मन्द और मूढ जीव कर्मो से वैसे ही बध जाता है, जैसे श्लेष्म—कफ मे मक्खी ।

६. दुपरिच्चया इमे कामा
नो सुजहा अधीरपुरिसेहि ।
अह सन्ति सुव्वया साहू
जे तरन्ति अतर वणिया व ।।

काम—भोगो का त्याग दुष्कर है, अधीर पुरुषो के द्वारा कामभोग आसानी से नही छोडे जाते । किन्तु जो सुव्रती साधु है, वे दुस्तर कामभोगो को उसी प्रकार तैर जाते है, जैसे वणिक् समुद्र को ।

७ 'समणा मु' एगे णा
पाणवह मिया अयाणन्ता ।
गच्छन्ति
। पावियाहि दिट्ठीहि ।।

'हम श्रमण है'—ऐसा कहते हुए भी कुछ पशु की भाति अज्ञानी जीव प्राण-वध को नही समझते है । वे मन्द और अज्ञानी पापदृष्टियो के कारण नरक मे जाते ह ।

८ 'न हु पाणवह अणुजाणे
मुच्चेज्ज सव्वदुक्खाण ।'
एवारिएहि
जेहि इमो साहु ।ो पन्नत्तो ।।

जिन्होने साधु धर्म की प्ररूपणा की है, उन आर्य पुरुषो ने कहा है—"जो का अनुमोदन है, वह कभी भी सब दुखो से मुक्त नही हो है ।"

९ ` य नाइवाएज्जा
से 'समिए' त्ति वुच्चई ताई ।
तओ से
निज्जाइ ं व थलाओ ।।

जो जीवो की हिंसा नही करता, वह 'समित'—' ् प्रवृत्ति वाला' कहा जाता है । उससे अर्थात् उसके जीवन मे से पाप-कर्म वैसे ही निकल जाता है, जैसे ऊंचे स्थान से जल ।

१० जगनिस्सिएहिं भूएहिं
तसनामेहिं थावरेहिं च ।
नो तेसिमारभे दंड
म ।वयसा चेव ।।

जगत् के आश्रित–अर्थात् ससार मे जो भी त्रस और स्थावर नाम के प्राणी हैं, उनके प्रति मन, वचन, काय—रूप किसी भी प्रकार के दण्ड का प्रयोग न करे ।

११ सुद्धे ।ओ
तत्थ ठवेज्ज भिक्खू अप्पाण ।
जायाए घासमेसे
रसगिद्धे न सिया भिक्खाए ।।

शुद्ध एषणाओ को जानकर भिक्षु उनमे अपने आप को स्थापित करे—अर्थात् उनके अनुसार प्रवृत्ति करे। भिक्षाजीवी मुनि सय ा के लिए आहार की एषणा करे, किन्तु रसो मे मूर्च्छित न बने ।

१२ पन्ताणि चेव सेवेज्जा
सीयपिण्ड पुराणकुम्मास ।
अदु बुक्कस पुलाग वा
जवणट्ठाए निसेवए मथु ।।

भिक्षु जीवन-यापन के लिए प्राय नीरस, शीत, पुराने कुल्माष— , बुक्कस–सारहीन, पुलाक–रूखा और मथु-बेर आदि का चूर्ण ही भिक्षा मे ग्रहण करता है ।

१३ 'जे ण च सुविण च
अगविज्ज च जे न्ति ।
न हु ते स वुच्चन्ति'
एव आयरिएहिं अ ।।

"जो साधु लक्ष , स्वप्न-और अग विद्या का प्रयोग करते हैं, उन्हे साधु नही कहा है"—ऐसा आचार्यो ने कहा है ।

१४, इहजीविय अणियमेत्ता
ठा समाहिजोएहिं ।
ते कामभोग – रसगिद्धा
उव न्ति आसुरे काए ।।

जो वर्तमान जीवन को नियन्त्रित न रख सकने के कारण समाधियोग से भ्रष्ट हो जाते है, वे कामभोग और रसो मे रहने वाले लोग असुरकाय मे उत्पन्न होते है ।

५ भोगामिसदोसवि
हियनिस्सेयसबुद्धिवोच्चत्थे ।
बाले य मन्दिए मूढे
बज्झई व खेलमि ॥

आसक्तिजनक आमिषरूप भोगो मे निमग्न, हित और निश्रेयस मे विपरीत बुद्धि वाला, अज्ञ, मन्द और मूढ जीव कर्मो से वैसे ही बध जाता है, जैसे श्लेष्म—कफ मे मक्खी ।

६. दुपरिच्चया इमे कामा
नो सुजहा अधीरपुरिसेहिं ।
अह सन्ति सुव्वया साहू
जे तरन्ति अतर वणिया व ॥

काम—भोगो का त्याग दुष्कर है, अधीर पुरुषो के द्वारा कामभोग आसानी से नही छोडे जाते । किन्तु जो सुव्रती साधु है, वे दुस्तर कामभोगो को उसी प्रकार तैर जाते है, जैसे वणिक् समुद्र को ।

७ 'स मु' एगे णा
पाणवह मिया अयाणन्ता ।
गच्छन्ति
। पावियाहि दिट्ठीहि ॥

'हम श्रमण है'—ऐसा कहते हुए भी पशु की भाति ी जीव प्राण-वध को नही समझते है । वे मन्द और अज्ञानी पापदृष्टियो के कारण नरक मे जाते है ।

८ 'न हु पाणवह अणुजाणे
मुच्चेज्ज सव्वदुक्खाण ।'
एवारिएहिं
जेहिं इमो साहुधम्मो पन्नत्तो ॥

जिन्होने साधु धर्म की प्ररूपणा की है, उन आर्य पुरुषो ने कहा है—"जो प्राणवध का अनुमोदन है, वह कभी भी सब दु खो से मुक्त नही हो सकता है ।"

९ य नाइवाएज्जा
से 'समिए' त्ति वुच्चई ताई ।
तओ से
निज्जाइ व थलाओ ॥

जो जीवो की हिसा नही करता, वह साधक 'समित'—'सम्यक् प्रवृत्ति वाला' कहा जाता है । उससे अर्थात् उसके जीवन मे से पाप-कर्म वैसे ही निकल जाता है, जैसे ऊँचे स्थान से जल ।

१०. जगनिस्सिएहिं भूएहिं
तसनामेहिं थावरेहिं च ।
नो तेसिमारभे दड
म । । सा चेव ।।

जगत् के आश्रित—अर्थात् ससार मे जो भी त्रस और स्थावर नाम के प्राणी है, उनके प्रति मन, वचन, काय—रूप किसी भी प्रकार के दण्ड का प्रयोग न करे ।

११ सुद्धे ाओ
तत्थ ठवेज्ज भिक्खू अप्पाण ।
जायाए घासमेसे
रसगिद्धे न सिया भिक्खाए ।।

शुद्ध एपणाओ को जानकर भिक्षु उनमे अपने आप को स्थापित करे—अर्थात् उनके अनुसार प्रवृत्ति करे। भिक्षाजीवी मुनि सय ा के लिए आहार की एपणा करे, किन्तु रसो मे मूर्छित न बने ।

१२ पन्ताणि चेव सेवेज्जा
सीयपिण्ड पुराणकुम्म ।
अदु बुक्कस पुलाग वा
जवणट्ठाए निसेवए मथु ।।

भिक्षु जीवन-यापन के लिए प्राय नीरस, शीत, पुराने कुल्माप—उडद, बुक्कस—सारहीन, पुलाक—रूखा और मथु-बेर आदि का चूर्ण ही भिक्षा मे ग्रहण करता है ।

१३ 'जे ल च सुविण च
अगविज्ज च जे न्ति ।
न हु ते स वुच्चन्ति'
एव आयरिएहिं अ ।।

"जो साधु लक्षणशास्त्र, स्वप्न-शास्त्र और अग विद्या का प्रयोग करते हैं, उन्हे साधु नही कहा जाता है"—ऐसा आचार्यो ने कहा है ।

१४, इहजोविय अणियमेत्ता
हिजोएहिं ।
ते कामभोग – रसगिद्धा
उववज्जन्ति आसुरे काए ।।

जो वर्तमान जीवन को नियन्त्रित न रख सकने के कारण समाधियोग से भ्रष्ट हो जाते हैं, वे कामभोग और रसो मे रहने वाले लोग असुरकाय मे उत्पन्न होते हैं ।

१५ तत्तो वि य उवट्टि- र बहु अणुपरियडन्ति कम्मलेवि ण बोही होइ सुदुल्लहा तेसि ॥	वहा से निकल कर भी वे ससार मे बहुत काल तक परिभ्रमण करते है। बहुत अधिक कर्मो से लिप्त होने के कारण उन्हे बोधि धर्म की प्राप्ति होना अतीव दुर्लभ है।
१६. कसिण पि जो इम लोय पडिपुण्ण दलेज्ज इक्कस्स । तेणावि से न सतुस्से इइ दुप्पूरए इमे । ॥	धन-धान्य आदि से प्रतिपूर्ण यह समग्र विश्व (लोक) भी यदि किसी एक को दे दिया जाए, तो भी वह उससे सन्तुष्ट नही होगा। इतनी दुष्पूर है यह लोभाभिभूत आत्मा ।
१७ जहा लाहो तहा लोहो ल.हा लोहो पवड्ढई । दोमास - कय कज्ज कोडीए वि न निट्ठिय ॥	जैसे-जैसे लाभ होता है, वैसे-वैसे लोभ होता है। लाभ से लोभ बढता जाता है। दो माशा सोने से निष्पन्न होने वाला कार्य करोडो स्वर्ण-मुद्राओ से भी पूरा नही हो सका ।
१८ नो रक्खसीसु गिज्झे- ासु ऽणेगचित्तासु । जाओ पुरिस पलोभि खेल्लन्ति जहा व दासेहि ॥	जिनके हृदय मे कपट है, अथवा जो वक्ष मे फोडे के रूप स्तनो वाली है, जो अनेक ाओ वाली हे, जो पुरुष को प्रलोभन में फँसा कर उसे खरीदे हुए दास की भाँति नचाती हैं, ऐसी की दृष्टि से राक्षसी-स्वरूप साधनाविघा-तक स्त्रियो में आसक्ति नही रखनी चाहिए ।
१९ नारीसु नोवगिज्झेज्जा इत्थीविप्पजहे अणगारे । च पेसल तत्थ ठवेज्ज भिक्खू अप्पाण ॥	स्त्रियो को त्यागने अनगार उनमे न हो। भिक्षु-धर्म को पेशल अर्थात् एकान्त ारी मनोज्ञ जानकर उसमें अपनी आत्मा को स्थापित करे ।

२०. धम्मे अक्खाए
कविलेणं च विसुद्धपन्नेण।
तरिहिन्ति जे उ काहिन्ति
तेहिं आराहिया दुवे लोग॥

विशुद्ध प्रज्ञा वाले कपिल मुनि ने इस प्रकार धर्म कहा है। जो इसकी आराधना करेंगे, वे ससारसमुद्र को पार करेंगे। उनके द्वारा ही दोनो लोक आराधित होगे।

—त्ति बेमि।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

९

नमिप्रव्रज

को प्रिय और अप्रिय मे

विभाजित नही है ।

मिथिला के राजा 'नमि' एकबार छह मास तक दाह ज्वर की भयकर वेदना से पीडित रहे । उपचार होते रहे, पर कोई लाभ नही । एक वैद्य ने शरीर पर चन्दन का लेप बताया । रानिया चन्दन घिसने लगी । चन्दन घिसते समय हाथो के ककरण परस्पर टकराए, शोर हुआ । वेदना से व्याकुल राजा ककरण की आवाज सहन नही कर सके । रानियो ने सौभाग्यसूचक एक-एक ककरण रखा और सब ककरण उतार दिए । आवाज वन्द हो गयी । अकेला ककरण भला कैसे आवाज करता ?

राजा के लिए यह घटना, घटना न रही । इस घटना ने राजा की मनोगति को ही वदल दिया । वह विचारने लगा कि—"जहा अनेक है, वहा सघर्प है, दु ख है, पीडा है । जहा एक है, वहा पूर्ण शान्ति है । जहा शरीर, इन्द्रिय, मन और इनसे आगे धन एव परिवार आदि की बेतुकी भीड है, वही दु ख है । जहा केवल एक आत्मभाव है, वहाँ दु ख नही है ।"

राजा के अन्तर् मे विवेकमूलक वैराग्य का उदात्त जागरण हुआ और वह निर्ग्रन्थ मुनि हो गया । सब कुछ यो-का-यो छोड कर नगर से वाहर चला गया ।

यह सूचना स्वर्ग मे भी गई कि नमिराजा यकायक मुनि हो गये है । 'इस त्याग मे और तो कोई कारण नही हे । त्याग की यह ज्ञानचेतना स्थिर

है, या यह कोई क्षणिक उबाल है'--यह जानने के लिए स्वर्ग का राजा इन्द्र ब्राह्मण के वेप मे नमि राजर्पि के पास आया और क्षात्रधर्म की याद दिला कर आग्रह किया कि—'आपको राजधर्म का पालन करने के बाद ही मुनि धर्म की दीक्षा लेनी चाहिए।'

देवेन्द्र ने कुछ और भी इसी से मिलते जुलते प्रश्न खडे किये। देवेन्द्र की सभी वाते लोकजीवन की नीतियो से सम्बन्धित है, अत वे आसानी से समझ मे आने जैसी है। किन्तु राजर्पि नमि के सभी उत्तर आध्यात्मिक स्तर के है, अत उन्हे समझना आसान नही है। एक अहिंसक एव दयालु मुनि के ये शब्द कि "मिथिला जल रही है, तो उसमे मेरा क्या है, मेरा तो कुछ भी नही जल रहा है—" काफी अटपटे लगते है। किनु नमिराजर्षि ने बहुत गहराई मे जाकर इन शब्दो के माध्यम से अध्यात्म भावना के प्राण 'भेद-विज्ञान' की चर्चा की है। मिथिला ही नहो, अगर नमि राजर्पि का शरीर भी जलता, तो भी उनके ये ही शब्द होते। राज्य-रक्षा राज्य-विस्तार, शत्रु, और चोर-लुटेरो के दमन की अपेक्षा अन्तर् का राज्य, आत्मदमन, आत्मरक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है। बाहर की दुनिया को वचा लेने पर भी अन्तर्जीवन अगर असुरक्षित है, तो वाहर की सुरक्षा का कोई अर्थ नही है। बाहर के हजारो शत्रुओ को जीतने की अपेक्षा आन्तरिक शत्रुओ पर प्राप्त की जाने वाली विजय ही वास्तविक विजय है। उक्त शब्दो मे नमिराजर्पि पूर्ण अनासक्त नजर आते है।

वे परिवार आदि के बाह्य ससार से ही नही, किन्तु शरीर, मन, इन्द्रिय, उनके विपयभोग, मोह और अज्ञान-इन सबको भी पार कर गये है। वाहर की दुनिया मे उनके लिए कोई शत्रु नही रहा है। उन्होने आध्यात्मिक पूर्णता का पथ अपना लिया है, वे अनन्त के यात्री हो गये है।

नमि राजर्पि के उत्तर सुनकर देवेन्द्र प्रभावित होता है, उनके गुणो की प्रशसा करता है और क्षमा मागकर वापिस स्वर्गलोक को चला जाता है।

मं अज ˙ : न ां अ यन

नमिपव्वज्जा : नमि-प्रव्रज

मूल	हिन्दी अनुवाद
१ देवलोगाओ उववन्नो माणुसम्मि लोगम्मि । — मोहणिज्जो सरई पोराणिय जाइ ॥	देवलोक से आकर नमि के जीव ने मनुष्य लोक मे जन्म लिया । उसका मोह हुआ, तो उसे पूर्व जन्म का स्मरण हुआ ।
२ सरित्तु सहसबुद्धो अणुत्तरे धम्मे । पुत्त ठवेत्तु रज्जे अभिणिक्खमई नमी राया ॥	भगवान् नमि पूर्वजन्म को स्मरण करके अनुत्तर धर्म मे स्वय सबुद्ध बने । राज्य का भार पुत्र को सौपकर उन्होने अभिनिष्क्रमण किया ।
३ से देवलोग — सरिसे अन्तेउरवरगओ वरे भोए । भुजित्तु नमी राया बुद्धो भोगे परिच्चयई ॥	नमिराजा श्रेष्ठ अन्त पुर मे रह कर, देवलोक के भोगो के समान सुन्दर भोगो को भोगकर एक दिन प्रबुद्ध हुए और उन्होने भोगो का परित्याग कर दिया ।
४ मिहिल सपुरज ारोह च परियण । चिच्चा अभिनिक्खन्तो एगन्तमहिट्ठिओ ॥	भगवान् नमि ने पुर और जनपद-सहित अपनी राजधानी मिथिला, सेना, अन्त पुर और समग्र परिजनो को छोडकर अभिनिष्क्रमण किया और एकान्तवासी बन गए ।

है, या यह कोई क्षणिक उवाल है'—यह जानने के लिए स्वर्ग का राजा इन्द्र ब्राह्मण के वेप मे नमि राजपि के पास आया और क्षात्रधर्म की याद दिला कर आग्रह किया कि—'आपको राजधर्म का पालन करने के बाद ही मुनि धर्म की दीक्षा लेनी चाहिए।'

देवेन्द्र ने कुछ और भी इसी से मिलते-जुलते प्रश्न खडे किये। देवेन्द्र की सभी वाते लोकजीवन की नीतियो से सम्बन्धित है, अत वे आसानी से समझ मे आने जैसी है। किन्तु राजपि नमि के सभी उत्तर आध्यात्मिक स्तर के है, अत उन्हे समझना आसान नही है। एक अहिसक एव दयालु मुनि के ये शब्द कि "मिथिला जल रही है, तो उसमे मेरा क्या है, मेरा तो कुछ भी नही जल रहा है—" काफी अटपटे लगने हैं। किन्तु नमिराजर्षि ने बहुत गहराई मे जाकर इन शब्दो के माध्यम से अध्यात्म भावना के प्राण 'भेद-विज्ञान' की चर्चा की है। मिथिला ही नही, अगर नमि राजपि का शरीर भी जलता, तो भी उनके ये ही शब्द होते। राज्य-रक्षा, राज्य-विस्तार, शत्रु, और चोर-लुटेरो के दमन की अपेक्षा अन्तर् का राज्य, आत्मदमन, आत्मरक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है। बाहर की दुनिया को वचा लेने पर भी अन्तर्जीवन अगर असुरक्षित है, तो बाहर की सुरक्षा का कोई अर्थ नही है। बाहर के हजारो शत्रुओ को जीतने की अपेक्षा आन्तरिक शत्रुओ पर प्राप्त की जाने वाली विजय ही वास्तविक विजय है। उक्त शब्दो मे नमिराजर्षि पूर्ण अनासक्त नजर आते है।

वे परिवार आदि के वाह्य ससार से ही नही, किन्तु शरीर, मन, इन्द्रिय, उनके विपयभोग, मोह और अज्ञान-इन सबको भी पार कर गये है। वाहर की दुनिया मे उनके लिए कोई शत्रु नही रहा है। उन्होने आध्यात्मिक पूर्णता का पथ अपना लिया है, वे अनन्त के यात्री हो गये है।

नमि राजपि के उत्तर सुनकर देवेन्द्र प्रभावित होता है, उनके गुणो की प्रशसा करता है और क्षमा मागकर वापिस स्वर्गलोक को चला जाता है।

नवमं अज्झयणं : नववां अध्ययन

नमिपव्वज्जा : नमि-प्रव्रज्या

मूल	हिन्दी अनुवाद
१ देवलोगाओ उववन्नो माणुसमि लोगमि । — मोहणिज्जो सरई पोराणिय जाइ ॥	देवलोक से नमि के जीव ने मनुष्य लोक मे जन्म लिया । मोह उपशान्त हुआ, तो उसे पूर्व जन्म का स्मरण हुआ ।
२ जाइं सरित्तु सहसबुद्धो अणुत्तरे धम्मे । पुत्त ठवेत्तु रज्जे अभिणिक्खमई नमी राया ॥	भगवान् नमि पूर्वजन्म को स्मरण करके अनुत्तर धर्म मे स्वय सबुद्ध बने । राज्य का भार पुत्र को सौपकर उन्होने अभिनिष्क्रमण किया ।
३ से देवलोग — सरिसे अन्तेउरवरगओ वरे भोए । भुजित्तु नमी राया बुद्धो भोगे परिच्चयई ॥	नमिराजा श्रेष्ठ अन्त पुर मे रह कर, देवलोक के भोगो के समान सुन्दर भोगो को भोगकर एक दिन प्रबुद्ध हुए और उन्होने भोगो का परित्याग कर दिया ।
४ मिहिल सपुरज ओरोहं च परियण । चिच्चा अभिनिक्खन्तो एगन्तमहिट्ठिओ ॥	भगवान् नमि ने पुर और जनपद-सहित अपनी राजधानी मिथिला, सेना, अन्त पुर और समग्र परिजनो को छोडकर अभिनिष्क्रमण किया और एकान्तवासी बन गए ।

५ कोलाहलगभूय
आसी मिहिलाए मि ।
रायरिसिमि
नमिमि अभिणिक्खमन्तमि ॥

जिस राजर्षि नमि अभिनिष्क्रमण कर प्रव्रजित हो रहे थे, उस समय मिथिला मे बहुत कोलाहल हुआ था ।

६. अब्भुट्ठिय रायरिसिं
— ठाणमुत्तम ।
सक्को माहणरूवेण
इणमब्बवी —॥

उत्तम —स्थान (मुनिपद की भूमिका) के लिए प्रस्तुत हुए नमि राजर्षि को ब्राह्मण के रूप मे आए हुए देवेन्द्र ने यह वचन कहा—

७ 'किण्णु भो ! मिहिलाए
कोलाहलग – सकुला
सुव्वन्ति सद्दा
पासाएसु गिहेसु य ?'

"हे राजर्षि ! आज मिथिला नगरी मे, प्रासादो मे और घरो मे कोलाहल पूर्ण दारुण (हृदयविदारक) शब्द क्यो सुनाई दे रहे है ?"

८ एयमट्ठं निसामित्ता
हे —चोइओ ।
तओ नमी रायरिसी
देविन्द मब्बवी—॥

देवेन्द्र के इस अर्थ (बात या प्रश्न) को सुनकर हेतु और कारण से प्रेरित नमि राजर्षि ने देवेन्द्र को इस प्रकार कहा—

९ 'मिहिलाए चेइए
सीयच्छाए मणोरमे ।
पत्त—पुप्फ — फलोवेए
बहूणं बहुगुणे —॥

"मिथिला मे एक चैत्य वृक्ष था। जो शीतल छायावाला, मनोरम, पत्र पुष्प एव फलो से युक्त, बहुतो (बहुत पक्षियो) के लिए सदैव बहुत उपकारक था—

१० वाएण हीरमाणमि
चेइयमि मणोरमे ।
दुहिया
एए कन्दन्ति भो ! ।॥'

आंधी से उस मनोरम वृक्ष के गिर आने पर दु खित, अशरण और आर्त ये पक्षी क्रन्दन कर रहे हैं।" [यहा नमि ने अपने को चैत्य वृक्ष से और पुर-जन-परिजनो को पक्षियो से उपमित किया है।]

११ एयमट्ठं निसामित्ता
हेऊकारण – चोइओ ।
तओ नमिं रायरिसिं
देविन्दो इणमब्बवी–॥

राजर्षि के इस अर्थ को सुनकर हेतु और कारण से प्रेरित देवेन्द्र ने नमि राजर्षि को इस प्रकार कहा—

१२ 'एस अग्गी य वाऊ य
एयं डज्झइ मन्दिरं ।
भयवं ! अन्तेउरं तेणं
कीस णं नावपेक्खसि ? ॥'

"यह अग्नि है, यह वायु है और इनसे यह आपका राजभवन जल रहा है। भगवन् ! आप अपने अन्तःपुर (रनिवास) की ओर क्यो नही देखते ?"

१३ एयमट्ठं निसामित्ता
हेऊकारण–चोइओ ।
तओ नमी रायरिसी
देविन्दं इणमब्बवी–॥

देवेन्द्र के इस अर्थ को सुनकर, हेतु और कारण से प्रेरित नमि राजर्षि ने देवेन्द्र को इस प्रकार कहा–

१४ 'सुहं वसामो जीवामो
जेसिं मो नत्थि किंचण ।
मिहिलाए डज्झमाणीए
न मे डज्झइ किंचण ॥

"जिनके पास अपना जैसा कुछ भी नही है, ऐसे हम लोग सुख से रहते हैं, सुख से जीते है। मिथिला के जलने मे मेरा कुछ भी नही जल रहा है–

१५ चत्तपुत्तकलत्तस्स
निव्वावारस्स भिक्खुणो ।
पियं न विज्जई किंचि
अप्पियं पि न विज्जए ॥

पुत्र, पत्नी और गृह-व्यापार से मुक्त भिक्षु के लिए न कोई वस्तु प्रिय होती है और न कोई अप्रिय–

१६ बहुं खु मुणिणो भद्दं
अणगारस्स भिक्खुणो ।
सव्वओ विप्पमुक्कस्स
एगन्तमणुपस्सओ ॥'

'सब ओर से मैं अकेला ही हूं'— इस प्रकार एकान्तद्रष्टा—एकत्वदर्शी, गृहत्यागी मुनि को सब प्रकार से सुख ही सुख है।"

१७ एयमट्ठं निसामित्ता
हेऊकारण—चोइओ ।
तओ नमिं रायरिसिं
देविन्दो इणमब्बवी—॥

इस अर्थ को सुनकर, हेतु और कारण से प्रेरित देवेन्द्र ने नमि राजर्षि को इस प्रकार कहा—

५ कोलाहलगभूयं आसी मिहिलाए मि । रायरिसिमि नमिमि अभिणिक्खमन्तमि ॥	जिस समय राजर्षि नमि अभिनिष्क्रमण कर प्रव्रजित हो रहे थे, उस समय मिथिला मे बहुत कोलाहल हुआ था ।
६. अब्भुट्ठिय रायरिसिं — ठाणमुत्तमं । सक्को माहणरूवेण ब्बवी —॥	प्रव्रज्या–स्थान (मुनिपद की भूमिका) के लिए प्रस्तुत हुए नमि राजर्षि को ब्राह्मण के रूप मे आए हुए देवेन्द्र ने यह वचन कहा—
७ 'किण्णु भो ! मिहिलाए कोलाहलग — सकुला न्ति सद्दा पासाएसु गिहेसु य ?'	"हे राजर्षि ! आज मिथिला नगरी मे, प्रासादो मे और घरो मे कोलाहल पूर्ण दारुण (हृदयविदारक) शब्द क्यो सुनाई दे रहे है ?"
८ एयमट्ठ निसामित्ता हेऊकारण – चोइओ । तओ नमी रायरिसी देविन्दं मब्बवी–॥	देवेन्द्र के इस अर्थ (बात या प्रश्न) को सुनकर हेतु और कारण से प्रेरित नमि राजर्षि ने देवेन्द्र को इस प्रकार कहा—
९ 'मिहिलाए चेइए वच्छे सीयच्छाए मणोरमे । पत्त—पुप्फ — फलोवेए णं बहुगुणे –॥	"मिथिला मे एक चैत्य वृक्ष था । जो शीतल छायावाला, मनोरम, पत्र पुष्प एव फलो से युक्त, बहुतो (बहुत पक्षियो) के लिए सदैव बहुत उपकारक था–
१० वाएण हीरमाणमि चेइयमि मणोरमे । दुहिया एए कन्दन्ति भो ! ।॥'	आधी से उस मनोरम वृक्ष के गिर जाने पर दु खित, अशरण और आर्त ये पक्षी क्रन्दन कर रहे है ।" [यहा नमि ने अपने को चैत्य वृक्ष से और पुरजन-परिजनो को पक्षियो से उपमित किया है ।]

११. एयमट्ठं निसामित्ता
हेऊकारण—चोइओ ।
तओ नमिं रिसिं
देविन्दो इणमब्बवी—॥

राजर्षि के इस अर्थ को सुनकर हेतु और कारण से प्रेरित देवेन्द्र ने नमि राजर्षि को इस प्रकार कहा—

१२ 'एस अग्गी य य
एय इ मन्दिरं ।
भयवं ! अन्तेउरं तेणं
कीस ण नावपेक्खसि ? ॥'

"यह अग्नि है, यह वायु है और इनसे यह आपका राजभवन जल रहा है। भगवन् ! आप अपने अन्त पुर (रनिवास) की ओर क्यो नही देखते ?"

१३ एयमट्ठं निसामित्ता
हेऊकारण-चोइओ ।
तओ नमी रायरिसी
देविन्द ी—॥

देवेन्द्र के इस अर्थ को सुनकर, हेतु और से प्रेरित नमि राजर्षि ने देवेन्द्र को इस कहा—

१४ ' वसामो जीवामो
जेसिं मो नत्थि किंचण ।
मिहिलाए डज्झमाणीए
न मे किंचण ॥

"जिनके पास अपना जैसा भी नही है, ऐसे हम लोग सुख से रहते हैं, सुख से जीते है। मिथिला के जलने मे मेरा भी नही जल रहा है—

१५ चत्तपुत्तकलत्तस्स
निव्वावारस्स भिक्खुणो ।
पियं न विज्जई किंचि
अप्पियं पि न विज्जए ॥

पुत्र, पत्नी और गृह-व्यापार से मुक्त भिक्षु के लिए न कोई वस्तु प्रिय होती है और न कोई अप्रिय—

१६ खु मुणिणो भद्दं
अणगारस्स भिक्खुणो ।
ो विप्पमुक्कस्स
एगन्तमणुपस्सओ ॥'

'सब ओर से मैं अकेला ही हूं'— इस प्रकार एकान्तद्रष्टा—एकत्वदर्शी, गृहत्यागी मुनि को सब प्रकार से ही सुख है।"

१७ एयमट्ठं निसामित्ता
हेऊकारण—चोइओ ।
तओ नमिं रायरिसिं
देविन्दो इणमब्बवी—॥

इस अर्थ को सुनकर, हेतु और कारण से प्रेरित देवेन्द्र ने नमि राजर्षि को इस प्रकार कहा—

१८ 'पागारं कारइत्ताण
गोपुरट्ट णि य ।
उस्सूलग—सयग्घीओ
तओ गच्छसि खत्तिया ! ॥'

"हे क्षत्रिय ! पहले तुम नगर का परकोटा, गोपुर—नगर का द्वार, अट्टालिकाएँ, दुर्ग की खाई, शतघ्नी—एक बार मे सैंकडो को मार देने वाला यत्र-विशेष बनाकर फिर जाना, प्रव्रजित होना।"

१९ एयमट्ठं निसामित्ता
हेऊकारण — चोइओ ।
तओ नमी रायरिसी
देविन्द ी—॥

इस अर्थ को सुनकर, हेतु और कारण से प्रेरित नमि राजर्षि ने देवेन्द्र को इस प्रकार कहा—

२० ' नगर किच्चा
।
खन्ति निउणपागार
तिगुत्त दुप्पवसय ॥

" को नगर, तप और सयम को अर्गला, क्षमा को (बुर्ज, खाई और शतघ्नी-स्वरूप) मन, , काय की त्रिगुप्ति से सुरक्षित, एव अजेय मजबूत प्राकार —

२१ धणुं किच्चा
जीव च ईरिय ।
धिइ च केयण किच्चा
सच्चेण पलिमन्थए ।

पराक्रम को धनुष, ईर्या समिति को उसकी डोर, धृति को उसकी मूठ बनाकर, सत्य से उसे —

२२ तवनारायजुत्तेण
भेत्तूणं कम्मकंचुय ।
मुणी विगयसगामो
ओ परिमुच्चए ॥'

तप के बाणो से युक्त धनुप से कर्म-रूपी को भेदकर अन्तर्युद्ध का विजेता मुनि ससार से मुक्त होता है।"

२३ एयमट्ठ निसामित्ता
हेऊकारण—चोइओ ।
तओ नमिं रायरिसिं
देविन्दो इणमब्बवी—॥

इस अर्थ को सुनकर, हेतु और कारण से प्रेरित देवेन्द्र ने नमिराजर्षि को इस प्रकार कहा—

२४. 'पासाए कारइ
वद्धमाणगिहाणि य ।
वा पोइयाओ य
तओ सि खत्तिया ॥'

"हे क्षत्रिय ! पहले तुम प्रासाद, वर्धमान गृह, वालग्गपोइया-अर्थात् चन्द्र-शालाएँ बनाकर फिर जाना, प्रव्रजित होना ।"

२५ एयमट्ठ निसामित्ता
हेऊकारण - चोइओ ।
तओ नमी रिसी
देविन्द इ वो—॥

इस अर्थ को सुनकर, हेतु और कारण से प्रेरित नमि राजर्षि ने देवेन्द्र को इस प्रकार कहा—

२६ 'ससय खलु सो कुणई
जो मग्गे कुणई घर ।
जत्थेव गन्तुमि
तत्थ कुव्वेज्ज सासय ॥'

"जो मार्ग मे घर बनाता है, वह अपने को सशय—सदिग्ध स्थिति मे डालता है, अत जहाँ जाने की इच्छा हो वही अपना स्थायी घर बनाना चाहिए ।"

२७ एयमट्ठ निसामित्ता
हेऊकारण - चोइओ ।
तओ नमि रायरिसि
देविन्दो इणमब्बवी—॥

इस अर्थ को सुनकर हेतु और कारण से प्रेरित देवेन्द्र ने नमि राजर्षि को इस प्रकार कहा—

२८ 'आमोसे लोमहारे य
गंठिभेए य तक्करे ।
नगरस्स खेम क
तओ गच्छसि खत्ति ॥'

"हे क्षत्रिय ! पहले तुम बटमारो, प्राणघातक डाकुओ, गाठ काटने वालो और चोरो से नगर की रक्षा करके फिर जाना, प्रव्रजित होना ।"

२९ एयमट्ठ निसामित्ता
हेऊकारण - चोइओ
तओ नमी रायरिसी
देविन्द इण वी—॥

इस अर्थ को सुनकर, हेतु और कारण से प्रेरित नमि राजर्षि ने देवेन्द्र को इस प्रकार कहा—

३० ' तु मणुस्सेहिं
मिच्छादण्डो पजुजई ।
अकारिणोऽत्थ वज्झन्ति
मुच्चई कारगो जणो ।।'

"इस लोक मे मनुष्यो के द्वारा ` बार मिथ्या दण्ड का प्रयोग किया जाता है। अपराध न करने वाले निर्दोष पकडे जाते हैं और सही अपराधी छूट ' जाते है।"

३१ एयमट्ठ निसामित्ता
हेऊकारण --चोइओ ।
तओ नमि रायरिसि
देविन्दो इणमब्बवी--।

इस अर्थ को सुनकर, हेतु और कारण से प्रेरित देवेन्द्र ने नमि राजर्षि को इस प्रकार कहा—

३२ 'जे केइ पत्थिवा तुब्भ
नाऽऽनमन्ति नराहिवा ।
वसे ते ठावइत्ताण
तओ गच्छसि खत्ति ।।'

"हे क्षत्रिय ! जो राजा अभी तुम्हे नमते नही है, अर्थात् तुम्हारा शासन नही स्वीकारते है, पहले उन्हे अपने वश मे करके फिर जाना, प्रव्रज्या ग्रहण करना।"

३३ एयमट्ठ निसामित्ता
हेऊकारण—चोइओ ।
तओ नमी रायरिसी
देविन्द इणमब्बवी—।।

इस अर्थ को सुनकर, हेतु और कारण से प्रेरित नमि राजर्षि ने देवेन्द्र को इस प्रकार कहा—

३४ 'जो सहस्स सहस्साण
सगामे दुज्जए जिणे।
एग ि
एस से ा जओ—।।

"जो दुर्जय सग्राम मे दस लाख योद्धाओ को जीतता है, उसकी अपेक्षा जो एक अपने को जीतता है, उसकी विजय ही परम विजय है—

३५. अप्पाणमेव जुज्झाहि
किं ते जुज्झेण बज्झओ ?
मेव अप्पाण
जइत्ता सुहमेहए—।।

बाहर के युद्धो से क्या ? स्वय अपने से ही युद्ध करो। अपने से अपने को जीतकर ही सच्चा सुख प्राप्त होता है—

३६. पचिन्दियाणि कोह
माण तहेव लोह च।
दुज्जय चेव अप्पाण
सव्व अप्पे जिए जिय ॥'

पाँच इन्द्रियाँ, क्रोध, मान, माया, लोभ और मन—ये ही वास्तव मे दुर्जेय हैं। एक अपने आप को जीत लेने पर सभी जीत लिए जाते है।"

३७ एयमट्ठं निसामि
हेऊ कारण-चोइओ।
तओ नमिं रायरिसि
देविन्दो इण वी—॥

इस अर्थ को सुनकर हेतु और कारण से प्रेरित देवेन्द्र ने नमि राजर्षि को इस प्रकार कहा—

३८ 'जइत्ता विउले जन्ने
भोइत्ता णमाहणे।
दच्चा भोच्चा य ि ाय
तओ गच्छसि खत्तिया ! ॥'

"हे क्षत्रिय ! तुम विपुल यज्ञ कराकर, और ब्राह्मणो को भोजन कराकर, दान देकर, भोग भोगकर और स्वय यज्ञ कर के फिर जाना, मुनि बनना।"

३९ एयमट्ठ निसामित्ता
हेऊकारण — चोइओ।
तओ नमी रायरिसी
देविन्द इणमब्बवी—॥

इस अर्थ को सुनकर, हेतु और कारण से प्रेरित नमि राजर्षि ने देवेन्द्र को इस प्रकार कहा—

४०. 'जो सहस्सं सहस्साण
मासे मासे गव वए।
तस्सावि सजमो सेओ
अदिन्तस्स वि किं ॥'

'जो मनुष्य प्रतिमास दस गायो का दान करता है, उसको भी सयम ही श्रेय है—कल्याणकारक है। फिर भले ही वह किसी को भी दान न करे।"

४१ एयमट्ठ निसामित्ता
हेउकारण – चोइओ।
तओ नमिं रायरिसि
देविन्दो ब्बवी—॥

इस अर्थ को सुनकर हेतु और कारण से प्रेरित देवेन्द्र ने नमि राजर्षि को इस प्रकार कहा—

४२. 'घोरासम ण
अन्न पत्थेसि आसम ।
इहेव पोसहरओ
हि मण गाहिवा ! ॥'

"हे मनुजाधिप ! तुम घोराश्रम अर्थात् गृहस्थ आश्रम को छोड़कर जो दूसरे सन्यास आश्रम की इच्छा करते हो, यह उचित नही है । गृहस्थ आश्रम मे ही रहते हुए पौषधव्रत में अनुरत रहो ।"

४३ एयमट्ठ निसामित्ता
हेऊकारण—चोइओ ।
तओ नमी रायरिसी
देविन्द अबवी—॥

इस अर्थ को सुनकर, हेतु और कारण से प्रेरित नमि राजर्षि ने देवेन्द्र को इस प्रकार कहा—

४४ 'मासे मासे तु जो बालो
गेण तु भुजए ।
न सो क्खा
कल अ सोलसि ॥'

"जो बाल (अज्ञानी) साधक महीने-महीने के तप करता है और पारणा मे कुश के अग्र भाग पर आए उतना ही आहार ग्रहण करता है, वह सुआख्यात धर्म (सम्यक् चारित्ररूप मुनिधर्म) की सोलहवी कला को भी पा नही सकता है ।"

४५ एयमट्ठ निसामित्ता
हेऊकारण—चोइओ ।
तओ नमिं रायरिसिं
देविन्दो इण ी—॥

इस अर्थ को सुनकर हेतु और कारण से प्रेरित देवेन्द्र ने नमि राजर्षि को इस प्रकार कहा—

४६ 'हिरण्ण सुवण्ण मणिमुत्त
वूस च वाहण ।
कोस वड्ढ इत्ताण
तओ गच्छसि खत्तिया ॥'

'हे क्षत्रिय ! तुम चादी, सोना, मणि, मोती, कासे के पात्र, वस्त्र, वाहन और कोश अर्थात् भण्डार की वृद्धि करके फिर आना, मुनि बनना ।"

४७ एयमट्ठ निसामित्ता
हेऊकारण — चोइओ
तओ नमी रायरिसी
देविन्द इणमब्बवी —॥

इस अर्थ को सुनकर हेतु और कारण से प्रेरित नमि राजर्षि ने देवेन्द्र को इस कहा—

४८ 'सुवण्ण- उ भवे
सिया हु केलाससमा अ ।
लुद्धस्स न तेहि किंचि
इच्छा उ अ अणन्तिया ॥

"सोने और चादी के कैलाश के समान पर्वत हो, फिर भी लोभी मनुष्य की उनसे कुछ भी तृप्ति नही होती। क्योकि इच्छा आकाश के समान अनन्त है।"

४९ पुढवी साली चेव
हिरण्ण पसुं ह ।
पडिपुण्ण नालमेगस्स
इइ विज्जा तव चरे ॥'

"पृथ्वी, चावल, जौ, सोना और पशु—ये सब एक की इच्छापूर्ति के लिए भी पर्याप्त नही है—" यह जान कर साधक तप का आचरण करे।"

५० एयमट्ठं निसामित्ता
हेऊकारण—चोइओ ।
तओ नमिं रायरिसिं
देविन्दो इणमब्बवी—॥

इस अर्थ को सुनकर हेतु और कारण से प्रेरित देवेन्द्र ने नमि राजर्षि को इस प्रकार कहा—

५१ ' 'रगमब्भुदए
भोए चयसि पत्थिवा ।
असन्ते कामे पत्थेसि
प्पेण विहम्मसि ॥'

"हे पार्थिव ! आश्चर्य है, तुम प्रत्यक्ष मे प्राप्त भोगो को तो त्याग रहे हो और अप्राप्त भोगो की इच्छा कर रहे हो। मालूम होता है, तुम व्यर्थ के सकल्पो से ठगे जा रहे हो।"

५२. एयमट्ठं निसामित्ता
हेऊ—कारणचोइओ ।
तओ नमी रायरिसी
देविन्द इणमब्बवी—॥

इस अर्थ को सुनकर, हेतु और कारण से प्रेरित नमि राजर्षि ने देवेन्द्र को इस प्रकार कहा—

५३ ' । विस कामा
आसीविसोवमा ।
पत्थेमाणा
अ । जन्ति दोग्गइ ॥

"ससार के काम भोग शल्य है, विष हैं और आशीविष सर्प के तुल्य हैं। जो काम-भोगो को चाहते तो हैं, किन्तु परिस्थितिविशेष से उनका सेवन नही कर पाते है, वे भी दुर्गति मे जाते हैं।"

५४. अहे कोहेणं मा अहमा गई । गईपडिग्घाओ लोभाओ दुहओ ॥'	क्रोध से अधोगति मे होता है। मान से गति होती है। से सुगति मे बाधाएँ आती है। लोभ से ऐहिक और पारलौकिक—दोनो तरह का भय होता है।"
५५. अवउज्झिऊण माहणरूवं विउव्विऊण इन्दत्तं । अभित्थुणन्तो इमाहि राहि वग्गूहि—॥	देवेन्द्र ब्राह्मण का रूप छोडकर, अपने वास्तविक इन्द्रस्वरूप को करके इस प्रकार मधुर वाणी से स्तुति हुआ नमि राजर्षि को वन्दना है
५६ 'अहो ! ते निज्जिओ कोहो अहो ! ते माणो पराजिओ । अहो ! ते निरक्किया अहो ! ते लोभो वसीकओ ॥	"अहो, है—तुमने क्रोध को जीता। अहो ! तुमने मान को पराजित किया। अहो ! तुमने को निराकृत—दूर किया। अहो ! तुमने लोभ को वश मे किया।
५७ अहो ! ते साहु अहो ! ते साहु मद्दवं । अहो ! ते खन्ती अहो ! ते मुत्ति ॥	अहो ! है तुम्हारी । अहो ! है तुम्हारी मृदुता। अहो ! है तुम्हारी क्षमा। अहो ! है तुम्हारी निर्लोभता।
५८ सि उत्तमो भन्ते ! पेच्चा होहिसि उत्तमो । लोगत्तमुत्तमं सिद्धि गच्छसि नीरओ ॥'	भगवन् ! आप इस लोक मे भी है और परलोक मे भी होगे। कर्म-मल से रहित होकर आप लोक मे सर्वोत्तम सिद्धि को प्राप्त करेंगे।"
५९ एवं अभित्थुणन्तो रायरिसिं उत्तमाए । पयाहिणं करेन्तो पुणो पुणो वन्दई सक्को ॥	इस प्रकार स्तुति करते हुए इन्द्र ने, श्रद्धा से, राजर्षि को प्रदक्षिणा करते हुए, अनेक बार की।

६० तो वन्दिऊण पाए
चक्कंकुसलक्खणे मुणिव ।
आगासेणुप्पइओ
ललि तिरीडी ॥

इसके नमि मुनिवर के चक्र और अंकुश के लक्षणों से युक्त चरणों की करके ललित एवं चपल कुण्डल और मुकुट को धारण करने वाला इन्द्र ऊपर मार्ग से गया।

६१ नमी ण
सक्खं सक्केण चोइओ ।
गेहं वइदेही
सामण्णे पज्जुवट्ठिओ ॥

नमिराजर्षि ने आत्मभावना से अपने को विनत किया। साक्षात् देवेन्द्र के द्वारा प्रेरित होने पर भी गृह और वैदेही-विदेह देश की राज्यलक्ष्मी को त्याग कर भाव मे सुस्थिर रहे।

६२- एवं करेन्ति संबुद्धा
पण्डिया पवियक्खणा।
विणियट्टन्ति भोगेसु
जहा से नमी रायरिसी ॥

संबुद्ध, पण्डित और विचक्षण पुरुष इसी प्रकार भोगो से निवृत्त होते हैं, जैसे कि नमि राजर्षि।

—त्ति ।

—ऐसा मैं कहता हू।

५४. अहे कोहेण
माणेण अहमा गई ।
माया गईपडिग्घाओ
लो ।ि दुहओ ॥'

क्रोध से अधोगति मे जाना होता है। मान से गति होती है। से सुगति मे बाधाएँ आती है। लोभ से ऐहिक और पारलौकिक—दोनो तरह का भय होता है।"

५५. अवउज्झिऊण माहणरूवं
विउव्विऊण इन्दत्त ।
वन्दइ अभित्थुणन्तो
इमाहि राहिं वग्गूहि—॥

देवेन्द्र ब्राह्मण का रूप छोडकर, अपने वास्तविक इन्द्रस्वरूप को करके इस प्रकार मधुर वाणी से स्तुति हुआ नमि राजर्षि को वन्दना है

५६ 'अहो ! ते निज्जिओ कोहो
अहो ! ते माणो पराजिओ ।
अहो ! ते निरक्किया
अहो ! ते लोभो वसीकओ ॥

"अहो, है—तुमने क्रोध को जीता। अहो ! तुमने मान को पराजित किया। अहो ! तुमने को निराकृत—दूर किया। अहो ! तुमने लोभ को वश मे किया।

५७ अहो ! ते साहु
अहो ! ते साहु मद्दव ।
अहो ! ते खन्ती
अहो ! ते मुत्ति ॥

अहो ! है तुम्हारी । अहो ! है तुम्हारी मृदुता। अहो ! है तुम्हारी क्षमा। अहो ! उत्तम है तुम्हारी निर्लोभता।

५८ सि उत्तमो भन्ते !
पेच्चा होहिसि उत्तमो ।
लोगत्तमुत्तमं
सिद्धि गच्छसि नीरओ ॥'

भगवन् ! आप इस लोक मे भी है और परलोक मे भी होगे। कर्म-मल से रहित होकर आप लोक मे सर्वोत्तम सिद्धि को प्राप्त करेंगे।"

५९ एवं अभित्थुणन्तो
रायरिसिं उत्तमाए सद्धाए ।
पयाहिण करेन्तो
पुणो पुणो वन्दई सक्को ॥

इस स्तुति करते हुए इन्द्र ने, श्रद्धा से, राजर्षि को प्रदक्षिणा करते हुए, अनेक बार की।

६० तो वन्दिऊण पाए चक्कंकुसलक्खणे मु । आगासेणुप्पइओ ललियचवलकुंडलतिरीडी ॥	इसके ,नमि मुनिवर के चक्र और अंकुश के लक्षणो से युक्त चरणो की करके ललित एव कुण्डल और मुकुट को धारण करने इन्द्र आकाश मार्ग से गया।
६१ नमी ` ण सक्खं सक्केण चोइओ । गेह वइदेही सामण्णे पज्जुवट्ठि ओ ॥	नमिराजर्षि ने आत्मभावना से अपने को विनत किया। साक्षात् देवेन्द्र के द्वारा प्रेरित होने पर भी गृह और वैदेही-विदेह देश की राज्यलक्ष्मी को कर भाव मे सुस्थिर रहे।
६२ एवं करेन्ति संबुद्धा पंडिया पवियक्खणा। विणियट्टन्ति भोगेसु जहा से नमी रायरिसी ॥	संबुद्ध, पण्डित और विचक्षण पुरुष इसी प्रकार भोगो से निवृत्त होते है, जैसे कि नमि राजर्षि।
—त्ति ।	—ऐसा मैं कहता हू।

१०

द्रु

से सूखा गिर है ।
मनुष्य के भी ऐसा ही नहीं होता है ?

भगवान् महावीर की वाणी को अच्छी तरह जाँच कर, परख कर ही गौतम ने महावीर पर विश्वास किया था। गौतम का महावीर के प्रति परम अनुराग था। उनका ज्ञान अनुपम था। उनका सयम श्रेष्ठ था। दीप्तिमान सहज तपस्वी जीवन था उनका। सरल और सरस अन्त करण के धनी थे वे। श्रेष्ठता के किसी भी स्तर पर गौतम कम नही थे। फिर भी प्रस्तुत अध्ययन के अनुसार भगवान् महावीर ने ३६ बार 'क्षण मात्र का भी प्रमाद' न करने के लिए कहा है उन्हे। ऐसा क्यो ?

इसके दो कारण हो सकते हैं। प्रथम है, सघ मे सैकडो व्यक्ति सर्व-दर्शी हो रहे है। अभी-अभी आए हैं, और आने के ही अनन्त ज्ञान दर्शन को भी प्राप्त हो गये। सघ मे आये दिन ऐसी घटनाए हो रही हैं। गौतम इसे देख रहे है। हो सकता है, गौतम के मन को इन घटनाओ ने विचलित किया हो, और इस पर भगवान् महावीर ने कहा हो कि—"गौतम! शका मत करो। तुम भी एक दिन अवश्य ही मेरी तरह बनोगे। अभी मेरी उपस्थिति है, मैं तुम्हे मार्ग दर्शक के रूप मे प्राप्त हूँ। अत किसी भी प्रकार से अधीर हुए विना जिस राजमार्ग पर तुम आ गए हो, उस पर पूर्ण दृढता के साथ चलो। तुमने ससार-सागर पार कर लिया है, अब तो केवल किनारे का छिछला जल ही शेष है। तट पर आते-आते क्यो रुक गये हो? इसे भी पार कर जाओ। जीवन क्षणिक है। शरीर और इन्द्रियो की शक्ति प्रति-

क्षण क्षीण हो रही है। अगर अभी अवसर चूक गए, तो इस जीव को सख्यात, असख्यात और अनन्त काल तक ससार मे परिभ्रमण करना पडेगा। अत एक क्षण का भी प्रमाद न करो।"

दूसरा कारण है—जैन आगम अधिकतर गौतम की जिज्ञासाओ और महावीर के समाधानो से व्याप्त है। हो सकता है, गौतम ने दूसरो के लिए भी कुछ प्रश्न किए हो और महावीर ने सभी साधको को लक्ष्य में रखकर कहा हो। चूंकि गौतम ने कुछ पूछा है, इसलिए गौतम को ही सम्बोधित करते रहे हो। इसका अर्थ है—सम्बोधन केवल गौतम को है, और प्रतिबोध सभी के लिए है।

प्रस्तुत द्रुमपत्रक अध्ययन मे भगवान् महावीर द्वारा गौतम को किया गया उद्बोधन सकलित है। उद्बोधन है, अन्तर्मन के जागरण का महान् उद्घोष है।

द मं :द अ६

दुमपत्तयं : द्रुम

हिन्दी अनुवाद

१. दुमपत्तए पंडुयए जहा
निवडइ राइगणाण ।
मणुयाण जीवियं
गोयम ! मा पमायए ॥

गौतम ! जैसे समय बीतने पर वृक्ष का सूखा हुआ सफेद पत्ता गिर है, उसी प्रकार मनुष्य का जीवन है। अत गौतम ! समय (क्षण) मात्र का भी प्रमाद मत कर।

२ कुसग्गे जह ओसबिन्दुए
थोवं चिट्ठइ लम्बमाणए।
मणुयाण जीवियं
गोयम ! मा पमायए ॥

—डाभ के अग्र भाग पर टिके हुए ओस के बिन्दु की तरह मनुष्य का जीवन क्षणिक है। इसलिए गौतम ! समय मात्र का भी प्रमाद मत कर।

३ इत्तरियम्मि आउए
जीवियए बहुपच्चवायए।
विहुणाहि रय पुरे
गोयम ! मा पमायए ॥

इस अल्पकालीन आयुष्य मे, अत्यधिक विघ्नो से प्रतिहत जीवन मे ही पूर्वसंचित कर्मरज को दूर करना है, इसलिए गौतम ! समय मात्र का भी प्रमाद मत कर।

४ दुल्लहे खलु माणुसे भवे
चिरकालेण वि सव्वपाणिण।
य ि कम्मुणो
गोयम ! मा पमायए ॥

विश्व के सब प्राणियो को चिरकाल मे भी मनुष्य भव की प्राप्ति दुर्लभ है। कर्मों का विपाक अतीव तीव्र है। इसलिए हे गौतम ! समय मात्र का भी मत कर।

५ पुढविक्कायमइगओ
उक्कोस जीवो उ सवसे ।
ईय
गोयम ! मा पमायए ॥

पृथ्वीकाय मे गया हुआ—अर्थात् उत्पन्न हुआ जीव(पुन पुन जन्म मरणकर) उत्कर्पत —अधिक से अधिक काल तक रहता है । अत गौतम ! समय मात्र का भी मत कर ।

६. यमइगओ
उवकोस जीवो उ सवसे ।
ईय
समय गोयम ! मा पमायए ॥

अप्काय (जल) मे गया हुआ जीव उत्कर्षत काल तक रहता है । अत गौतम ! समय मात्र का भी प्रमाद मत कर ।

७ तेउक्कायमइगओ
उक्कोस जीवो उ सवसे ।
सखाईय
गोयम ! मा पमायए ॥

तेजस् काय (अग्नि) मे गया हुआ जीव उत्कर्षत अस काल तक रहता है । अत गौतम ! क्षणभर का भी प्रमाद मत कर ।

८ वाउक्कायमइगओ
उक्कोस जीवो उ सवसे ।
ईय
गोयम ! मा पमायए ॥

वायुकाय मे गया हुआ जीव काल तक रहता है । अत गौतम ! क्षण भर का भी प्रमाद मत कर ।

९ मइगओ
उक्कोस जीवो उ सवसे
कालमणन्तदुरन्त
गोयम ! मा पमायए ॥

वनस्पति काय मे गया हुआ जीव उत्कर्पत दु ख से समाप्त होने वाले अनन्त काल तक रहता है । अत गौतम ! क्षण भर का भी प्रमाद मत कर ।

१०. बेइन्दियकायमइगओ
उक्कोस जीवो उ सवसे ।
सखिज्जसन्निय
गोयम ! मा पमायए ॥

द्वीन्द्रिय काय मे गया हुआ जीव उत्कर्पत काल तक रहता है । अत गौतम ! क्षण भर का भी प्रमाद मत । कर ।

११ तेइन्दियकायमइगओ
उक्कोस जीवो उ सवसे ।
सखिज्जसन्निय
गोयम ! मा पमायए ॥

त्रीन्द्रिय काय मे गया हुआ जीव सख्यात काल तक रहता है । अत गौतम ! क्षण भर का भी मत कर ।

१२ चउरिन्दियकायमइगओ उक्कोस जीवो उ सवसे । सखिज्जसन्नियं गोयम ! मा पमायए ॥	चतुरिन्द्रय काय मे गया हुआ जीव उत्कर्षत सख्यात काल तक रहता है। इसलिए गौतम ! क्षण भर का भी प्रमाद मत कर।
१३ पचिन्दियकायमइगओ उक्कोस जीवो उ सवसे । सत्तट्ठ—भवग्गहणे गोयम ! मा पमायए ॥	पचेन्द्रिय काय मे गया हुआ जीव उत्कर्षत सात आठ भव तक रहता है। इसलिए गौतम ! समय मात्र का भी प्रमाद मत कर।
१४ नेरइए य अइगओ उक्कोस जीवो उ सवसे । इक्किक्क—भवग्गहणे गोयम ! मा पमायए ॥	देव और नरक योनि मे गया हुआ जीव उत्कर्षत एक-एक भव (जन्म) ग्रहण करता है। अत गौतम ! समय मात्र का भी प्रमाद मत कर।
१५ एव —ससारे सुहासुहेहि कम्मेहिं । जीवो -बहुलो गोयम ! मा पमायए ॥	प्रमादबहुल जीव शुभाशुभ कर्मो के कारण ससार मे परिभ्रमण करता है। इसलिए गौतम ! क्षण भर का भी प्रमाद मत कर।
१६ ण वि माणु आरि पुणरावि दुल्लह । बहवे दसुया ि । समय गोयम ! मा पमायए ॥	दुर्लभ मनुष्य जीवन पाकर भी आर्यत्व पाना दुर्लभ है। क्योकि मनुष्य होकर भी बहुत से लोग दस्यु और म्लेच्छ होते हैं। अत गौतम ! समय मात्र का भी प्रमाद मत कर।
१७ ण वि आरियत्तण अहोणपचिं । हु दुल्लहा विगलिन्दियया हु दीसई गोयम ! मा ए ॥	आर्यत्व की प्राप्ति होने पर भी अविकल पचेन्द्रियत्व की प्राप्ति होना दुर्लभ है। क्योकि बहुत से जीवो को विकलन्द्रियत्व भी देखा जाता है। अत गौतम ! क्षण भर का भी प्रमाद मत कर।

१८ अहीणपंचिन्दियत्तं पि से लहे
उत्तमधम्मसुई हु दुल्लहा।
कुतित्थिनिसेवए
गोयम ! मा पमायए ॥

अविकल अर्थात् पूर्ण पचेन्द्रियत्व की प्राप्ति होने पर भी श्रेष्ठ धर्म का श्रवण पुन दुर्लभ है। क्योंकि कुतीर्थिको की उपासना करने वाले भी देखे जाते है। इसलिए गौतम ! मात्र का भी प्रमाद मत कर।

१९ ूण वि
सद्दहणा पुणरावि दुल्लहा।
मिच्छत्तनिसेवए जणे
गोयम ! मा पमायए ॥

उत्तम धर्म की श्रुति मिलने पर भी उस पर होना दुर्लभ है। क्योंकि बहुत से लोग मिथ्यात्व का सेवन करते हैं। अत गौतम ! क्षण भर का भी प्रमाद मत कर।

२० पि हु सद्दहन्तया
दुल्लहया काएण या।
ुणेहि मुि ा
गोयम ! मा ए ॥

धर्म की श्रद्धा होने पर भी तदनुरूप काय से स्पर्श अर्थात् आचरण होना दुर्लभ है। बहुत से धर्मश्रद्धालु भी काम भोगो मे हैं। अत गौतम ! क्षण भर का भी मत कर।

२१ परिजूरइ ते सरीरय
केसा पण्डुरया हवन्ति ने।
से सोय य हायई
गोयम ! मा पमायए ॥

तुम्हारा शरीर जीर्ण हो रहा है, केश (सिर के बाल) सफेद हो रहे है। तथा श्रवणशक्ति ोर हो रही है। अत गौतम ! क्षण भर का भी मत कर।

२२ परिजूरइ ते सरीरय
केसा पण्डुरया हवन्ति ते।
से चक्खुबले य हायई
गोयम ! मा पमायए ॥

तुम्हारा शरीर जीर्ण हो रहा है, केश सफेद हो रहे है, आँखो की शक्ति क्षीण हो रही है। अत गौतम ! समय मात्र का भी प्रमाद मत कर।

२३ परिजूरइ ते सरीरय
केसा पण्डुरया हवन्ति ते।
से घाणबले य हायई
गोयम ! मा पमायए ॥

तुम्हारा शरीर जीर्ण हो रहा है, केश सफेद हो रहे हैं। घ्राण शक्ति हीन हो रही है। अत गौतम ! मात्र का भी मत कर।

२४ परिजूरइ ते सरीरय
केसा न्ति ते ।
से जिब्भ य हायई
गोयम ! मा पमायए ॥

तुम्हारा शरीर जीर्ण हो रहा है, केश सफेद हो रहे हैं। रसग्राहक जिह्वा की शक्ति नष्ट हो रही है। अत गौतम क्षण भर का भी प्रमाद मत कर।

२५ परिजूरइ ते सरीरयं
केसा न्ति ते ।
से य हायई
गोयम ! मा पमायए ॥

तुम्हारा शरीर जीर्ण हो रहा है, केश सफेद हो रहे हैं। स्पर्शन-इन्द्रिय की स्पर्शशक्ति क्षीण हो रही है। अत गौतम ! क्षण भर का भी मत कर।

२६ परिजूरइ ते सरीरयं
केसा पण्डुरया हवन्ति ते ।
से य हायई
गोयम ! मा पमायए ॥

तुम्हारा शरीर कृश हो रहा है, केश सफेद हो रहे हैं। एक तरह से सारी शक्ति ही क्षीण हो रही है। इस स्थिति मे गौतम ! मात्र का भी प्रमाद मत कर।

२७ अरई विसूइया
विविहा फुसन्ति ते ।
वि ते सरीरयं
समय गोयम ! मा पमायए ॥

वात-विकार आदि से अन्य चित्तो-द्वेग, फोडा-फुन्सी, विसूचिका—हैजा-वमन तथा अन्य भी शीघ्र-घाती विविध रोग शरीर मे पैदा होने पर शरीर गिर है, विध्वंस्त हो है। अत गौतम ! क्षण भर का भी प्रमाद मत कर।

२८ वोछिन्द सिणेहमप्पणो
कुमुय सारइय व पाणिय ।
से सव्वसिणेहवज्जिए
गोयम ! मा पमायए ॥

जैसे शरद्-कालीन (चन्द्र विकासी) पानी से लिप्त नही होता, उसी तू भी अपना सभी प्रकार का स्नेह (लिप्तता) का त्याग कर निर्लिप्त बन। गौतम ! इसमे तू समय मात्र का भी प्रमाद मत कर।

२९ चिच्चाण धण च भारिय पव्वइओ हि सि अणगारिय । मा पुणो वि आइए गोयम ! मा पमायए ॥	धन और पत्नी का परित्याग कर तू अनगार वृत्ति मे दीक्षित हुआ है। अत एक बार वमन किए गए भोगो को पुन मत पी, स्वीकार मत कर। गौतम ! अनगार धर्म के सम्यक् अनुष्ठान मे समय मात्र का भी प्रमाद मत कर।
३० उज्झिय मित्तबन्धव विउल चेव धणोहसंचय । मा त विइय गवेसए गोयम ! मा पमायए ॥	मित्र, बान्धव और विपुल धनराशि को छोड़कर पुन उनकी गवेषणा (तलाश) मत कर। हे गौतम ! समय मात्र का भी प्रमाद मत कर।
३१ न हु जिणे अज्ज दिस्सई मए दिस्सई मग्गदेसिए । नेयाउए पहे गोयम ! मा पमायए ॥	भविष्य मे लोग कहेगे—'आज जिन नही दीख रहे है, और जो मार्गदर्शक है भी, वे एक मत के नही है।' किन्तु आज तुझे न्यायपूर्ण मार्ग उपलब्ध है। अत गौतम ! समय मात्र का भी प्रमाद मत कर।
३२ अवसोहिय कण्टगापह ओइण्णो सि पह महालय । सि विसोहिया समय गोयम ! मा ए	कटकाकीर्ण पथ छोड़कर तू साफ राज-मार्ग पर आ गया है। अत दृढ श्रद्धा के साथ इस मार्ग पर चल। गौतम ! समय मात्र का प्रमाद मत कर।
३३ अबले जह भारवाहए मा मग्गे विसमेवगाहिया । पच्छाणुतावए गोयम ! मा पमायए ॥	ोर भारवाहक विषम मार्ग पर जाता है, तो पश्चात्ताप करता है, गौतम ! तुम उसकी तरह विषम मार्ग पर मत जाओ। अन्यथा बाद मे पछताना होगा। गौतम ! समय मात्र का भी प्रमाद मत कर।

३४ तिण्णो हु सि महं किं पुण चिट्ठसि तीरमागओ। अभितुर पारं गमित्तए। गोयम! मा पमायए॥	हे गौतम! तू महासागर को तो पार कर गया है, अब तीर–तट के निकट पहुंच कर क्यों खड़ा है? उसको पार करने मे जल्दी कर। गौतम! क्षण भर का भी प्रमाद मत कर।
३५ अकलेवरसेणिमुस्सिया सिद्धिं गोयम लोयं गच्छसि। खेमं च सिवं अणुत्तरं गोयम! मा पमायए॥	तू देहमुक्त सिद्धत्व को प्राप्त कराने वाली क्षपक श्रेणी पर हो कर क्षेम, शिव और अनुत्तर सिद्धि लोक को प्राप्त करेगा। अत गौतम! क्षण भर का भी प्रमाद मत कर।
३६ परिनिव्वुडे चरे गामगए नगरे व संजए। सन्तिमग्गं च गोयम! मा पमायए॥	बुद्ध–तत्त्वज्ञ और न्त होकर पूर्ण सयतभाव से तू गाव एव नगर मे विचरण कर। शान्ति मार्ग को बढा। गौतम! इसमे समय मात्र का भी प्रमाद मत कर।
३७ बुद्धस्स नि भासियं सुकहियमट्ठपओवसोहियं॥ रागं दोसं च छिन्दिया सिद्धिगइं गए गोयमे॥	अर्थ और पद से सुशोभित एव सुकथित बुद्ध (पूर्णज्ञ) की—अर्थात् भगवान महावीर की वाणी को सुनकर, राग द्वेष का छेदन कर गौतम सिद्धि गति को प्राप्त हुए।
—त्ति बेमि।	—ऐसा मैं कहता हू।

११

बहु ुत-पूजा

जो ं को और दूसरो को बन्धनो से मुक्ति का ॱ दिखा दे, वह शिक्षा है।

शिक्षाशील विद्यार्थी अगर क्रोध करता है, आलस्य करता है, यदि वह अहकारी है, रोगी है, दूसरो के दोपो को देखता है, दूसरो का तिरस्कार करता है, मित्रो की बुराई करता है, प्राप्त साधनो का साथियो मे समान विभाजन नही करता है, वह ठीक ज्ञानार्जन नही कर सकता हैं, विद्याध्ययन नही कर पाता है। किन्तु जो व्यर्थ की वातो को छोड देता है, जो नम्र और सुशील है, जो विद्वान् होकर भी अहकार नही करता है, दूसरो की कमजोरियो का मजाक नही है, जो गाली गलौज और हाथापाई जैसे व्यवहारो से परे है, वह शिक्षार्थी बहुश्रुत होता है। बहुश्रुत का अर्थ है—'श्रुत ज्ञानी।'

यद्यपि बहुश्रुत विपय-भेद से अनेक प्रकार के होते है, तथापि वे सभी पूजा के योग्य होते हैं। वे सूर्य और चाद की तरह तेजस्वी होते है। वे सागर की भाति गम्भीर होते है। वे साहसी और दृढ होते है। वे किसी से जीते नही जाते। उनकी ज्ञानसम्पदा किसी से कम नही होती है। उनकी शिक्षा का उद्देश्य स्वय को मुक्त करना और दूसरो को भी मुक्त कराना होता है। इस अध्ययन मे १५ उपमाएँ बहुश्रुत के लिए दी है।

विद्या का उद्देश्य, विद्यार्थी की आचारसहिता और विद्वान् की योग्यता के सम्बन्ध में—यह एक महत्त्वपूर्ण वैज्ञानिक विश्लेपण है।

आज के तथाकथित विद्वान् और विद्यार्थी अगर थोडा सा भी इस ओर दे सकें, तो आज शिक्षा-जगत् की बहुत कुछ समस्याओ का समा- निकल है। - ●

इक्कार अज्झ : ग्यारहवां अ

बहुस्सुयपुज : बहुश्रुत-पू

मूल	हिन्दी अनुवाद
१ सजोगा विप्पमु स भिक्खुणो । आ करिस्सामि णुपुव्वि सुणेह मे ॥	सासारिक बन्धनो से रहित अनासक्त गृहत्यागी भिक्षु के आचार का मैं यथाक्रम कथन करूगा, उसे तुम मुझसे सुनो।
२ जे यावि होइ निव्विज्जे थद्धे अणिग्गहे । अभिक्खण उल्लवई अविणीए अब ए ॥	जो विद्याहीन है, और जो विद्यावान् होकरभी अहकारी है, जो अजितेन्द्रिय है, जो अविनीत है, जो बार-बार असबद्ध बोलता है—बकवास करता है, वह अबहुश्रुत है।
३. अह पचहि ठाणेहि जेहि सि न लब्भई । थम्भा कोहा पमाएण रोगेणा एण य ॥	इन पाच कारणो से शिक्षा प्राप्त नही होती है—अभिमान, क्रोध, प्रमाद, रोग और आलस्य।
४ हि हि सिक्खासीले त्ति वुच्चई । अहस्सिरे . सया दन्ते न य मम्ममुदाहरे ॥	(१) जो हँसी-मजाक नही करता है, (२) जो सदा दान्त—शान्त रहता है, (३) जो किसी का मर्म प्रकाशित नही करता है,

५ ीले न विसीले
न िं अइलोलुए ।
ोहणे सच्चरए
सिक्खासीले त्ति वुच्चई ॥

(४) जो अशील, सर्वथा आचारहीन न हो,
(५) जो विशील, दोषो से कलकित न हो,
(६) जो रसलोलुप–चटोरा न हो,
(७) जो क्रोध न करता हो,
(८) जो सत्य मे अनुरक्त हो,
इन आठ स्थितियो मे व्यक्ति शिक्षा-शील होता है ।

६ अह चउदसहिं ठाणेहिं
उ संजए ।
अविणीए वुच्चई सो उ
ं च न ॥

चौदह प्रकार से व्यवहार करने वाला सयत-मुनि अविनीत कहलाता है और वह निर्वाण प्राप्त नही करता है-।

७ अभिक्खण कोही हवइ
च पकुव्वई ।
मेत्तिज्जमाणो
सुय ूण मज्जई ॥

(१) जो बार बार क्रोध है,
(२) जो क्रोध को लम्बे तक बनाये है,
(३) जो मित्रता को ठुकराता है,
(४) जो श्रुत प्राप्त कर अहकार है—

८ अवि रिक्खेवी
अवि मित्तेसु कुप्पई ।
सुप्पियस्सावि मित्तस्स
रहे भासइ ॥

(५) जो होने पर दूसरो का तिरस्कार करता है,
(६) जो मित्रो पर क्रोध करता है,
(७) जो प्रिय मित्रो की भी एकान्त मे बुराई है—

९ पइण्णवाई दुहिले
थद्धे लुद्धे अणिग्गहे ।
असम्विभागी अचियत्ते
अविणीए त्ति वुच्चई ।

(८) जो असबद्ध प्रलाप करता है,
(९) द्रोही है,
(१०) अभिमानी है,
(११) रसलोलुप है,

(१२) अजितेन्द्रिय है,
(१३) असविभागी है,–साथियो मे बाटता नही है,
(१४) अप्रीतिकर है ।

१०. अह रसहि ठाणेहि
सुविणीए त्ति वुच्चई ।
नीयावत्ती ले
ई अकुऊहले ॥

पन्दरह कारणो से सुविनीत कहलाता है–
(१) जो नम्र है,
(२) अचपल है–अस्थिर नही है,
(३) दम्भी नही है,
(४) अकुतूहली है–तमाशबीन नही है–

११ अप्प चाऽहिि वई
पबन्ध च न कुव्वई
मेत्तिज्जमाणो भयई
ं न मज्जई ॥

(५) किसी की निन्दा नही करता है,
(६) जो क्रोध को लम्बे समय तक पकड कर नही रखता है,
(७) जो मित्रो के प्रति है,
(८) श्रुत को प्राप्त करने पर अहकार नही है—

१२ न य पावपरिक्खेवी
न य मित्तेसु कुप्पई ।
अप्पियस्सावि ि
रहे सासई ॥

(९) स्खलना होने पर दूसरो का तिरस्कार नही करता है ।
(१०) मित्रो पर क्रोध नही है ।
(११) जो अप्रिय मित्र के लिए भी ए मे भलाई की ही बात करता है–

१३ कलह–डमरवज्जए
े अभिजाइए ।
हिरिम पडिसलीणे
सुविणीए त्ति वुच्चई ।

(१२) जो वाक्-कलह और डमर–मारपीट, हाथापाई नही करता है,
(१३) अभिजात (कुलीन) होता है,
(१४) लज्जाशील होता है,
(१५) प्रति सलीन (इधर उधर की व्यर्थ चेष्टाए न करने वाला आत्मलीन) होता है,
वह बुद्धिमान् साधु विनीत होता है ।

१४. वसे गुरुकुले निच्चं
जोगवं हाणवं ।
पियकरे पियवाई
से सिक्खं ुमरिहई ॥

जो सदा गुरुकुल मे अर्थात् गुरुजनो की सेवा मे रहता है, जो योग और उपधान (ाध्ययन से सम्बन्धित विशेष तप) मे निरत है, जो प्रिय करने है और प्रियभाषी है, वह शिक्षा कर है।

१५ जहा म्मि पयं
निहियं ओ वि विरायइ।
एवं बहुस्सुए भिक्खू
धम्मो कित्ती ॥

जैसे शख मे रखा हुआ दूध स्वय अपने और अपने आधार के गुणो के कारण दोनो ओर से सुशोभित अर्थात् निर्मल एव निर्विकार रहता है, उसी तरह बहुश्रुत भिक्षु मे धर्म, कीर्ति और श्रुत भी दोनो ओर से (अपने और अपने आधार के गुणो से) सुशोभित होते हैं, निर्मल रहते हैं।

१६ जहा से कम्बोयाण
कन्थए सिया।
आसे जवेण पवरे
॥

जिस कम्बोज देश के अश्वो मे घोडा जातिमान् और वेग मे श्रेष्ठ होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत श्रेष्ठ होता है।

१७ जहाऽऽइण्णसमारूढे
सूरे दढपरक्कमे।
उभओ नन्दिघोसेण
एवं हवइ ॥

जैसे जातिमान् पर आरूढ दृढ पराक्रमी शूरवीर योद्धा दोनो तरफ (-बगल मे या आगे-पीछे) होने वाले नान्दी घोषो से—विजय के वाद्यो से या जय जयकारो से सुशोभित होता है, वैसे बहुश्रुत भी सुशोभित होता है।

१८ जहा करेणुपरिकिण्णे
कुजरे सट्ठिहायणे ।
बलवन्ते अप्पडिहए
एवं हवइ बहुस्सुए ॥

जिस प्रकार हथिनियो से घिरा हुआ साठ वर्ष का बलवान हाथी किसी मे पराजित नही होता है, वैसे ही बहुश्रुत भी किसी से पराजित नही होता है।

१६ जहा से तिक्खसिंगे
  न्धे विरायई ।
वसहे जूहाहिवई
एव हवइ बहुस्सुए ॥

जैसे तीक्ष्ण सीगोवाला, बलिष्ठ कधो वाला वृषभ—साड यूथ के अधिपति के रूप मे सुशोभित होता है, वैसे ही बहुश्रुत मुनि भी गण के अधिपति के रूप मे सुशोभित होता है ।

२० जहा से तिक्खदाढे
उदग्गे दुप्पहसए ।
सीहे मियाण पवरे
एव हवइ बहुस्सुए ॥

जैसे तीक्ष्ण दाढो वाला पूर्ण युवा एव दुष्पराजेय सिंह पशुओ मे श्रेष्ठ होता है, वैसे ही बहुश्रुत भी अन्य तीर्थिको मे श्रेष्ठ होता है ।

२१ जहा से वासुदेवे
  —चक्क—गयाधरे ।
अप्पडिहयबले जोहे
एव हवइ बहुस्सुए ॥

जैसे शख, चक्र और गदा को धारण करने वासुदेव अपराजित बल वाला योद्धा होता है, वैसे ही बहुश्रुत भी अपराजित ाली होता है ।

२२ जहा से चाउरन्ते
  ट्टी महिड्ढिए ।
चउद्दसरयणाहिवई
एव हवइ बहुस्सुए ॥

जैसे महान ऋद्धिशाली चातुरन्त चक्रवर्ती चौदह रत्नो का स्वामी होता है, वैसे ही बहुश्रुत भी चौदह पूर्वो की विद्या का स्वामी होता है ।

२३ जहा से सहस्सक्खे
  णी पुरन्दरे ।
सक्के देवाहिवई
एव हवइ ॥

जैसे सह , वज्रपाणि, पुरन्दर शक्र देवो का अधिपति होता है, वैसे बहुश्रुत भी होता है ।

२४ जहा से तिमिरविद्ध से
उत्तिट्ठन्ते दिवायरे ।
जलन्ते इव तेएण
एव हवइ ब ॥

जैसे र का नाशक उदीयमान सूर्य तेज से जलता हुआ—सा प्रतीत होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत भी तेजस्वी होता है ।

२५ जहा से उडुवई चन्दे
—परिवारिए ।
पडिपुण्णे पुण्णमासीए
एव हवइ बहुस्सुए ॥

जैसे नक्षत्रो के परिवार से परिवृत, नक्षत्रो का अधिपति चन्द्रमा पूणिमा को परिपूर्ण होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत भी जिज्ञासु साधको के परिवार से परिवृत एव ज्ञानादि की कलाओ से परिपूर्ण होता है ।

२६ जहा से सामाइयाण
कोट्ठागारे सुरक्खिए ।
नाणाधन्नपडिपुण्णे
एव हवइ बहुस्सुए ॥

जिस प्रकार सामाजिक अर्थात् किसान या व्यापारी आदि का कोष्ठागार (भण्डार) सुरक्षित और अनेक प्रकार के धान्यो से परिपूर्ण होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत भी नाना प्रकार के श्रुत से परिपूर्ण होता है ।

२७ जहा सा दुमाण
जम्बू नाम सुदसणा ।
अणाढियस्स देवस्स
एव हवइ बहुस्सुए ॥

'अनादृत' देवका 'सुदर्शन' नामक जम्बू वृक्ष जिस प्रकार सब वृक्षो मे श्रेष्ठ होता है वैसे ही बहुश्रुत सब साधुओ मे श्रेष्ठ होता है ।

२८ जहा सा नईण
सलिला सागरगमा ।
सीया नीलवन्तपवहा
एव हवइ बहुस्सुए ॥

जिस प्रकार नीलवत वर्षधर पर्वत से निकली हुई जलप्रवाह से परिपूर्ण, समुद्रगामिनी सीता नदी सब नदियो मे श्रेष्ठ है, इसी प्रकार बहुश्रुत भी सर्वश्रेष्ठ होता है ।

२९ जहा से नगाण पवरे
सुमहं मन्दरे गिरी ।
नाणोसहिपज्जलिए
एव हवइ बहुस्सुए ॥

जैसे कि नाना प्रकार की औषधियो से दीप्त महान् मदर-मेरु पर्वत सब पर्वतो मे श्रेष्ठ है, ऐसे ही बहुश्रुत सब साधुओ मे श्रेष्ठ होता है ।

३० जहा से सयम्भूरमणे
उदही अक्खओदए ।
नाणारयणपडिपुण्णे
एव हवइ बहुस्सुए ।।

जिस प्रकार अक्षय जल से परिपूर्ण स्वयभूरमण समुद्र नानाविध रत्नो से परिपूर्ण रहता है, उसी प्रकार बहुश्रुत भी ज्ञान से परिपूर्ण होता है।

३१ समुद्दगम्भीरसमा दुरासया
अचक्किया केणइ दुप्पहं ।
सुयस्स पुण्णा विउलस्स ताइणो
खवित्तु गइमुत्तम ।।

समुद्र के समान गम्भीर, दुरासद (कष्टो से अबाधित), अविचलित, अपराजेय, विपुल श्रुत से परिपूर्ण, त्राता—ऐसे बहुश्रुत मुनि कर्मों को क्षय करके उत्तम गति को प्राप्त हुए हैं।

३२ तम्हा सुयमहिट्ठिज्जा
उत्तमट्ठगवेसए ।
जेणऽप्पाण पर चेव
सिद्धिं संपाउणेज्जासि ।।

—त्ति बेमि ।

मोक्ष की खोज करने वाला मुनि श्रुत का आश्रय ग्रहण करे, जिससे वह स्वय को और दूसरो को भी सिद्धि (मुक्ति) प्राप्त करा सके।

—ऐसा मै कहता हू ।

१२

हरिकेशीय

ज्योति मिट्टी के दिए मे भी हो सकती है।
आध्यात्मिक विकास जाति के व्यक्ति मे भी हो स है।

पूर्वजन्म के जातीय अहकार के कारण हरिकेशबल चाण्डाल कुल मे उत्पन्न हुआ था। वह स्वभाव से कठोर और शरीर से भी कुरूप था। परिवार, पडोसी और गाँव के लोग सभी उससे परेशान थे। न उसका अपना कोई मित्र था और न उसे कोई चाहता था। सभी उससे घृणा करते थे। और सभी की घृणा एव उपेक्षा ने उसे और अधिक कठोर बना दिया था।

गाव के बाहर सभी लोग मिलकर एक बार उत्सव मना रहे थे। वह भी उत्सव में गया था, लेकिन उसका कोई साथी तो था नही, अत उत्सव की भीड मे भी अकेला। कितनी दयनीय स्थिति थी उसकी। एक ओर कुछ लडके खेल रहे थे। अच्छा मनोरजन था। पर, वह उन लडको के साथ खेलना चाह कर भी खेल नही सकता था। अपमानित सा अकेला दूर खडा-खडा केवल देख रहा था और मन-ही-मन कुछ सोच रहा था। इतने मे एक भयकर सर्प वहा आ निकला। लोगो ने तत्काल उसे मार दिया। थोडी देर मे एक अलसिया निकला, लोगो ने उसे मारा नही, उठाकर दूर कर दिया। हरिकेश बल के लिए यह केवल घटना न थी। इस घटना ने हरिकेश बल के विचारो को कुरेद दिया। वह सोचने लगा—"क्या मैं अपनी क्रूरता और कठोरता के कारण ही विषधर साप की तरह मारा नही जाता हूँ। और यह बिचारा अलसिया! कितना सीधा निर्विष प्राणी है। उसे कोई तकलीफ नही दे रहा है। बात ठीक है, व्यक्ति अपने ही गुणो से पूजा जाता है और अपने

ही अवगुणो से अपमानित होता है।" जीवन के किसी गहरे तल को यह बात स्पर्श कर गई। इन्ही चिन्तन के क्षणो मे उसे जातिस्मरण हो गया और उसने आत्मभाव मे लीनता का पथ पकडा। वह मुनि हो गया। सही मार्ग खोज लिया। उसके विकास मे जाति अवरोध नही डाल सकी। वस्तुत कुल की उच्चता से गुणो की प्राप्ति नही होती है। गुणो का सम्बन्ध व्यक्ति के जागरण के साथ है। इसका स्पष्ट अर्थ है—उच्च कुल, उच्च वर्ण अथवा उच्च जाति गुणो को जन्म नही देती है। और न ये किसी को दुर्गति से बचा ही सकते है। उत्थान हो या पतन, विकास हो या ह्रास, सबके लिए व्यक्ति ही स्वय उत्तरदायी है।

हरिकेशमुनि साधना मे सलग्न थे। तप से उनका शरीर कृश हो गया था। एक बार वे वाराणसी के एक उद्यान मे ठहरे थे। वहा तिन्दुक वृक्ष-निवासी एक यक्ष था। मुनि के तप से प्रभावित होकर वह अपने साथी यक्षो के साथ मुनि की सेवा मे रहने लगा।

एक दिन वाराणसी के राजा कौशलिक की पुत्री भद्रा यक्ष की पूजा करने के लिए मदिर मे आई थी। वहा उसने हरिकेश मुनि को देखा। उनकी कुरूपता को देखकर उसका मन घृणा से भर गया। और उसने उनपर थूक दिया।

राजकुमारी के द्वारा किये गए मुनि के इस अपमान को यक्ष सहन नही कर सका। अत वह उसके शरीर मे प्रविष्ट हो गया और उसे अस्वस्थ कर दिया। चिकित्सको के उपचार के बाद भी वह स्वस्थ नही हो सकी। आखिर एक दिन यक्ष ने राजकुमारी के मुह से कहा—"कुछ भी करो। मैं इसे ठीक नही होने दूगा। इसने घोर तपस्वी हरिकेशबल मुनि का अपमान किया है। इसका इसे प्रायश्चित्त करना पडेगा। और वह प्रायश्चित्त होगा, मुनि के साथ इसका विवाह। अगर राजा ने यह विवाह स्वीकार नही किया तो मैं राजकुमारी को जीवित नही रहने दूगा।"

राजा ने यह बात स्वीकार की। मुनि की सेवा मे जाकर अपने अपराध की क्षमा मॉगी और भद्रा के साथ विवाह के लिए प्रार्थना की।

मुनि ने कहा— 'मेरा कोई अपमान नही हुआ है। मैं विरक्त हूँ। मैं किसी भी तरह विवाह की प्रार्थना स्वीकार नही कर सकता।"

राजा निराश लौट आया। 'ब्राह्मण भी ऋषि का ही रूप है'--इस विचार के आधार पर भद्रा का विवाह राजपुरोहित रुद्रदेव ब्राह्मण के साथ कर दिया गया।

हरिकेशबल मुनि मासोपवास (एक महीने का लम्बा अनशन तप) की समाप्ति पर, भिक्षा की खोज मे, एक दिन यज्ञमण्डप मे पहुँचे। वहा रुद्रदेव पुरोहित यज्ञ करवा रहे थे। यज्ञशाला मे राजकुमारी के विवाह के निमित्त से ही भोजन बना था। मुनि ने भिक्षा की याचना की। लेकिन ब्राह्मणो ने भोजन देने से इन्कार कर दिया और उनको अपमानित करके निकालने का प्रयत्न किया। मुनि की सेवा मे जो यक्ष था, वह ब्राह्मणो के व्यवहार से क्रुद्ध हो गया, अत उसने उन्हे बुरी तरह प्रताडित किया।

राजकुमारी भद्रा, मुनि के प्रभाव को जानती थी। वह उनके घोर तप और विशुद्ध अनासक्ति को पहचानती थो। अतएव उसने ब्राह्मणो को समझाया कि "मुनि जितेन्द्रिय हैं। महान् साधक है। इनका अपमान मत करो। शीघ्र ही अपने अपराधो की क्षमा मागो।"

सभी ब्राह्मणो ने विनम्र भाव से क्षमा मागी और वे सब यक्षपीडा से मुक्त हो गए, स्वस्थ हो गए। मुनि ने अति आग्रह करने पर भिक्षा स्वीकार की। अनन्तर यज्ञ आदि क्या है ? इस विषय की विशद विवेचना करते हुए ब्राह्मणो को प्रतिबोध दिया।

प्रस्तुत अध्ययन मे यज्ञशाला मे मुनि के प्रवेश के बाद का प्रसग है। पूर्व कथा मूल प्रकरण मे सकेत रूप से है, जिसे वृत्तिकारो ने परम्परा से लिखा है।

: बारहवां
हरिएसिज्जं : हरिकेशीय

मूल	हिन्दी अनुवाद
१ सोवागकुलसंभूओ गुणुत्तरधरो मुणी । हरिएसबलो आसि भिक्खू जिइन्दिओ ॥	हरिकेशबल श्वपाक—चाण्डालकुल मे उत्पन्न हुए थे, फिर भी ज्ञानादि उत्तम गुणो के धारक और जितेन्द्रिय भिक्षु थे।
२ इरि-एसण-भासाए -समिईसु य । जओ णनिव ओ सुसमाहिओ ॥	वे ईर्या, एषणा, भाषा, उच्चार, आदान-निक्षेप—इन पॉच समितियो मे ील समाधिस्थ सयमी थे।
३ मणगुत्तो वयगुत्तो गुत्तो जिइन्दिओ भिक्खट्ठा — मि उवट्ठिओ ॥	मन, वाणी और काय से गुप्त जितेन्द्रिय मुनि, भिक्षा के लिए यज्ञ मण्डप मे गये, जहाँ ब्राह्मण यज्ञ कर रहे थे।
४ तं पासिऊणमेज्जन्तं तवेण परिसोसियं । पन्तोवहिउवगरणं उवहसन्ति अणारिया ॥	तप से शरीर सूख गया था और उनके उपधि एव उपकरण भी प्रान्त (जीर्ण एव मलिन) थे। उक्त स्थिति मे मुनि को आते देखकर अनार्य उनका उपहास करने लगे।

५ जाईमयपडिथद्धा
हिंसगा अजिइन्दिया ।
रिणो
वयणमब्बवी–॥

जातिमद से प्रतिस्तब्ध-दृप्त, हिंसक, अजितेन्द्रिय, अब्रह्मचारी और अज्ञानी लोगो ने इस प्रकार कहा–

६ कयरे अ विरूवे
काले विगराले फोक्कनासे ।
ओमचेलए पसुपिसायभूए
सकरदूस परिहरिय ॥

"बीभत्स रूप वाला, , विकराल, बेडोल मोटी नाक वाला, अल्प एव मलिन वस्त्र वाला, धूलि-धूसरित होने से भूत-की तरह दिखाई देने वाला (पांशुपिशाच), गले मे सकरदूष्य (कूडे के ढेर पर से उठा लाये जैसा निकृष्ट वस्त्र) धारण करने वाला यह कौन आ रहा है ?"

७ कयरे तुम इय अवसणिज्जे
काए व आसा इहमागओ सि
ओमचे पसुपिसायभूया
वखलाहि किमिह ठिओसि? ॥

"अरे अदर्शनीय ! तू कौन है ? यहाँ किस आशा से आया है तू ? गदे और धूलि-धूसरित वस्त्र से तू अधनगा पिशाच की तरह दीख रहा है । जा, भाग यहाँ से । यहाँ क्यो खडा है ?"

८ जक्खो तहिं तिन्दुयरुक्खवासी
अणुकम्पओ महामुणिस्स ।
पच्छायइत्ता नियग सरीर
वयणाइमुवाहरित्था–॥

उस समय महामुनि के प्रति अनुकम्पा का भाव रखने वाले तिन्दुक वृक्षवासी यक्ष ने अपने शरीर को छुपाकर (महा-मुनि के शरीर मे प्रवेश कर) ऐसे वचन कहे–

९ ो अह सजओ बम्भयारी
विरओ धणपयणपरिग्गहाओ ।
परप्पवित्तस्स उ ि ले
अन्नस्स अट्ठा इहमागओ मि ॥

'मै श्रमण हूँ । मैं सयत हू । मैं ब्रह्मचारी हू । मैं धन, पचन भोजन पकाना) और परिग्रह का त्यागी हूँ । भिक्षा के समय दूसरो के लिए निष्पन्न आहार के लिए यहाँ आया हूँ ।"

१० वियरिज्जइ खज्जइ भुज्जई य अन्न पभूय भवयाणमेय । जाणाहि मे जीविण त्ति सेसावसेस तवस्सी ॥	"यहा प्रचुर अन्न दिया जा रहा है, खाया जा रहा है, उपभोग मे जा रहा है । आपको मालूम होना चाहिए, मैं भिक्षाजीवी हूँ । अत बचे हुए अन्न मे से कुछ इस तपस्वी को भी मिल जाए ।"
	रुद्रदेव—
११. भोयण माहणाण अत्तट्ठिय सिद्धमिहेगपक्ख । न ऊ वय एरिसमन्न—पाण दाहामु तुज्झ किमिह ठिओ सि ?	"यह भोजन ब्राह्मणो के लिए तैयार किया गया है । यह एक-पक्षीय है, अत दूसरो के लिए अदेय है । हम तुझे यह यज्ञार्थनिष्पन्न अन्न जल नही देगे । फिर तू यहा क्यों खडा है ?"
१२ थलेसु बी ववन्ति तहेव निन्नेसु य साए । एयाए सद्धाए दलाह आराहए पुण्णमिण खु खेत्त ॥	यक्ष— "अच्छी फसल की से किसान जैसे ऊची भूमि मे बीज बोते है, वैसे ही नीची भूमि मे भी बोते है । इस कृषक-दृष्टि से ही मुझे दान दो । मै भी पुण्य-क्षेत्र हू, अत मेरी भी आराधना करो ।"
१३ खेत्ताणि अम्ह विइयाणि लोए जहि पकिण्णा विरुहन्ति पुण्णा । जे माहणा जाइ—विज्जोववेया तु खेत्ताइ सुपेसलाइ ॥	रुद्रदेव— "ससार मे ऐसे क्षेत्र हमे मालूम है, जहा बोये गए बीज पूर्ण रूप से उग आते है । जो ब्राह्मण जाति और विद्या से सम्पन्न है, वे ही पुण्यक्षेत्र है ।
१४. कोहो य माणो य वहो य जेसि मोस च परिग्गह च । ते माहणा जाइविज्जाविहूणा तु खेत्ताइ सुपावयाइ ॥	यक्ष— "जिनमे क्रोध, मान, हिसा, झूठ, चोरी और परिग्रह है, वे ब्राह्मण जाति और विद्या से विहीन पापक्षेत्र है ।"

१५ तुब्भेत्थ भो ! भारधरा गिराण
न जाणाह अट्ठं अहिज्ज वेए ।
उच्चावयाइ मुणिणो चरन्ति
ताइ तु खेत्ताइ सुपेसलाइ ॥

"हे ब्राह्मणो ! इस ससार मे आप केवल वाणी का भार ही वहन कर रहे हो । वेदो को पढकर भी उनके अर्थं को नही जानते हो । जो मुनि भिक्षा के लिए समभावपूर्वक ऊंच नीच घरो मे जाते हैं, वे ही पुण्य-क्षेत्र है ।"

१६ अज्झावयाणं पडिकूलभासी
पभाससे किनु सगासि अम्हं ।
अवि एय विणस्सउ अ
न य ण दहामु तुम नियण्ठा ॥

रुद्रदेव—
"हमारे सामने ो के प्रति प्रतिकूल बोलने वाले निर्ग्रन्थ ! क्या बकवास कर रहा है ? यह अन्न जल भले ही सड कर नष्ट हो जाय, पर, हम तुझे नही देगे ।"

१७ समिईहि सुसमाहियस्स
गुत्तीहि जिइन्दियस्स ।
मे न दाहित्थ अहेसणिज्ज
किमज्ज लहित्थ लाहं ?

यक्ष—
"मैं समितियो से सुसमाहित हूँ, गुप्तियो से गुप्त हू, और जितेन्द्रिय हूँ। यह एषणीय आहार यदि तुम मुझे नही देते हो, तो आज इन यज्ञो का तुम क्या लाभ लोगे ?"

१८ के एत्थ उवजोइया वा
या वा सह खण्डिएहिं ।
एय खु दण्डेण हन्ता
कण्ठम्मि घेत्तूण जो ण ? ॥

रुद्रदेव—
"यहा कोई है क्षत्रिय, उपज्योतिष-रसोइये, और , जो इस निग्रन्थ को डण्डे से, से पीट कर और कण्ठ कर यहाँ से निकाल दें ।"

१९ ण सुणेत्ता
उद्धाइया तत्थ बहू कुमारा ।
दण्डेहि वित्तेहि कसेहि चेव
समागया त इसि तालयन्ति ॥

अध्यापको के वचन सुनकर बहुत से कुमार दौडते हुए वहाँ आए और दण्डो से, वेतो से, चाबुको से उस ऋषि को पीटने लगे ।

१० वियरिज्जइ खज्जइ भुज्जई य
अन्न पभूय भवयाणमेय ।
जाणाहि मे जीविणु त्ति
सेसावसेस ा ।।

"यहा प्रचुर अन्न दिया जा रहा है, जा रहा है, उपभोग मे लाया जा रहा है । आपको मालूम होना चाहिए, मैं भिक्षाजीवी हूँ । अत बचे हुए अन्न मे से कुछ इस तपस्वी को भी मिल जाए ।"

रुद्रदेव—

११. भोयण माहणाण
अत्तट्ठिय सिद्धमिहेगपक्ख ।
न ऊ वय एरिसमन्न-पाण
दाहामु तुज्झ किमिह ठिओ सि ?

"यह भोजन केवल ब्राह्मणो के लिए तैयार किया गया है । यह एक-पक्षीय है, अत दूसरो के लिए अदेय है । हम तुझे यह यज्ञार्थनिष्पन्न अन्न जल नही देगे । फिर तू यहा क्यो खडा है ?"

यक्ष—

१२ थलेसु बी ववन्ति
तहेव निन्नेसु य आससाए ।
एयाए सद्धाए दलाह
आराहए पुण्णमिण खु खेत्त ।।

"अच्छी की से किसान जैसे ऊंची भूमि मे बीज बोते है, वैसे ही नीची भूमि मे भी बोते है । इस रूपक-दृष्टि से ही मुझे दान दो । मैं भी पुण्य-क्षेत्र हू, अत मेरी भी आराधना करो ।"

रुद्रदेव—

१३ खेत्ताणि अम्ह विइयाणि लोए
जहिं पकिण्णा विरुहन्ति पुण्णा ।
जे माहणा जाइ-विज्जोववेया
ं तु खेत्ताइं सुपेसलाइं ।।

"ससार मे ऐसे क्षेत्र हमे मालूम हैं, जहा बोये गए बीज पूर्ण रूप से उग आते है । जो ब्राह्मण जाति और विद्या से सम्पन्न है, वे ही पुण्यक्षेत्र है ।

यक्ष—

१४ कोहो य माणो य वहो य जेसिं
मोस च परिग्गह च ।
ते माहणा जाइविज्जाविहूणा
ं तु खेत्ताइं सुपावयाइं ।।

"जिनमे क्रोध, मान, हिंसा, झूठ, चोरी और परिग्रह है, वे ब्राह्मण जाति और विद्या से विहीन पापक्षेत्र है ।"

२५ ते घोररूवा ठिय अन्तलिक्खे
असुरा तहिं त ता न्ति।
ते भिन्नदेहे रुहिरं वमन्ते
पासित्तु भद्दा इणमाहु भुज्जो ॥

आकाश मे स्थित भयकर रूप वाले असुरभावापन्न क्रुद्ध यक्ष उन को प्रताडित करने लगे। कुमारो को क्षत-विक्षत और खून की उल्टी करते देखकर भद्रा ने पुन कहा—

२६ गिरिं नहेहिं खणह
दन्तेहिं खायह।
जायतेयं पाएहि हणह
जे भिक्खु अवमन्नह ॥

"जो भिक्षु का अपमान करते है, वे नखो से पर्वत खोदते है, दातो से लोहा चबाते है और पैरो से अग्नि को कुचलते है।"

२७ आसीविसो उग्गतवो महेसी
घोरव्वओ घोरपरक्कमो य।
अगणिं व पयगसेणा
जे भिक्खुय भत्तकाले वहेह ॥

—"महर्षि आशीविष है, घोर तपस्वी है, घोर व्रती है, घोर पराक्रमी है। जो लोग भिक्षाकाल मे मुनि को व्यथित करते हैं, वे पतगो की भाँति अग्नि मे गिरते है।"

२८ सीसेण एय सरण उवेह
समागया ण तुब्भे।
जइ इच्छह जीविय वा वा
लोग पि एसो कुविओ डहेज्जा ॥

—"यदि तुम अपना जीवन और धन चाहते हो, तो सब मिलकर, नत-होकर, इनकी शरण लो। तुम्हे मालूम होना चाहिए—यह ऋषि कुपित होने पर समूचे विश्व को भी भस्म कर है।"

२९ अवहेडिय पिट्ठसउत्तमगे
पसारियाबाहु अकम्मचेट्ठे।
निब्भेरियच्छे रुहिरं व
मुहे निग्गयजीह-नेत्ते ॥

मुनि को प्रताडित करने वाले छात्रो के सिर पीठ की ओर झुक गये थे। उनकी भुजाएँ फैल गई थी। वे निश्चेष्ट हो गये थे। उनकी आखें खुली की खुली रह गई थी। उनके मुह से रुधिर निकलने लगा था। उनके मुह ऊपर को हो गये थे। उनकी जीभें और बाहर निकल आयी थी।

२० रन्नो तहिं कोसलियस्स धूया भद्द त्ति नामेण अणिन्दियंगी। त पासिया हम्ममाण कुमारे परिनिब्ववेइ ॥	राजा कौशलिक की अनिन्द्य सुदरी कन्या भद्रा ने मुनि को पिटते देखकर क्रुद्ध कुमारो को रोका।
२१ देवाभिओगेण निओइएणं दिन्ना मु रन्ना न । नरिन्द-देविन्दऽभिवन्दिएण जेणऽम्हि इसिणा स ो॥	भद्रा— "देवता की बलवती प्रेरणा से राजा ने मुझे इस मुनि को दिया था, किन्तु मुनि ने मुझे मन से भी नही चाहा। मेरा परित्याग करने वाले यह ऋषि नरेन्द्रो और देवेन्द्रो से भी पूजित है।"
२२. एसो हु सो तवो महप्पा जिइन्दिओ ओ ब री। जो मे तया नेच्छइ दिज्जमाणि पिउणा सय कोसलिएण रन्ना॥	—"ये वही उग्र तपस्वी, महात्मा, जितेन्द्रिय, सयमी और ब्रह्मचारी हैं, जिन्होने स्वय मेरे पिता राजा कौशलिक के द्वारा मुझे दिये जाने पर भी नही चाहा।"
२३ महाजसो एस महाणुभागो घोरव्वओ घोरपरक्कमो य। मा एय हीलह अहीलणिज्ज मा सव्वे तेएण भे निद्दहेज्जा॥	—"ये ऋषि महान् यशस्वी हैं, महानुभाग हैं घोर व्रती हैं, घोर पराक्रमी हैं। ये अवहेलना के योग्य नही हैं। अत इनकी अवहेलना मत करो। ऐसा न हो कि, अपने तेज से कही यह तुम ो भस्म करदें।"
२४ एयाइ तीसे वयणाइ सो पत्तीइ भद्दाइ सियाइ। इरि वेयावडियट्ठयाए कुमारे विणिवारयन्ति॥	पुरोहित की पत्नी भद्रा के इन सुभाषित वचनो को सुनकर ऋषि की सेवा के लिए यक्ष कुमारो को रोकने लगे।

२५ ते घोररूवा ठिय अन्तलिक्खे असुरा तहिं त तालयन्ति । ते भिन्नदेहे रुहिर वमन्ते पासित्तु भद्दा इणमाहु भुज्जो ॥	आकाश मे स्थित भयकर रूप वाले असुरभावापन्न क्रुद्ध यक्ष उन को प्रताडित करने लगे । कुमारो को क्षत-विक्षत और खून की उल्टी करते देखकर भद्रा ने पुन कहा—
२६ गिरिं नहेहिं खणह दन्तेहि खायह । जायतेय पाएहि हणह जे भिक्खुं अवमन्नह ॥	"जो भिक्षु का अपमान करते है, वे नखो से पर्वत खोदते है, दातो से लोहा चबाते हैं और पैरो से अग्नि को कुचलते हैं ।"
२७ आसीविसो ो महेसी घोरव्वओ घोरपरक्कमो य । अगणि व पयगसेणा जे भिक्खुय भत्तकाले वहेह ॥	—"महर्षि आशीविष हैं, घोर तपस्वी है, घोर व्रती है, घोर पराक्रमी है । जो लोग भिक्षाकाल मे मुनि को व्यथित करते हैं, वे पतगो की भाँति अग्नि मे गिरते हैं ।"
२८ सीसेण एय सरण उवेह समागया ेण तुब्भे । इच्छह जीवियं वा ं वा लोग पि एसो कुविओ डहेज्जा ॥	—"यदि तुम अपना जीवन और धन चाहते हो, तो सब मिलकर, नत-मस्तक होकर, इनकी शरण लो । तुम्हे मालूम होना चाहिए-यह ऋषि कुपित होने पर समूचे विश्व को भी भस्म कर सकता है ।"
२९ अवहेडिय पिट्ठसउत्तमगे पसारियाबाहु अकम्मचेट्ठे । निब्भेरियच्छे रुहिर वमन्ते मुहे निग्गयजीह-नेत्ते ॥	मुनि को प्रताडित करने वाले ो के सिर पीठ की ओर झुक गये थे । उनकी भुजाएँ फैल गई थी । वे निश्चेष्ट हो गये थे । उनकी आखें खुली की खुली रह गई थी । उनके मुह से रुधिर निकलने लगा था । उनके मुह ऊपर को हो गये थे । उनकी जीभें और बाहर निकल आयी थी ।

३० ते पासिया खण्डिय कट्ठभूए
विमणो विसण्णो अह माहणो सो
इसि पसाएइ रियाओ
हील च निन्द च ाह भन्ते ॥

इस प्रकार छात्रो को काठ की तरह निश्चेष्ट देख कर वह उदास और भय-भीत ब्राह्मण अपनी पत्नी को साथ लेकर मुनि को प्रसन्न करने लगा—"भन्ते ! हमने जो आप की अवहेलना और निन्दा की है, उसे क्षमा करें।"

३१ बालेहि मूढेहि णएहि
ज हीलि खमाह ।
महप्पसाया इसिणो हवन्ति ।
न हु मुणी कोवपरा हवन्ति ॥

—"भन्ते ! मूढ अज्ञानी बालको ने आपकी जो अवहेलना की है, आप उन्हे क्षमा करे। ऋषिजन महान् प्रसन्नचित्त होते है, अत वे किसी पर क्रोध नही करते है।

मुनि—

३२ पुव्वि च इण्हि च च
ोसो न मे अत्थि कोइ।
जक्खा हु वेयावडियं करेन्ति
तम्हा हु एए निहया कुमारा ॥

—"मेरे मन मे न कोई द्वेष पहले था, न अब है, और न आगे भविष्य मे ही होगा। यक्ष सेवा करते हैं, उन्होने ही कुमारो को प्रताडित किया है।"

रुद्रदेव—

३३ च च वियाणमाणा
तुब्भे न वि कुप्पह भूइपन्ना।
तुब्भं तु पाए सरण उवेमो
 अम्हे ॥

—"धर्म और अर्थ को यथार्थ रूप से जानने वाले भूतिप्रज्ञ (रक्षाप्रधान मगल बुद्धि से युक्त) आप क्रोध नही करते है। हम सब मिलकर आपके चरणो मे आए हैं, शरण ले रहे है।

३४ अच्चेमु ते महाभाग !
न ते किंचि न अच्चिमो।
भुजाहि सालिम कूर
नाणावजण-संजुय ॥

—"महाभाग ! हम आपकी अर्चना करते हैं। आपका ऐसा भी नही है, जिसकी हम अर्चना न करे। अब आप दधि आदि नाना व्यजनो से मिश्रित शालि-चावलो से निष्पन्न भोजन खाइए।"

३५. च मे अत्थि पभूयमन्नं
त भुजसू अम्ह अणुग्गह ।
' ' ति पडिच्छइ
उ पारणए महप्पा ॥

–"यह हमारा प्रचुर अंश है । हमारे अनुग्रहार्थ इसे स्वीकार करें ।" –पुरोहित के इस आग्रह पर महान् आत्मा मुनि ने स्वीकृति दी और एक मास की ि के पारणे के लिए आहार-पानी ग्रहण किया ।

३६ तहियं गन्धोदय - पुप्फवासं
दिव्वा तहिं हारा य वुट्ठा ।
पहयाओ दुन्दुहीओ सुरेहिं
आगासे अहो च घुट्ठ ॥

देवो ने वहाँ सुगन्धित जल, पुष्प एव दिव्य धन की वर्षा की और दुन्दुभियाँ बजाई, मे 'अहो दानम्' का घोष किया ।

३७ ' खु दीसइ तवोविसेसो
न दीसई जाइविसेस कोई ।
सोवागपुत्ते हरिएस साहू
जस्सेरिस्सा इड्ढि महाणु ॥

मे तप की ही विशेषता–महिमा देखी जारही है, जाति की कोई विशेषता नही दीखती है । जिसकी ऐसी महान् चमत्कारी ऋद्धि है, वह हरिकेश मुनि श्वपाकपुत्र है—चाण्डाल का बेटा है ।

मुनि—

३८. किं माहणा ! जोइसमार
उदएण सोहिं बहिया विमग्गहा ?
ज मग्गहा बाहिरिय विसोहिं
न त सुदिट्ठ कुसला वयन्ति ॥

—"ब्राह्मणो ! अग्नि का समारम्भ (यज्ञ) करते हुए क्या तुम बाहर से—जल से शुद्धि करना चाहते हो ? जो बाहर से शुद्धि को खोजते हैं उन्हे कुशल पुरुष सुदृष्ट—सम्यग् नही कहते हैं ।"

३९ ' च जूवं तणकट्ठमग्गिं
च ' फुसन्ता ।
भूयाइ विहेडयन्ता
भुज्जो वि । पगरेह ॥

—"कुश (डाभ), यूप (यज्ञस्तंभ), तृण, और अग्नि का प्रयोग तथा प्रात और सध्या मे जल का स्पर्श—इस तुम मन्द-बुद्धि लोग, प्राणियो और भूत (वृक्षादि) जीवो का विनाश करते हुए पापकर्म कर रहे हो ।"

४० कह चरे? भिक्खु! वय ो ?
पावाइ कम्माइ पणुल्लयामो ?
अ हि णे ! जक्खपूइया!
कह सुइट्ठ कुसला वयन्ति ?

रुद्रदेव—

"हे भिक्षु ! हम कैसे प्रवृत्ति करें ? कैसे यज्ञ करे ? कैसे पाप कर्मों को दूर करें ? हे यक्षपूजित ! हमे बताएँ कि तत्त्वज्ञ पुरुष श्रेष्ठ यज्ञ कौन-सा बताते है ?"

४१ छज्जीवकाए ारभन्ता
मोसं च असेवमाणा।
परिग्गह इत्थिओ -माय
एय परिन्नाय चरन्ति दन्ता ॥

मुनि—

—"मन और इन्द्रियो को सयमित रखने वाले मुनि पृथ्वी आदि छह जीव-निकाय की हिंसा नही करते हैं, असत्य नही बोलते है, चोरी नही करते हैं, परि-ग्रह, स्त्री, मान और माया को एव छोडकर विचरण करते हैं।"

४२ सुसंवुडो पंचहि सवरेहिं
जीवियं अणवकखमाणो।
वोसट्ठकाओ सुइचत्तदेहो
महाजय जयई जन्नसिट्ठ ॥

—"जो पाच सवरो से पूर्णतया सवृत्त होते है, जो जीवन की आकाक्षा नही करते है, जो शरीर का—अर्थात् शरीर की आसक्ति का परित्याग करते है, जो पवित्र है, जो विदेह है—देह भाव मे नही है, वे वासनाओ पर विजय पाने महाजयी श्रेष्ठ यज्ञ करते हैं।"

४३ के ते जोई ? के व ते जोइठाणे ?
का ते सुया ? किं व ते कारि ?
य ते सन्ति ? भिक्खू !
कयरेण होमेण हुणासि जोइ ?

रुद्रदेव—

—"हे भिक्षु ! तुम्हारी ज्योति (अग्नि) कौनसी है ? ज्योति का स्थान कौनसा है ? घृतादिप्रक्षेपक कडछी क्या है ? अग्नि को प्रदीप्त करने वाले करीषाग (कण्डे) कौनसे है ? तुम्हारा ईंधन और शातिपाठ कौन-सा है ? और किस होम से—हवन की प्रक्रिया से आप ज्योति को प्रज्वलित करते हैं ?"

४४ तवो जोई जीवो जोइठाण
जोगा सुया सरीरं कारिसगं।
एहा संजमजोग सन्ती
होमं हुणामी इसिण ॥

मुनि—
—"तप ज्योति है। जीव-आत्मा ज्योति का स्थान है। मन, वचन और का योग कडछी है। शरीर कण्डे हैं। कर्म ईन्धन है। सयम की प्रवृत्ति शांति-पाठ है। ऐसा मैं यज्ञ हूं।"

४५ के ते हरए? के य ते सन्तितित्थे?
कहिंसि ण्हाओ व रयं जहासि ?
आइ णे संजय! जक्खपूइया!
तो भवओ त्से ॥

रुद्रदेव—
—"हे यक्षपूजित ! हमे बताइए कि तुम्हारा ह्रद-द्रह कौनसा है? शांति-तीर्थ कौनसे हैं? तुम कहाँ स्नान कर रज-मलिनता दूर करते हो? हम आपसे चाहते हैं?"

४६ धम्मे हरए बंभे सन्तितित्थे
अत्तपसन्नलेसे ।
जहिंसि ण्हाओ विमलो विसुद्धो
सुसीइभूओ पजहामि दोसं ॥

मुनि—
—"आत्मभाव की प्रसन्नतारूप अकलुष लेश्यावाला धर्म मेरा ह्रद है, जहाँ स्नानकर मैं विमल, विशुद्ध एव शान्त होकर कर्मरज को दूर करता हूं।"

४७ एयं सिणाणं कुसलेहि दिट्ठं
महासिणाणं इसिण ।
जहिंसि ण्हाया विमला विसुद्धा
महारिसी पत्ते ॥

—"कुशल पुरुषो ने इसे ही स्नान कहा है। ऋषियो के लिए यह महान् स्नान ही प्रशस्त है। इस धर्मह्रद मे स्नान करके महर्षि विमल और विशुद्ध होकर उत्तम को प्राप्त हुए हैं।"

—त्ति बेमि।

—ऐसा मैं कहता हू।

१३

चित्र-सम्भूतीय

विशुद्ध अध्यात्मचेतना के पर हो न से मुक्ति हो सकती है।

साकेत के राजा मुनिचन्द्र, सागरचन्द्र मुनि के पास दीक्षित हुए। विहार करते हुए एक बार वे जगल मे भटक गए। वहाँ उन्हे चार गोपाल-पुत्र (ग्वाले के लडके) मिले। मुनि के उपदेश से चारो दीक्षित हो गए। उनमे से दो मुनियो के मन मे साधुओ के मलिन वस्त्रो से घृणा थी। वे इसी जुगुप्सा वत्ति को लिए देवगति मे गए और वहा से शाडिल्य ब्राह्मण की दासी यशोमती के यहा जन्मे। एक बार वे अपने खेत मे वृक्ष के नीचे सो रहे थे कि साप ने उन्हे काट खाया। दोनो ही मरकर जगल मे हरिण बने। शिकारी के बाण से फिर दोनो मारे गये। अनन्तर राजहस बने और एक मछुए ने दोनो को गर्दन मरोड कर मार डाला।

उस समय वाराणसी मे एक वैभवसम्पन्न 'भूतदत्त' नामक चाण्डाल रहता था। दोनो हस मरकर उसके पुत्र हुए। दोनो ही बहुत सुन्दर थे—एक का नाम चित्र था और दूसरे का नाम सम्भूत।

वाराणसी के तत्कालीन राजा का मन्त्री नमुचि था। किसी भयकर अपराध पर राजा ने उसे मृत्युदण्ड दिया था। वध का काम भूतदत्त को सौपा गया। भूतदत्त ने अपने दोनो पुत्रो को अध्ययन कराने की शर्त पर उसे अपने घर मे चोरी से छुपा लिया। नमुचि ने उन्हे अच्छी तरह अध्ययन कराया, दोनो अनेक विद्याओ मे निष्णात बन गये।

अपनी पत्नी के साथ नमुचि का गलत व्यवहार देखकर क्रुद्ध भूत-दत्त ने उसे मारने का निश्चय किया। दोनो लडको ने नमुचि को इसकी सूचना दे दी। अत वह वहा से प्राण बचाकर भागा। और हस्तिनापुर जाकर चक्रवर्ती सनत्कुमार के यहा मन्त्री बन गया।

एक बार वाराणसी के किसी उत्सव मे चित्र और सम्भूत दोनो गए थे। उनके नृत्य और गीत उत्सव मे विशेष आकर्पणकेन्द्र रहे। इतना आकर्पण कि स्पृश्यास्पृश्य का भेद ही समाप्त हो गया। यह बात उस समय के लोगो को काफी अखरी। उन्होने राजा के पास शिकायत की कि हमारा धर्म भ्रष्ट हो रहा है। इस पर राजा ने दोनो लडको को उत्सव मे से बाहर निकाल दिया।

एक बार वे रूप वदल कर पुन किसी उत्सव में आए। उनके मुह से सगीत के विलक्षण स्वर सुनकर लोगो ने उन्हे पहचान लिया। जाति-मदान्ध लोगो ने उन्हे बुरी तरह मार पीट कर नगर से ही निकाल दिया। इस प्रकार अपमानित एव तिरस्कृत होने पर उन्हे अपने जीवन के प्रति घृणा हुई। उन्होने आत्म हत्या का निर्णय किया और मरने के लिए पहाड पर चले गये। पहाड पर से छलाग लगाकर मरने की तैयारी मे ही थे कि एक मुनि ने उन्हे देख लिया, समझाया, और उन्हे प्रतिबोध दिया। वे समझ गये और साधु बन गये।

एक बार दोनो मुनि हस्तिनापुर आए। सम्भूत भिक्षा के लिए घूमते हुए नमुचि के यहा पहुँच गये। नमुचि ने देखा तो पहचान गया। उसे सन्देह हुआ कि कही मुनि मेरा वह रहस्य प्रकट न करदें। उसने उन्हे मार पीट कर नगर से निकालना चाहा। नमुचि के कहने पर लोगो ने उन्हे बहुत मारा पीटा। मार सहते-सहते आखिर मुनि शान्ति खो बैठे। क्रोध मे तेजो-लेश्या फूट पडी, सारा नगर धुए से आच्छन्न हो गया। भयभीत लोगो ने अपने अपराध के लिए क्षमा मागी। सूचना मिली तो ाँ सनत्कुमार भी पहुँचे। इधर चित्रमुनि को भी ज्यो ही यह सूचना मिली, ता वे भी घटना-स्थल पर पहुँचे और सम्भूत को बहुत प्रिय वचनो से समझाया। मुनि शान्त हुए।

सनत्कुमार के वैभव को देखकर सम्भूत मुनि ने निदान किया कि 'मैं भी अपने तप के प्रभाव से चक्रवर्ती बनू।' दोनो मुनि अन्यत्र विहार कर

गए। तप साधना करते रहे। अन्तिम समय मे अनशन व्रत लेकर दोनो ने साथ ही शरीर छोड़ा, और वहा से देवलोक मे उत्पन्न हुए। छह जन्म साथ-साथ रहने के बाद देवलोक से आकर उन्होने अलग-अलग जन्म लिया। सम्भूत निदानानुसार कापिल्य नगर मे ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती बना।

ब्रह्मदत्त एक बार नाटक देख रहा था। नाटक देखते-देखते उसे जातिस्मरण हुआ और वह अपने छह जन्म के साथी चित्र की स्मृति मे शोकविह्वल हो गया। पूर्व जन्मो की स्मृति के अनुसार चक्रवर्ती ने श्लोक का पूर्वार्ध तैयार कर लिया—

" दासो मृगो हंसौ, मातगावमरौ तथा।"

श्लोक के उत्तरार्ध की पूर्ति के लिए राजा ने घोषणा की कि जो भी कोई इस श्लोक का उत्तरार्ध पूरा करेगा उसे आधा राज्य दूँगा। पर कौन पूरा करता ? किसे पता था इस रहस्य का ? श्लोक का पूर्वार्ध प्राय हर किसी जबान पर था, किन्तु किसी से कुछ बन नही पा रहा था। चित्र का जन्म पुरिमताल नगर के एक सम्पन्न परिवार मे हुआ था। उन्हे भी जातिस्मरण हुआ और वे मुनि बन गए। एक बार वे विहार करते हुए कापिल्यनगर के एक उद्यान में आकर ध्यानस्थ खडे हो गए। वहा उक्त श्लोक का पूर्वार्ध कोई अरघट्टचालक ओर-जोर से बोल रहा था। मुनि ने सुना और उसे पूरा कर दिया—

"एषा नौ षष्ठिका जाति. अन्योन्याभ्या वियुक्तयो।"

अब क्या था, रेंहट चालक ने ज्यो ही यह पूर्ति सुनी तो वह तत्क्षण चक्रवर्ती के पास पहुँचा, निवेदन किया। पूर्ति का भेद सुनने पर ब्रह्म-त्त स्वय चल कर चित्र मुनि के पास गया और दोनो ने एक दूसरे से बाते की। ब्रह्मदत्त ने बार-बार चित्रमुनि को सासारिक सुखो के लिए आमन्त्रण दिया और मुनि ने ब्रह्मदत्त को भोगासक्ति से विरक्त होने के लिए समझाने का प्रयत्न किया। मुनि ने कहा कि—"पूर्व जन्म के शुभ कर्मो से हम यहा तक आए है। अब हमे अपनी जीवनयात्रा को सही दिशा देनी है। ससार के घोर जगल मे अब न भटक जाय, इसके लिए प्रयत्न करना है। मोह के सब रिश्ते झूठे है। जो कहते है—मैं तुम्हारा हू, वे न दु ख के समय साथ दते है, न मृत्यु के समय। उनके मिथ्या विश्वास पर हमे शुभ कार्यो को नही छोडना चाहिए।"

अन्त मे ब्रह्मदत्त कहते है—"मैं आपकी बात को अच्छी तरह समझता हूँ, किन्तु क्या करू, निदान के कारण मैं इसे छोड नही सकता हूँ। मैं तो दल-दल मे फँसा हुआ वह हाथी हूँ, जो तट को देखकर भी तट तक जा नही सकता।"

मुनि चले जाते है। और धर्म साधना करते हुए अन्त मे सर्वोत्तम सिद्धि गति को प्राप्त करते है। और ब्रह्मदत्त अशुभ कर्मों के कारण सर्वाधिक अशुभ सप्तम नरक मे जाते है।

प्रस्तुत अध्ययन मे चित्रमुनि और ब्रह्मदत्त का महत्त्वपूर्ण वार्तालाप है। जिसमे दोनो ही एक दूसरे को अपनी अपनी दिशा मे ले जाने के लिए प्रयत्नशील है।

रसमं अज ˙: तेरहवां यन

चित्तसम्भूइज्जं : चि -सम्भूतीय

मूल	हिन्दी अनुवाद
१ जाईपराजिओ कासि नियाण तु हत्थिणपुरम्मि। चुलणीए बम्भदत्तो उववन्नो पउमगुम्माओ ॥	जाति से पराजित सभूत मुनि ने हस्तिनापुर मे चक्रवर्ती होने का निदान किया था। वहाँ से मरकर वह पद्मगुल्म विमान मे देव बना। और फिर ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती के रूप मे चुलनी की कुक्षि से जन्म लिया।
२ कम्पिल्ले सम्भूओ चित्तो पुण जाओ पुरिमतालम्मि। सेट्ठिकुलम्मि विसाले सोऊण पव्वइओ ॥	सम्भूत काम्पिल्य नगर मे और चित्र पुरिमताल नगर मे, विशाल श्रेष्ठिकुल मे, हुआ। और वह धर्म सुनकर प्रव्रजित हो गया।
३. कम्पिल्लम्मि य नयरे दो वि चित्तसम्भूया। सुहदुक्खफलविवागं कहेन्ति ते एक्कमेक्कस्स ॥	काम्पिल्य नगर मे चित्र और सम्भूत दोनो मिले। उन्होने परस्पर और दु ख रूप कर्मफल के विपाक के सम्बन्ध में बातचीत की।
४. ी महिड्ढीओ बम्भदत्तो ायसो । भायरं बहु ेण इमं ी—॥	महान् ऋद्धिसपन्न एव महान् यशस्वी चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त ने अतीव आदर के साथ अपने भाई को इस प्रकार —

अन्त मे ब्रह्मदत्त कहते है—"मैं आपकी बात को अच्छी तरह समझता हूँ, किन्तु क्या करू, निदान के कारण मैं इसे छोड नही सकता हूँ। मैं तो दल-दल मे फँसा हुआ वह हाथी हूँ, जो तट को देखकर भी तट तक जा नही सकता।"

मुनि चले जाते है। और धर्म साधना करते हुए अन्त मे सर्वोत्तम सिद्धि गति को प्राप्त करते है। और ब्रह्मदत्त अशुभ कर्मो के कारण सर्वाधिक अशुभ सप्तम नरक मे जाते है।

प्रस्तुत अध्ययन मे चित्रमुनि और ब्रह्मदत्त का महत्त्वपूर्ण वार्तालाप है। जिसमे दोनो ही एक दूसरे को अपनी अपनी दिशा मे ले जाने के लिए प्रयत्नशील है।

चक्रवर्ती—

५ आसिमो भायरा दो वि
 णुगा ।
अन्नमन्नमणूरत्ता
अन्नमन्नहिएसिणो ॥

—"इसके पूर्व हम दोनो परस्पर वशवर्ती, परस्पर अनुरक्त और परस्पर हितैषी भाई-भाई थे।"

६ दासा आसी
मिया कालिंजरे नगे।
हंसा मयगतीरे य
सोवागा कासिभूमिए ॥

—"हम दोनो दशार्ण देश मे दास, कालिंजर पर्वत पर हरिण, मृत-गगा के किनारे हंस और काशी देश मे चाण्डाल थे।"

७ देवा य देवलोगम्मि
आसि अम्हे महिड्ढिया।
इमा नो छट्टि जाई
 ण जा विणा ॥

—"हम दोनो देवलोक मे महान् ऋद्धि से सम्पन्न देव थे। यह हमारा छठवा भव है, जिसमे हम एक दूसरे को छोडकर पृथक्-पृथक् पैदा हुए है।"

मुनि—

८ गडा
तुमे राय! विचिन्तिया।
तेसि फलविवागेण
विप्पओगमुवागया ॥

—"राजन्! तूने निदानकृत (भोगाभिलाषारूप) कर्मों का विशेष रूप से चिन्तन किया। उसी कर्मफल के विपाक से हम पैदा हुए है।"

चक्रवर्ती—

९ सच्चसोयप्पगडा
 मए पुरा ।
ते परिभुंजामो
किं नु चित्ते वि से तहा?

—"चित्र! पूर्व जन्म मे मेरे द्वारा किए गए सत्य और शुद्ध कर्मो के फल को आज मैं भोग रहा हूँ, क्या तुम भी वैसे ही भोग रहे हो?"

मुनि—

१० सुचिण्ण सफल न
 ण न मोक्ख अत्थि।
अत्थेहि कामेहि य उत्तमेहि
आया मम पुण्णफलोववेए ॥

—"मनुष्यो के द्वारा रित सब सत्कर्म होते है। किए हुए कर्मो के फल को भोगे बिना मुक्ति नही है। मेरी भी उत्तम अर्थ और कामो के द्वारा पुण्यफल से युक्त रही है।"

११ जाणासि सभूय ! महाणु
महिड्ढियं पुण्णफलोववेय ।
चित्त पि हि तहेव ।
इड्ढी जुई वि य प्पभूया ।।

—"सम्भूत ! जैसे तुम अपने आपको भाग्यवान्, महान् ऋद्धि से सपन्न और पुण्यफल से युक्त समझते हो, वैसे चित्र को भी समझो । राजन् ! उसके पास भी प्रचुर ऋद्धि और द्युति रही है ।

१२. महत्थरूवा वयणऽप्पभूया
गाहाणुगीया नरसघमज्झे ।
ज भिक्खुणो सीलगुणोववेया
इहऽज्जयन्ते समणो म्हि जाओ।।

—"स्थविरो ने जनसमुदाय मे अल्पाक्षर, किन्तु महार्थ—सारगर्भित गाथा कही थी, जिसे शील और गुणो से युक्त भिक्षु यत्न से अर्जित—प्राप्त करते हैं । उसे सुनकर मैं श्रमण हो गया ।"

—

१३ उच्चोवए कक्के य बम्भे
पवेइया आवसहा य ।
गिह णप्पभूय
पसाहि णोववेय ।।

—उच्चोदय, मधु, कर्क, मध्य और ब्रह्मा—ये मुख्य तथा और भी अनेक रमणीय प्रासाद हैं। पाचाल देश के अनेक विशिष्ट पदार्थों से युक्त तथा प्रचुर एव विविध धन से परि-पूर्ण इन गृहो को स्वीकार करो ।"

१४ नट्टेहि गीएहि य वाइएहि
नारीजणाइ परिवारयन्तो ।
भुजाहि भोगाइ इ भिक्खू !
मम रोयई हु दुक्ख ।।

—"भिक्षु ! तुम , गीत और वाद्यो के साथ स्त्रियो से घिरे हुए इन भोगो को भोगो । मुझे यही प्रिय है । प्रव्रज्या निश्चय से दु है ।"

१५ त पुव्वनेहेण
नराहिव णेसु गिद्ध ।
धम्मस्सिओ हियाणुपेही
चित्तो इम वयणमुदाहरि ।।

उस राजा के हितैषी धर्म में स्थित चित्र मुनि ने पूर्व भव के स्नेह से अनुरक्त एव कामभोगो मे आसक्त राजा को इस प्रकार कहा—

मुनि—

१६. विलवियं गीय नट्ट विडम्बियं।
सव्वे आभरणा भारा सव्वे क दुहावहा ॥

—"सब गीत-गान विलाप है। नाट्य विडम्बना हैं। सब आभरण भार है। और काम-भोग दु हैं।"

१७ बालाभिरामेसु दुहावहेसु न त क णेसु राय।
विरत्तकामाण तवोघणाण ज भिक्खुण शीलगुणे ॥

—"अज्ञानियो को सुन्दर दिखनेवाले, किन्तु वस्तुत दु कामभोगो मे वह सुख नही है, जो सुख शीलगुणो मे रत, कामनाओ से निवृत्त तपोधन भिक्षुओ को है।"

१८ नरिंद! जाई अहमा नराण सो ई ओ ण।
जहि वय वेस्सा वसीय सोवाग-निवेसणेसु ॥

—"हे नरेन्द्र! मनुष्यो मे जो चाण्डाल जाति अधम जाति मानी जाती है, उसमे हम दोनो हो चुके है, चाण्डालो की बस्ती मे हम दोनो रहते थे, जहाँ सभी लोग हमसे द्वेष (घृणा) करते थे।"

१९ तीसे य जाईइ उ पावियाए वुच्छामु सोवागनिवेसणेसु ॥
लोगस्स दुगछणिज्जा तु पुरे ॥

—"निन्दनीय चाण्डाल जाति मे हमने जन्म लिया था और उन्ही के बस्ती मे हम दोनो रहे थे। तब सभी लोग हमसे घृणा करते थे। अ यहा जो श्रेष्ठता प्राप्त है, वह पूर्व जन्म के शुभ कर्मो का फल है।"

२० सो दाणिसि राय! महाणुभागो महि ओ पुण्णफलोववेओ।
भोगाइ असा आयाणहेउ अभिणिक्खमाहि ॥

—"पूर्व शुभ कर्मो के इस समय वह (पूर्व जन्म मे निन्दित) तू अब महानुभाग, महान् ऋद्धिवाला राजा बना है। अत तू क्षणिक भोगो को छोड़कर -अर्थात् चारित्र धर्म की ना के हेतु अभिनिष्क्रमण कर।"

२१ जीविए राय ! म्मि धणिय तु पुण्णाइं अकुव्वमाणो । से सोयई मच्चुमुहोवणीए अ परंसि लोए ॥	—"राजन् ! इस अशाश्वत मानव-जीवन मे जो विपुल पुण्यकर्म नही है, वह मृत्यु के आने पर पश्चात्ताप करता है और धर्म न करने के परलोक मे भी पश्चात्ताप है।"
२२ जहेह सीहो व मियं गहाय नरं नेइ हु ॥ न व पिया व कालम्मि तम्मिऽसहरा भवंति ॥	—"जैसे कि यहाँ सिंह हरिण को ले है, वैसे ही अन्त-मे मृत्यु मनुष्य को ले है। मृत्यु के समय मे उसके -पिता और भाई—बन्धु कोई भी मृत्युदु:ख मे अंशधर—हिस्सेदार नही होते है।"
२३ न विभयन्ति नाइओ न मित्तवग्गा न सुया न । एक्को पच्चणुहोइ कत्तारमेव अणुजाइ ॥	—"उसके दु:ख को न जाति के लोग बँटा सकते है, और न मित्र, पुत्र तथा बन्धु ही। वह स्वयं अकेला ही दु:खो को भोगता है, क्योंकि कर्म कर्ता के ही पीछे है।"
२४ चिच्चा दुपयं च च खेत्तं गिहं ध च । ाओ अवसो पयाइ परं भवं सुन्दर वा ॥	—"द्विपद–सेवक, चतुष्पद–पशु, खेत, घर, धन-धान्य आदि सब छोडकर यह पराधीन जीव अपने कृत कर्मो को साथ लिए सुन्दर अथवा असुन्दर परभव को जाता है।"
२५ त तुच्छसरीरगं से चिईगयं डहिय उ पावगेणं । भज्जा य पुत्ता वि य ओ य दायारमन्नं अणुसंकमन्ति ॥	—"जीवरहित उस एकाकी शरीर को चिता मे अग्नि से जलाकर स्त्री, पुत्र और जाति-जन किसी अन्य आश्रयदाता का अनुसरण करते है।"

२६ उवणिज्जई जीवियमप्पमाय
जरा हरइ न ।
राया ! सुणाहि
मा कासि कम्माइ महालयाइ ॥

—"राजन् ! कर्म किसी का प्रमाद—भूल किए बिना जीवन को हरक्षण मृत्यु के समीप ले जा रहा है, और यह जरा-वृद्धावस्था मनुष्य की कान्ति का हरण कर रही है। पाचालराज ! मेरी बात सुनो। प्रचुर मत करो।"

च र्ी—

२७ अह पि मि जहेह साहू !
ज मे तुमं साहसि वक्कमेय ।
भोगा इमे सगकरा हवन्ति
जे दुज्जया अज्जो ! अम्हारिसेहि॥

—'हे साधो ! जैसे कि तुम मुझे बता रहे हो, मैं भी जानता हूँ कि ये कामभोग बन्धनरूप हैं, किन्तु आर्य ! हमारे-जैसे लागो के लिए तो ये बहुत दुर्जय है।"

२८ हत्थिणपुरम्मि ि ।
नरवइ महिड्ढिय ।
कामभोगेसु गिद्धेण
नियाणमसुह ॥

—'चित्र ! हस्तिनापुर मे महान् ऋद्धि वाले चक्रवर्ती राजा को देखकर भोगो मे होकर मैंने अशुभ निदान किया था।"

२९ मे अपडिकन्तस्स
एयारिस ।
जाणमाणो वि ज
कामभोगेसु मुच्छिओ ॥

—"मैंने उस निदान का प्रतिक्रमण नही किया। उसी कर्म का यह फल है कि धर्म को जानता हुआ भी मैं काम-भोगो मे हूँ, उन्हे छोड नही हूँ।"

३० नागो जहा पकजलावसन्नो
थल नाभिसमेइ तीर ।
एव वय कामगुणेसु गिद्धा
न भिक्खुणो मग्गमणुव्वयामो ॥

"जैसे —दलदल मे धसा हाथी स्थल को देखकर भी किनारे पर नही पहुँच पाता है, वैसे ही हम कामभोगो मे जन जानते हुए भी भिक्षुमार्ग का अनुसरण नही कर पाते हैं।"

मुनि—

३१ अच्चेइ कालो तूरन्ति राइओ
न यावि भोगा पुरिसाण निच्चा।
उविच्च भोगा पुरिसं चयन्ति
दुमं जहा ण व ी।।

—"राजन्! व्यतीत हो रहा है, रातें दौड़ती जा रही है। मनुष्य के भोग नित्य नही है। काम-भोग क्षीणपुण्य-वाले व्यक्ति को वैसे ही छोड़ देते है, जैसे कि क्षीण फल वाले वृक्ष को पक्षी।"

३२ त सि भोगे असत्तो
अज्जाइ कम्माइ करेहि ।
धम्मे ठिओ सव्वपयाणुकम्पी
तो होहिसि ो विउव्वी।।

—"राजन्! यदि तू काम-भोगो को छोड़ने मे असमर्थ है, तो आर्य कर्म ही कर। धर्म मे स्थित होकर सब जीवो के प्रति दया करने वाला बन, जिससे कि तू भविष्य मे वैक्रियशरीरधारी देव हो सके।"

३३. न झ भोगे चइऊण बुद्धी
गिद्धो सि आरम्भ-परिग्गहेसु।
मोहं कओ एत्तिउ विप्पलावो
गच्छामि राय! आमन्तिओऽसि।।

—"भोगो को छोड़ने की तेरी बुद्धि नही है। तू आरम्भ और परिग्रह मे है। मैंने व्यर्थ ही तुझ से इतनी बातें की, तुझे सम्बोधित किया। राजन्! मैं जा रहा हूँ।"

३४. पचालराया वि य बम्भदत्तो
साहुस्स ।
अणुत्तरे भुजिय कामभोगे
अणुत्तरे सो नरए पविट्ठो।।

पाचाल देश का राजा ब्रह्मदत्त मुनि के ो का पालन न कर सका, अत अनुत्तर भोगो को भोगकर अनुत्तर (सप्तम) नरक मे गया।

३५ चित्तो वि कामेहि विरत्तकामो
उदग्गचारित्त-तवो महेसी।
अणुत्तर पालइत्ता
अणुत्तर सिद्धिगइ गओ।।

कामभोगो से निवृत्त, उग्र चारित्री एव तपस्वी महर्षि चित्र अनुत्तर सयम का पालन करके अनुत्तर सिद्धिगति को प्राप्त हुए।

—त्ति बेमि। —ऐसा मैं कहता हूँ।

१४

इषुकारीय

पूर्व जीवन के वर्तमान के आवरणों को तोड है ।
उन्हे कोई रोक नही ।

कुरुक्षेत्र प्रदेश मे बहुत पहले कभी एक 'इषुकार' नगर था । नगर के राजा का नाम भी 'इषुकार' था । उसकी पत्नी कमलावती थी ।

इषुकार नगर मे भृगु नामक राज-पुरोहित रहते थे । उनकी पत्नी यशा थी । उसका वशिष्ठ कुल मे जन्म हुआ था, अत उसे वाशिष्ठी कहते थे । इन्हे कोई सन्तान नही थी । वश किस प्रकार चलेगा, बस, इसी एक चिन्ता मे उनका समय निकल रहा था । एक बार दो देव, जिनका जन्म यशा और भृगु पुरोहित के यहाँ होना था, उन्होने श्रमणवेश में आकर यशा को बताया कि—"तुम चिन्ता मत करो । तुम्हे दो पुत्र होगे, किन्तु वे बचपन में ही दीक्षा ग्रहण कर लेगे ।"

अपनी भविष्य-वाणी के अनुसार दोनो देवो ने भृगु पुरोहित के यहाँ पुत्रो के रूप मे जन्म लिया । वे बहुत सुन्दर थे । यशा उन्हे देखकर प्रसन्न थी, किन्तु मन मे यह भय भी समाया था कि भविष्यवाणी के अनुसार कही दोनो दीक्षा न ले ले ? अत वह अपने अल्पवयस्क पुत्रो के मन मे समय-समय पर साधुओ के प्रति भय की भावना पैदा करती रहती थी । उन्हे समझाती रहती कि—"साधुओ के पास मत जाना । वे छोटे बच्चो को उठाकर ले जाते है, उन्हे मार देते है । और तो क्या, उनसे बात भी मत करना ।" मा की इस शिक्षा के फलस्वरूप दोनो बालक साधुओ से डरते रहते, उनके पास तक न जाते ।

१४

इषुकारीय

पूर्व जीवन के ˝ के आवरणों को तोड़ है।
उन्हे कोई रोक नहीं स ।

कुरुक्षेत्र प्रदेश मे बहुत पहले कभी एक 'इषुकार' नगर था। नगर के राजा का नाम भी 'इषुकार' था। उसकी पत्नी कमलावती थी।

इषुकार नगर मे भृगु नामक राज-पुरोहित रहते थे। उनकी पत्नी यशा थी। उसका वशिष्ठ कुल मे जन्म हुआ था, अत उसे वाशिष्ठी कहते थे। इन्हे कोई सन्तान नही थी। वश किस प्रकार चलेगा, बस, इसी एक चिन्ता मे उनका समय निकल रहा था। एक बार दो देव, जिनका जन्म और भृगु पुरोहित के यहाँ होना था, उन्होने श्रमणवेश मे आकर यशा को बताया कि—"तुम चिन्ता मत करो। तुम्हे दो पुत्र होगे, किन्तु वे बचपन में ही दीक्षा ग्रहण कर लेंगे।"

अपनी भविष्य-वाणी के अनुसार दोनो देवो ने भृगु पुरोहित के यहाँ पुत्रो के रूप मे जन्म लिया। वे बहुत सुन्दर थे। यशा उन्हे देखकर प्रसन्न थी, किन्तु मन मे यह भय भी समाया था कि भविष्यवाणी के अनुसार कही दोनो दीक्षा न ले लें ? अत वह अपने अल्पवयस्क पुत्रो के मन मे समय-समय पर साधुओ के प्रति भय की भावना पैदा करती रहती थी। उन्हे समझाती रहती कि—"साधुओ के पास मत जाना। वे छोटे बच्चो को उठाकर ले जाते है, उन्हे मार देते है। और तो क्या, उनसे बात भी मत करना।" मा की इस शिक्षा के फलस्वरूप दोनो बालक साधुओ से डरते रहते, उनके पास तक न जाते।

एक बार गाँव के बाहर कही दूर जगह पर वे खेल रहे थे । अचानक उसी रास्ते से कुछ साधु आए । उन्हे देखकर वे घबरा गये । अब क्या करे, बचने का कोई उपाय नही था । अत वे पास के एक सघन वट-वृक्ष पर चढ गये । और छुपे हुए चुपचाप देखने लगे कि साधु क्या करते है ? साधुओ ने पेड के नीचे आकर इधर उधर देखा-भाला, रजोहरण से चीटो को एक ओर सुरक्षित किया, और बडी यतना के साथ वट की छाया मे बैठ कर भोजन करने लगे । बच्चो ने उनके दयाशील व्यवहार को देखा, उनकी करुणाद्रवित बातचीत सुनी । दोनो बच्चो का भय दूर हुआ । "इसके पहले भी कभी हमने इन्हे देखा है ? ये अपरिचित नही है ?"—धुधली-सी स्मृति धीरे धीरे अवचेतन मन पर रूपाकार होने लगी । वह कुछ और गहरी होकर स्पष्ट होने लगी । और कुछ ही क्षणो मे उन्हे पूर्व जन्म का स्मरण हो आया । अब क्या था, भय दूर हुआ, अन्तर्मन प्रसन्नता से भर गया । वे वृक्ष से नीचे उतर कर साधुओ के पास आए । साधुओ ने उन्हे प्रतिबोध दिया । उन्होने सयम लेने का निर्णय किया और माता पिता को अपने इस निर्णय की सूचना दी । माता पिता ने बहुत कुछ समझाया, किन्तु जब देखा कि वे नही मान रहे है, तो उन्होने भी उनके साथ सयम लेने का निर्णय किया ।

भृगु पुरोहित सम्पन्न था । उसके पास विपुल मात्रा मे धन-सपत्ति थी । उत्तराधिकारी के न रहने का हुआ कि उसका अब कौन मालिक हो । तत्कालीन परम्परा के अनुसार उसका एक ही समाधान था कि जिसका कोई नही, उसका मालिक राजा है । पुरोहित का त्यक्त धन राज्य-भडार मे जमा किये जाने लगा ।

यह सूचना इषुकार की पत्नी कमलावती को मिली । भावनाशील रानी ने राजा को समझाया कि—"जीवन क्षणिक है । इस क्षणिक जीवन के लिए तुम यह क्यो सग्रह कर रहे हो । पुरोहित छोड रहा है, और तुम उसको स्वीकार कर रहे हो । यह तो दूसरो के वमन को चाटने के समान है, राजन् ! धन मास के टुकडे के समान है । जिस प्रकार मासखण्ड पर चील, कौवे और गीध झपटते हैं, उसी प्रकार लुप व्यक्ति धन पर झपटते है । अच्छा है कि हम इस क्षणनश्वर धन को छोडकर, जो शाश्वत धन है, उसकी खोज करे । यहा के सभी सुख यही छोड जाने है । यहाँ से जाते समय परभव मे एक धर्म ही होगा ।"

रानी की बात सुनकर राजा की भावना का परिवर्तन होता है। राजा रानी दोनो ही भोगो से विरक्त हो जाते है और सयम स्वीकार करने का स करते है।

इस प्रकार राजा और रानी, पुरोहित और उसकी पत्नी, पुरोहित के दोनो पुत्र—छहो व्यक्ति दीक्षा लेते है।

चउद्दसमं णं : चौदहवां अध्ययन

उसुयारिज्ज : रीय

मूल	हिन्दी अनुवाद
१ देवा भवित्ताण पुरे भवम्मी केइ चुया एगविमाणवासी । पुरे पुराणे उसुयारनामे खाए समिद्धे सुरलोगरम्मे ॥	देवलोक के समान सुरम्य, प्राचीन, प्रसिद्ध और समृद्धिशाली इषुकार नामक नगर था। उसमे पूर्वजन्म मे एक ही विमान के वासी कुछ जीव देवताका आयुष्य पूर्ण कर अवतरित हुए।
२ स सेसेण पुराकएणं कुलेसु दग्गेसु य ते पसूया । निव्विणसंसारभया जहाय जिणिन्दमग्गं सरण ॥	पूर्वभव मे कृत अपने अवशिष्ट कर्मो के कारण वे जीव उच्चकुलो मे उत्पन्न हुए और ससारभय से उद्विग्न होकर कामभोगो का परित्याग कर जिनेन्द्र-मार्ग की शरण ली।
३ पुमत्तमागम्म कुमार दो वी पुरोहिओ य पत्ती । विसालकित्ती य तहोसुयारो देवी ई य ॥	पुरुषत्व को प्राप्त दोनो पुरोहित-कुमार, पुरोहित, ी पत्नी यशा, विशालकीर्ति वाला इषुकार राजा और उसकी रानी कमलावती—ये छह व्यक्ति थे।

४ जाई-जरा-मच्चुभयाभिभूया बहिं विहाराभिनिविट्ठचित्ता । विमोक्खणट्ठा वट्ठूण ते कामगुणे विरत्ता ॥	जन्म, जरा और मरण के भय से अभिभूत कुमारो का चित्त मुनिदर्शन से बहिर्विहार अर्थात् मोक्ष की ओर आकृष्ट हुआ, फलत ससारचक्र से मुक्ति पाने के लिए वे कामगुणो से विरक्त हुए ।
५ पियपुत्तगा दोन्नि वि माहणस्स सकम्मसीलस्स पुरोहि सरित्तु पोराणिय तहा सुचिण्ण तव च ॥	यज्ञ-यागादि कर्म मे संलग्न ब्राह्मण (पुरोहित) के ये दोनो प्रिय पुत्र अपने पूर्वजन्म तथा ीन सुचीर्ण (भली-भाँति आराधित) तप-सयम को स्मरण कर विरक्त हुए ।
६ ते कामभोगेसु अ माणुस्सएसु जे यावि दिव्वा । मोक्खाभिकखी अभिजायसड्ढा उवाहु ॥	मनुष्य तथा देवता-सम्बन्धी काम भोगो मे अनासक्त, मोक्षाभिलाषी, श्रद्धा-सपन्न उन दोनो पुत्रो ने पिता के समीप आकर उन्हे इस प्रकार कहा—
७ इम विहार बहुअन्तराय न य दीहमाउ । तम्हा गिहसि न रइं लहामो आमन्तयामो चरिस्सामु मोण ॥	—"जीवन की क्षणिकता को हमने जाना है, वह विघ्न बाधाओ से पूर्ण है, अल्पायु है । इसलिए घर मे हमे कोई आनन्द नही मिल रहा है । अत आपकी अनुमति चाहते है कि हम मुनिधर्म का करें ।"
८ अह तायगो मुणीण तवस्स ी । इम वय वेयविओ वयन्ति जहा न होई असुयाण लोगो ॥	यह सुनकर पिता ने कुमार-मुनियो की तपस्या मे बाधा उत्पन्न करने वाली यह बात की कि—'पुत्रो ! वेदो के इस प्रकार कहते है—जिनको पुत्र नही होता है, उनकी गति नही होती है ।"

९ अहिज्ज वेए परिविस्स विप्पे
पुत्ते पडिट्ठप्प गिहंसि ।
भोच्चाण भोए सह इत्थियाहि
अ होह मुणी पसत्था ॥

—"इसलिए हे पुत्रो, पहले वेदो का अध्ययन करो, ब्राह्मणो को भोजन दो और विवाह कर स्त्रियो के साथ भोग भोगो। अनन्तर पुत्रो को घर का भार सौप कर अरण्यवासी -श्रेष्ठ मुनि बनना।"

१० सोयग्गिणा ुि॰
मोहाणिला ।हिएण।
स ाव परि ाण
बहुहा च ॥

अपने रागादि-गुणरूप इन्धन (जलावन) से प्रदीप्त एव मोहरूप पवन से प्रज्वलित शोकाग्नि के कारण जिसका अन्त करण सतप्त तथा परितप्त हो गया है, और जो मोहग्रस्त होकर अनेक प्रकार के बहुत अधिक दीनहीन वचन बोल रहा है—

११ पुरोहियं तं कमसोऽणुणन्त
निमतयन्त च धणेण।
जहक्कम कामगुणेहि चेव
कुमारगा ते पसमिक्ख ॥

—जो एक के बाद एक बार-बार अनुनय कर रहा है, धन का और क्रमप्राप्त काम भोगो का निमन्त्रण दे रहा है, उस अपने पिता पुरोहित को कुमारो ने अच्छी तरह विचार कर यह वचन कहा—

पुत्र—

१२ वेया अहीया न भवन्ति
भुत्ता दिया निन्ति तम तमेण।
य पुत्ता न हवन्ति
को ते अणुमन्नेज्ज एय ॥

—"पढे हुए वेद भी त्राण नही होते हैं। यज्ञ-यागादि के रूप मे पशुहिंसा के उपदेशक ब्राह्मण भी भोजन कराने पर तमस्तम (अन्धकाराच्छन्न) स्थिति मे ले जाते हैं। औरस पुत्र भी रक्षा करने वाले नही है। अत आपके उक्त का कौन अनुमोदन करेगा ?"

१३ खणमेत्तसोक्खा बहुकालदुक्खा पगामदुक्खा अणिगामसोक्खा । मो विपक्खभूया ाि उ कामभोगा ।।	—"ये काम-भोग क्षण भर के लिए सुख देते हैं, तो चिरकाल तक दु ख देते है, अधिक दु ख और थोडा सुख देते है । ससार से मुक्त होने मे बाधक है, अनर्थों की खान हैं ।"
१४ परिव्वयन्ते अणियत्तकामे अहो य राओ परितप्पमाणे । अन्नप्पमत्ते धणमेसमाणे पप्पोत्ति मच्चु पुरिसे जर च ।।	—"जो कामनाओ से मुक्त नही है, वह अतृप्ति के ताप से जलता हुआ पुरुष रात दिन भटकता फिरता है और दूसरो के लिए प्रमादाचरण करने वह धन की खोज मे लगा हुआ एक दिन जरा और मृत्यु को प्राप्त हो जाता है ।"
१५ च मे अत्थि इम च नत्थि इम च मे किच्च अकिच्च । त एवमेव हरा हरति त्ति कह पमाए ?	—"यह मेरे पास है, यह मेरे पास नही है । यह मुझे करना है, यह नही करना है—इस प्रकार व्यर्थ की बकवास करने वाले व्यक्ति को अपहरण करने वाली मृत्यु उठा लेती है । स्थिति होने पर भी प्रमाद कैसा ?"

पिता—

१६ पभूय इत्थियाहि । तहा ुणा पगामा तव कए तप्पइ जस्स लोगो त साहीणमिहेव तुब्भ ।।	—"जिसकी प्राप्ति के लिए लोग तप करते हैं, वह विपुल धन, स्त्रिया, और इन्द्रियो के मनोज्ञ विषयभोग —तुम्हे यहा पर ही स्वाधीन रूप से प्राप्त है । फिर परलोक के इन सुखो के लिए क्यो भिक्षु बनते हो ?"

पुत्र—

१७. धणेण धम्मधुराहिगारे
ेण वा गुणेहि चेव ।
भविस्सामु गुणोहधारी
बहिंविहारा अभिगम्म ि ॥

—"जिसे धर्म की धुरा को वहन करने का अधिकार प्राप्त है, उसे धन, स्वजन तथा ऐन्द्रियिक विषयों का क्या प्रयोजन है ? हम तो गुणसमूह के धारक, अप्रतिबद्धविहारी, शुद्ध भिक्षा ग्रहण करने वाले बनेंगे ।"

पिता—

१८. जहा य अग्गी ीउऽसन्तो
खीरे घय तेल्ल महातिलेसु ।
एमेव जाया ! सरीरंसि
समुच्छई नावचि े ॥

—"पुत्रो ! जैसे अरणि मे अग्नि, दूध मे घी, तिलो मे तेल असत्-अविद्यमान पैदा होता है, उसी प्रकार शरीर मे जीव भी असत् ही पैदा होता है और नष्ट हो जाता है । शरीर का नाश होने पर जीव का भी अस्तित्व नही रहता ।"

पुत्र—

१९. नो इन्दियग्गेज्झ अमुत्तभावा
अमुत्त वि य होइ निच्चो ।
अज्झत्थहेउ नियय बन्धो
संसारहेउ च वयन्ति ॥

—"आत्मा अमूर्त है, अत वह इन्द्रियो के द्वारा ग्राह्य नही है—जाना नही जा है । जो अमूर्त भाव होता है, वह नित्य होता । के आन्तरिक रागादि हेतु ही निश्चित रूप से बन्ध के हैं । और बन्ध को ही संसार का हेतु कहा है ।"

२० वयं
पुरा कम्ममकासि मोहा ।
ओरुज्झमाणा परिरक्खियन्ता
त नेव ो वि समायरामो ॥

—"जब तक हम धर्म से अनभिज्ञ थे, तब तक मोहवश पाप कर्म करते रहे, आपके द्वारा हम रोके गए और हमारा संरक्षण होता रहा । किन्तु अब हम पुन पाप कर्म का आचरण नही करेंगे ।"

२१ अब्भाहयंमि लोगंमि
सव्वओ परिवारिए ।
अमोहाहिं पडन्तीहिं
गिहंसि न रइं लभे ॥

—"लोक आहत (पीडित) है। चारो तरफ से घिरा है। अमोघा आरही हैं। इस स्थिति मे हम घर मे सुख नही पा रहे है।"

पिता—

२२ केण　　ाहओ लोगो ?
केण वा परिवारिओ ?
का वा अमोहा　　?
। चिंतावरो हुमि ॥

—"पुत्रो ! यह लोक किससे आहत है ? किससे घिरा हुआ है ? अमोघा किसे कहते हैं ? यह जानने के लिए मैं चिन्तित हू।"

पुत्र—

२३ मच्चुणाऽब्भाहओ लोगो
जराए　परिवारिओ ।
अमोहा रयणी वुत्ता
एवं ताय ! वियाणह ॥

—"पिता ! आप अच्छी तरह जान लें कि यह लोक मृत्यु से आहत है, जरा से घिरा हुआ है । और रात्रि (समयचक्र की गति) को अमोघा (कभी न रुकने वाली) कहते है।"

२४. जा जा वच्चइ रयणी
न सा पडिनियत्तई ।
अहम्मं कुणमाणस्स
अ　　जन्ति राइओ ॥

—"जो जो रात्रि जा रही है, वह फिर लौट कर नही आती है । अधर्म करने वाले की रात्रिया निष्फल जाती हैं।"

२५ जा जा वच्चइ रयणी
न सा पडिनियत्तई ।
धम्मं च कुणमाणस्स
सफला जन्ति राइओ ॥

—"जो जो रात्रि जा रही है, वह फिर लौट कर नहीं आती है। धर्म करने वाले की रात्रिया सफल होती है।"

	पिता—
२६ एगओ सवसित्ताण दुहओ सम्म जुया । जाया ! गमिस्सामो भिक्खमाणा कुले कुले ॥	—"पुत्रो, पहले हम सब कुछ एक साथ रह कर सम्यक्त्व और व्रतो से युक्त हो अर्थात् उनका पालन करें। पश्चात् ढलती आयु मे दीक्षित होकर घर-घर से भिक्षा ग्रहण करते हुए विचरेंगे।"
	पुत्र—
२७ जस्सत्थि मच्चुणा वऽत्थि पल । जो न मरिस्सामि सो हु कखे सुए ॥	—"जिसकी मृत्यु के साथ मैत्री है, जो मृत्यु के आने पर दूर भाग सकता है, अथवा जो यह जानता है कि मै कभी मरूगा ही नही, वही आने वाले कल की आकाक्षा (भरोसा) कर है।"
२८ अज्जेव धम्म पडिवज्जयामो जहिं न पुणब्भवामो । नेव य अत्थि किंचि सद्ध णे विणइत्तु राग ॥	—"हम आज ही राग को दूर करके श्रद्धा से युक्त मुनिधर्म को स्वीकार करेंगे, जिसे पाकर पुन इस ससार मे जन्म नही लेना होता है। हमारे लिए कोई भी भोग अनागत—अभुक्त नही है, क्योकि वे अनन्त बार भोगे जा चुके हैं।"
	प्रबुद्ध पुरोहित—
२९ पहीणपुत्तस्स हु नत्थि वासो वासिट्ठि! भिक्खायरियाइ कालो। साहाहि रुक्खो लहए समाहिं छिन्नाहि साहाहि तमेव खाणुं ॥	—"वाशिष्ठि ! पुत्रो के बिना इस घर मे मेरा निवास नही हो है। भिक्षाचर्या का काल आ गया है। वृक्ष ो से ही सुन्दर है। शाखाओ के कट जाने पर वह केवल ठूठ कहलाता है।"
३० पक्खाविहूणो व्व जहेह पक्खी विहूणो व्व रणे नरिन्दो । विवन्नसारो वणिओ व्व पोए पहीणपुत्तो मि तहा अहं पि ॥	—"पखो से रहित पक्षी, युद्ध मे सेना से रहित राजा, जलपोत (जहाज) पर धन-रहित व्यापारी जैसे असहाय होता है वैसे ही पुत्रो के बिना मैं भी असहाय हू।"

पुरोहित पत्नी—

३१ सुसंभिया कामगुणा इमे ते
संपिण्डिया अग्गरसा पभूया ।
भुंजामु ता कामगुणे पकामं
पच्छा गमिस्सामु पहाणमग्गं ॥

—"सुसंस्कृत एवं सुसंगृहीत काम-भोग रूप प्रचुर विषयरस जो हमें प्राप्त हैं, उन्हें पहले इच्छानुरूप भोग लें। उसके बाद हम मुनिधर्म के प्रधान मार्ग पर चलेंगे।"

पुरोहित—

३२ भुत्ता रसा भोइ ! जहाइ णे वओ
न जीवियट्ठा पजहामि भोए ।
लाभं अलाभं च सुहं च दुक्खं
संचिक्खमाणो चरिस्सामि मोणं ॥

—"भवति ! हम विषयरसों को भोग चुके हैं। युवावस्था हमें छोड़ रही है। मैं किसी स्वर्गीय जीवन के प्रलोभन में भोगों को नहीं छोड़ रहा हूं। लाभ-अलाभ, सुख-दुख को समदृष्टि से देखता हुआ मैं मुनिधर्म का पालन करूंगा।"

पुरोहित-पत्नी—

३३ मा हू तुमं सोयरियाण संभरे
जुण्णो व हंसो पडिसोत्तगामी ।
भुंजाहि भोगाइ मए समाणं
दुक्खं खु भिक्खायरियाविहारो ॥

—"प्रतिस्रोत में तैरने वाले बूढ़े हंस की तरह कहीं तुम्हें फिर अपने बन्धुओं को याद न करना पड़े ? अतः मेरे साथ भोगों को भोगो। यह भिक्षाचर्या और यह ग्रामानुग्राम विहार काफी दुःख-रूप है।"

पुरोहित—

३४ जहा य भोई ! तणुयं भुयंगो
निम्मोयणिं हिच्च पलेइ मुत्तो ।
एमेए जाया पयहन्ति भोए
ते हं कहं नाणुगमिस्समेक्को ?

—"भवति ! जैसे सांप अपने शरीर की केंचुली को छोड़कर मुक्तमन से चलता है, वैसे ही दोनों पुत्र भोगों को छोड़ कर जा रहे हैं। अतः मैं अकेला रह कर क्या करूंगा ? क्यों न उनका अनु-गमन करूं ?"

३५ छिन्दित्तु　　　व रोहिया
　　। जहा　　　ग ुणे पहाय ।
　धोरेयसीला　　　उदारा
　धीरा हु ि　　　रिय चरन्ति ॥

—"रोहित मत्स्य जैसे कमजोर जाल को काटकर बाहर निकल जाते है, वैसे ही धारण किए हुए गुरुतर सयम-भार को वहन करने वाले प्रधान तपस्वी धीर साधक कामगुणो को छो-कर भिक्षाचर्या को स्वीकार करते है।"

३६ जहेव कुचा समइक्कमन्ता
　तयाणि जालाणि दलित्तु हसा ।
　पलेन्ति पुत्ता य पई य
　ते ह कह　　मिस्समेक्का ?

पुरोहित-पत्नी—

——"जैसे क्रौच पक्षी और हम बहे-लियो द्वारा प्रसारित　　को काटकर आकाश मे स्वतन्त्र उड जाते है, वैसे ही मेरे पुत्र और पति भी छोडकर जा रहे है। पीछे मैं अकेली रह कर क्या करूगी ? मैं भी क्यो न उनका अनु-गमन करू ?"

३७ पुरोहिय त ससुय सदार
　सोच्चाऽभिनिक्खम्म पहाय भोए।
　　　　विउलुत्तम त
　राय अभिक्ख समुवाय देवी ॥

—"पुत्र और पत्नी के साथ पुरो-हित ने भोगो को त्याग कर अभिनिष्क्रमण किया है"—यह सुनकर उस कुटुम्ब की प्रचुर और श्रेष्ठ धनसपत्ति की चाह रखने वाले राजा को रानी　　ावती ने कहा—

रानी कमलावती—

३८　　ो पुरिसो राय !
　न सो होइ पससिओ ।
　माहणेण प　　-
　　आदाउमिच्छसि ॥

—"तुम ब्राह्मण के द्वारा परित्यक्त धन को ग्रहण करने की इच्छा रखते हो। राजन् ! वमन को खाने वाला पुरुष प्रशसनीय नही होता है।"

३९ जइ वावि धण भवे । पि ते नेव तं ॥	—"सारा जगत् और वा धन भी यदि तुम्हारा हो जाय, तो भी वह तुम्हारे लिए अपर्याप्त ही होगा। और वह धन तुम्हारी रक्षा नही कर सकेगा ।"
४० मरिहिसि । वा मणोरमे कामगुणे पहाय । एक्को हु धम्मो नरदेव । न विज्जई मिहेह किंचि ॥	—"राजन् ! एक दिन इन मनोज्ञ काम गुणो को छोडकर जब मरोगे, तब एक धर्म ही सरक्षक होगा। हे नरदेव ! यहा धर्म के अतिरिक्त और कोई रक्षा करने नही है।"
४१ नाहं रमे पक्खिणी पजरे वा छिन्ना चरिस्सामि मोण अकिंचणा उज्जुकडा निरामिसा परिग्गहारमनियत्तदोसा ॥	—"पक्षिणी जैसे पिंजरे मे सुख का अनुभव नही करती है, वैसे ही मुझे भी यहाँ आनन्द नही है। मैं स्नेह के बधनो को तोडकर अकिंचन, सरल, निरासक्त, परिग्रह और हिंसा से निवृत्त होकर मुनि धर्म का आचरण करूगी ।"
४२ दवग्गिणा जहा णेसु जन्तुसु । अन्ने पमोयन्ति रा ो गया ॥	—"जैसे कि वन मे लगे दावानल मे जन्तुओ को जलते देख रागद्वेष के कारण अन्य जीव प्रमुदित होते हैं ।"
४३. एवमेव वय मूढा कामभोगेसु मुच्छिया । डज्झमाण न बुज्झामो रागद्दोसऽग्गिणा जगं ॥	—"उसी प्रकार कामभोगो मे मूर्च्छित हम मूढ लोग भी राग द्वेष की अग्नि मे जलते हुए जगत् को नही समझ रहे है।"

४४ भोगे भोच्चा वमित्ता य
लहुभूयविहारिणो ।
आमोयमाणा गच्छन्ति
दिया इव ॥

—"आत्मवान् साधक भोगो को भोगकर और यथावसर उन्हे त्यागकर वायु की तरह अप्रतिबद्ध लघुभूत होकर विचरण करते है। अपनी इच्छानुसार विचरण करने वाले पक्षियो की तरह प्रसन्नतापूर्वक स्वतन्त्र विहार करते है।"

४५. इमे य (फन्दन्ति
मम हत्थऽज्जमागया ।
वय च कामेसु
भविस्सामो जहा इमे ॥

—"आर्य ! हमारे हस्तगत हुए ये कामभोग, जिन्हे हमने नियन्त्रित रखा है, वस्तुत क्षणिक हैं। अभी हम कामनाओ मे है, किन्तु जैसे कि पुरोहित—परिवार बन्धनमुक्त हुआ है, वैसे ही हम भी होगे।"

४६ सामिसं कुलल दिस्स
निरामिस ।
आमिस सव्वमुज्झित्ता
विहरिस्सामि निरामिसा ॥

—"जिस गीध पक्षी के पास मास होता है, उसी पर दूसरे मासभक्षी पक्षी झपटते है। जिसके पास मास नही होता है, उस पर नही झपटते है। अत मैं भी आमिष अर्थात् मासोपम सब कामभोगो को छोडकर निरामिष भाव से विचरण करू गी।"

४७ गिद्धोवमे उ नच्चाण
कामे ।
उरगो ण्णपासे व
सकमाणो तणु चरे ॥

—"ससार को बढाने वाले काम-भोगो को गीध के समान जानकर, उनसे वैसे ही शकित होकर चलना चाहिए, जैसे कि गरुड के समीप साप शकित होकर है।"

४८ नागो व्व बन   छित्ता
 ो वसहि वए।
एय   महाराय !
उसुयारि त्ति मे ॥

––"बन्धन को तोडकर जैसे हाथी अपने निवास स्थान (वन) मे चला जाता है, वैसे ही हमे भी अपने वास्तविक स्थान (मोक्ष) मे चलना चाहिए। हे महाराज इषुकार ! यही एक मात्र श्रेयस्कर है, ऐसा मैंने ज्ञानियो से सुना है।"

उपसहार––

४९   विउल
कामभोगे य   चए।
निव्विसया निरामिसा
निन्नेहा निप्परिग्गहा ॥

विशाल राज्य को छोडकर, दुस्त्यज कामभोगो का परित्याग कर, वे राजा और रानी भी निर्विषय, निरामिष, नि स्नेह और निष्परिग्रह हो गए।

५०   धम्म वियाणि
चेच्चा कामगुणे वरे।
तव पगिज्झऽहक्खायं
घोर घोरपरक्कमा ॥

धर्म को रूप से जानकर, उपलब्ध श्रेष्ठ कामगुणो को छोडकर, दोनो ही यथोपदिष्ट घोर तप को स्वीकार कर सयम मे घोर पराक्रमी बने।

५१ एव ते कमसो
   ।
 -मच्चुभउ
 स्सन्तगवेसिणो ॥

इस प्रकार वे सब   बने, धर्मपरायण बने, जन्म एव मृत्यु के भय से उद्विग्न हुए, अतएव दु ख के अन्त की खोज मे लग गए।

५२ णे विगयमोहाण
पुव्विं भावणभाविया।
अचिरेणेव कालेण
दुक्खस्सन्तमुवागया ॥

५३   सह देवीए
माहणो य पुरोहिओ।
माहणी दारगा चेव
सव्वे ते परिनिव्वुडे ॥
––त्ति बेमि।

जिन्होने पूर्व जन्म मे अनित्य एव आदि भावनाओ से अपनी आत्मा को भावित किया था, वे सब राजा, रानी, ब्राह्मण पुरोहित, उसकी पत्नी और उनके दोनो पुत्र वीतराग अर्हत्-शासन मे मोह को दूर कर थोडे समय मे ही दु ख का अन्त करके मुक्त हो गए।

––ऐसा मै कहता हूँ।

१५

सभि

कौन भिक्षु है ? भिक्षु है ?

है ?

जो व्यक्ति विषयो से निरासक्त होकर एक मात्र मुक्तिलाभ के लिए भिक्षु बना है, उसका जीवन सामाजिक सुख-सुविधाओ से, मान्यताओ एव धारणाओ से एकदम भिन्न होता है ।

सबसे प्रथम वह निर्भय होता है। वह किसी से कभी डरता नही है। न सम्मान और प्रतिष्ठा से इतराता है। वह अपने जीवन के निर्वाह के लिए मन्त्र-तन्त्र आदि विद्याओ का भी उपयोग नही करता है। उसके मन मे अमीर और गरीब का भेद भी नही होता है। वह मुक्त मन से सभी घरो में समान भाव से भिक्षा के लिए जाता है। साधारण निर्धन घरो से नीरस भिक्षा प्राप्त होने पर निन्दा नही करता है, और सम्पन्न घरो से सरस आहार मिलने पर भी नही करता है। भिक्षा लेने के बाद गृहस्थ को धन्यवाद नही देता है। न कृतज्ञता ज्ञापन के लिए ही कुछ कहता है। वह निरन्तर एकरस अपनी साधना की मस्ती मे और स्व की खोज मे लगा रहता है।

वह उन लोगो से दूर रहता है, जिनसे उसके की पूर्ति मे बाधा आती हो। वह व्यर्थ के लोक-व्यवहार और सम्पर्क से सर्वथा अलग रहकर सीमित, सयमित और जागृति-पूर्ण जीवन जीता है। इस प्रकार का जीवन जीने वाला 'भिक्षु' होता है। निन्दा और स्तुति से मुक्त, राग और द्वेष से उपरत विशिष्ट सर्वोत्तम स्वलक्ष्य की दिशा मे ही उसकी जीवन की मगल-यात्रा होती है। भिक्षु के सयमी जीवन की यह वास्तविक सहिता है।

पनरसमं अज्झयणं : पंद्रहवाँ अ०

सभिक यं : सभि ु क

मूल	हिन्दी अनुवाद
१ मोणं चरिस्सामि समिच्च सहिए उज्जुकडे नियाणछि े। जहिज्ज अकामकामे ायएसी परिव्वए जे स ि ू ।।	"धर्म को स्वीकार कर मुनिभाव का आचरण करूंगा"—उक्त सकल्प से जो ज्ञान दर्शनादि गुणो से युक्त रहता है, जिसका आचरण सरल है, जिसने निदानो को छेद दिया है, जो पूर्व परिचय का त्याग करता है, जो कामनाओ से मुक्त है, अपनी जाति आदि का परिचय दिए बिना ही जो भिक्षा की गवेषणा है और जो अप्रतिबद्ध भाव से विहार ा है, वह भिक्षु है।
२. रागोवरयं चरेज्ज लाढे विरए वेयवियाऽऽयरक्खिए। पन्ने अभिभूय सव्वदंसी जे कम्हिचि न मुच्छिए स भिक्खू ।।	जो राग मे उपरत है, सयम मे तत्पर है, जो आश्रव से विरत है, जो ो का ज्ञाता है, जो आत्मरक्षक एव प्राज्ञ है, जो रागद्वेष को पराजित कर सभी को अपने देखता है, जो किसी भी वस्तु मे नही होता है, वह भिक्षु है।

३ अक्कोसवह विइत्तु धीरे
मुणी चरे निच्चमायगुत्ते ।
अव्वग्गमणे असंपहिट्ठे
जे कसिण अहियासए स भिक्खू ॥

कठोर एव वध—मारपीट को अपने पूर्व-कृत कर्मो का फल र जो धीर मुनि शान्त रहता है, जो सयम से है, जिसने से अपनी को गुप्त—रक्षित किया है, आकुलता और हर्षातिरेक से जो रहित है, जो समभाव से सब सहन है, वह भिक्षु है ।

४ स
सीउण्ह विविह च ग ।
अव्वग्गमणे असपहिट्ठे
जे कसिण अहियासए स भिक्खू ॥

जो साधारण से साधारण और को से स्वीकार है, जो सर्दी-गर्मी तथा डास-मच्छर आदि के अनुकूल और प्रतिकूल उपसर्गो मे हर्षित और व्यथित नही होता है, जो सब सह लेता है, वह भिक्षु है ।

५ नो सक्कियमिच्छई न
नो वि य · ग, कुओ ?
से सजए सुव्वए तवस्सी
सहिए आयगवेसए स भिक्खू ॥

जो भिक्षु , पूजा और वन्दना तक नही चाहता है, वह किसी से की अपेक्षा कैसे करेगा ? जो सयत है, सुव्रती है, और तपस्वी है, जो निर्मल आचार से युक्त है, जो की खोज मे लगा है, वह भिक्षु है ।

६ जेण पुण जहाइ जीविय
मोह वा कसिण नियच्छई ।
नरनारिं पजहे तवस्सी
न य कोऊहल उवेइ स भिक्खू ॥

स्त्री हो या पुरुष, जिसकी सगति से सयमी जीवन छूट जाये, और सब ओर से पूर्ण मोह मे वध जाए, तपस्वी उस सगति से दूर रहता है, जो कुतूहल नही करता, वह भिक्षु है ।

७ सर भोममन्तलिक्ख सुि लक्खणदण्डवत्थुविज्ज। अगवियार विजय जो विज्जाहिं न जीवइ स भिक्खू॥	जो छिन्न (वस्त्रादि की छिद्र-विद्या) स्वर-विद्या, भौम, अन्तरिक्ष, स्वप्न, लक्षण, दण्ड, वास्तु-विद्या, अगविकार और स्वर-विज्ञान (पशु-पक्षी आदि की बोली का ज्ञान)—इन विद्याओ से जो नही जीता है, वह भिक्षु है।
८ मूलं विविह् वेज्जचिन्त विरेयणधू -सिणाण। आउरे तिगिच्छियं च तं परिन्नाय परिव्वए स भिक्खू॥	जो रोगादि से पीडित होने पर भी मत्र, मूल—जडी-बूटी आदि, आयुर्वेद सबधी विचारणा, वमन, विरेचन, धूम्र पान की नली, स्नान, स्वजनो की शरण और चिकित्सा का त्याग कर अप्रतिबद्ध भाव से विचरण है, वह भिक्षु है।
९ खत्तियगणउग्गरायपुत्ता माहणभोइयविविहा य सिप्पिणो। नो सिलोगपूय त परि परिव्वए स भिक्खू॥	क्षत्रिय, गण, उग्र, राजपुत्र, ब्राह्मण, भोगिक (सामन्त आदि) और सभी के शिल्पियो की पूजा तथा मे जो कभी कुछ भी नही कहता है, किन्तु इसे हेय विचरता है, वह भिक्षु है।
१० गिहिणो जे पव्वइएण दिट्ठा अप्पव्वइएण व सथुया हविज्जा। इहलोइयफलट्ठा जो न करेइ स भि ॥	जो व्यक्ति प्रव्रजित होने के बाद परिचित हुए हो, अथवा जो प्रव्रजित होने से पहले के परिचित हो उनके साथ इस लोक के फल की प्राप्ति हेतु जो सस्तव (मिल-जोल) नही करता है, वह भिक्षु है।
११. -भोयण विविह परेसिं। अदए पडिसेहिए नियण्ठे जे न पउस्सई स भिक्खू॥	शयन, , पान, भोजन और विविध प्रकार के खाद्य एव कोई स्वय न दे, अथवा माँगने पर भी इन्कार कर दे तो जो निर्ग्रन्थ उनके प्रति द्वेष नही है, वह भिक्षु है।

१२ ज किंचि आहारपाण विविह म-साइम परेसि । जो त तिविहेण नाणुकंपे मण -कायसुसवुडे स भिक्खू ।।	गृहस्थो से विविध प्रकार के - पान एव - प्राप्त कर जो मन- वचन-काया से त्रिविध अनुकपा नही करता है, आशीर्वाद आदि नही देता है, अपितु मन, वचन और काया से पूर्ण सवृत रहता है, वह भिक्षु है ।
१३. अ चेव जवोदण च सीय च सोवीर-जवोदग च । नो हीलए पि नीरस तु पन्तकुलाइ परिव्वए स भिक्खू ।।	ओसामन, जौ से बना भोजन, ठडा भोजन, काजी का पानी, जौ का पानी- जैसे नीरस पिण्ड—भिक्षा की जो निंदा नही करता है, अपितु भिक्षा के लिए साधारण घरो मे है, वह भिक्षु है ।
१४ सद्दा विवि न्ति लोए दिव्वा माणुस्सगा तहा तिरिच्छा। भीमा भयभेरवा ला जोसोच्चा न वहिज्जई स भिक्खू।।	ससार मे देवता, मनुष्य और तिर्यंचो के जो अनेकविध रौद्र, अति भयकर और अद्भुत शब्द होते हैं, उन्हे सुनकर जो नहीं है, वह भिक्षु है ।
१५ विविह समिच्च लोए सहिए खेयाणुगए य कोवियप्पा । पन्ने अभिभूय सव्वदंसी उवसन्ते अविहेडए स भिक्खू ।।	लोकप्रचलित विविध धर्मविषयक वादो को जानकर भी जो ज्ञान दर्शनादि स्वधर्म मे स्थित रहता है, जो कर्मो को क्षीण करने मे लगा है, जिसे ो का परमार्थ प्राप्त है, जो प्राज्ञ है, जो परी- षहो को जीतता है, जो सब-जीवो के प्रति समदर्शी है और उपशान्त है, जो किसी को अपमानित नही है, वह भिक्षु है ।

१६ असिप्पजीवी अगिहे अमित्ते
जिइन्दिए सव्वओ विप्पमुक्के।
अणुक्कसाई लहु [illegible] ी
चेच्चा गिहं एगचरे स भिक्खू ।।

जो शिल्पजीवी नही है, जिसका कोई गृह नही है, जिसके अभिष्वग के हेतु मित्र नही है, जो जितेन्द्रिय है, जो सब प्रकार के परिग्रह से मुक्त है, जो अणुकषायी है अर्थात् जिसके क्रोधादि मन्द हैं, जो नीरस और परिमित आहार लेता है, जो गृहवास छोडकर एकाकी विचरण करता है, वह भिक्षु है।

—त्ति बेमि।

—ऐसा मै कहता हूँ।

●

१६

र्य-समाधि-

ब्रह्मचर्य का ˝ है—स्वरूपबोध और आत्मरम ।

व्रत, नियम एव प्रतिज्ञाएँ उसके लिए है ।

अनन्त, अप्रतिम, अद्वितीय सहज आनन्द आत्मा का स्वरूप है, स्वभाव है। किन्तु अनादि की गलत समझ और उपेक्षा के कारण जीव ने शरीर, इन्द्रिय और मन मे आनन्द को खोजा। इस खोज ने कुछ भ्रम पैदा किए, जिसके फलस्वरूप आत्मा ने आसक्ति और वासना का जाल अपने चारो तरफ बुन लिया, उसे आत्मा का स्वभाव मान लिया और उसी मे गया। इस जाल को तोडना ही ब्रह्मचर्य है। भ्रम से मुक्त हो जाना ही ब्रह्मचर्य है। वह भ्रम स्वरूपबोध से टूट सकता है। आत्मरमणता से पररमणता का जाल नष्ट हो सकता है। इसके अतिरिक्त ब्रह्मचर्य तक पहुचने का और कोई मार्ग नही है। व्रत, नियम, बाह्य मर्यादाएँ ब्रह्मचर्य नही है। किन्तु ब्रह्मचर्य तक पहुँचने के लिए यह केवल एक वातावरण है। प्राथमिक स्थिति मे साधक के लिए उसकी अवश्य आवश्यकता है। किन्तु व्रत एव नियमो का पालन करने के बाद भी ब्रह्मचर्य की साधना शेष रहती है, चूंकि विकारो के बीज भीतर हैं, और नियम ऊपर हैं। बाहर के नियमो से भीतर के विकार नही मिटाये जा सकते हैं। फिर भी नियमो की उपयोगिता है। जिनसे स्वय का बोध प्रकट हो सके, स्वय को जानने का अवसर मिल सके, वे नियम साधना-क्षेत्र मे अतीव उपयोगी है, चूंकि इन्द्रिय और मन के कोलाहलपूर्ण वातावरण मे ब्रह्मचर्य की साधना कठिन है। उस कोलाहल को नियम राकते है, जिससे साधक आसानी से 'स्व' की खोज कर सकता है।

●

सोलसमं अज्झयणं : सोलहवाँ अध्ययन

भचेर ाहि णं : ब्र चर्य-समाधि-स्थान

मूल

१—सुय मे ।तेण एवमक्खाय—
इह थेरेहि भगवन्तेहि दस बम्भचेर-समाहिठाणा ,
जे भिक्खू सोच्चा, निसम्म, ले, रबहुले, ि हुले, गुत्ते, गुत्तिन्दिए, गुत्तबम्भयारी विहरेज्जा।

हिन्दी अनुवाद

आयुष्मन् ! मैंने सुना है कि उस भगवान् ने ऐसा कहा है। स्थविर भगवन्तो ने निर्ग्रन्थ मे दस ब्रह्मचर्य-समाधि-स्थान बतलाए है—जिन्हे सुन कर, जिनके अर्थ का निर्णय कर भिक्षु सयम, सवर, (आश्रवनिरोध) तथा समाधि (चित्तविशुद्धि) से अधिकाधिक सम्पन्न हो—मन, वचन, काया का गोपन करे—इन्द्रियो को वश मे रखे—ब्रह्मचर्य को सुरक्षित रखे—और सदा होकर विहार करे।

सूत्र २—कयरे खलु ते थेरेहि भगवन्तेहि
दस चेरसमाहिठाणा ।
जे भिक्खू सोच्चा, नि ,
सजमबहुले, –
बहुले, समाहि ले,
गुत्ते, गुत्तिन्दिए, गुत्तबं री
विहरेज्जा।

स्थविर भगवन्तो ने ब्रह्मचर्य-समाधि के वे कौनसे बतलाए है—जिन्हे सुनकर, जिनके अर्थ का निर्णय कर—भिक्षु सयम, सवर और समाधि से अधिकाधिक सम्पन्न हो—मन, वचन और काया का गोपन करे—इन्द्रियो को वश मे रखे—ब्रह्मचर्य को सुरक्षित रखे—और सदा होकर विहार करे।

सूत्र ३—इमे ते थेरेहिं भगवन्तेहिं बंभचेर हिठाणा , जे भिक्खू सोच्चा, नि , म बहुले ले, समाहिबहुले, गुत्ते, गुत्तिन्दिए, गुत्त बंभयारी विहरेज्जा।

स्थविर भगवन्तो ने ब्रह्मचर्य-समाधि के ये दस स्थान ाए है—जिन्हे सुन कर, जिनके अर्थ का निर्णय कर भिक्षु सयम, सवर और समाधि से अधिका-धिक सम्पन्न हो—मन, वचन और काया का गोपन करे—इन्द्रियो को वश मे रखे—ब्रह्मचय को सुरक्षित रखे—सदा होकर विहार करे।

त जहा—

विवित्ताइ सयणासणाइ सेविज्जा, से निग्गन्थे। नो-इत्थी-पसुपण्डगससत्ताइ सयणासणाइ सेवित्ता हवइ, से निग्गन्थे ।

वे इस प्रकार है—

जो विविक्त-अर्थात् एकान्त शयन और का सेवन करता है, वह निर्ग्रन्थ है। जो स्त्री, पशु और नपुसक से (आकीर्ण) शयन और आसन का सेवन नही करता है, वह निर्ग्रन्थ है।

त कहमिति चे ?

ऐसा क्यो ?

आयरियाह—निग्गन्थस्स इत्थीपसु गससत्ताइ इ सेवम ारिस्स बंभचेरे सका वा, वा, वितिगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा, भेय वा लभेज्जा, ाय वा पाउणिज्जा, दीहकालियं वा रोगायक हवेज्जा, केवलिपन्नताओ वा धम्माओ भसेज्जा। तम्हा नो इत्थि-पसुपडगससत्ताइ । सेवित्ता हवइ, से निग्गन्थे।

आचार्य कहते हैं—जो स्त्री, पशु और नपुसक से आकीर्ण शयन और सेवन करता है, उस ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ को ब्रह्मचर्य के विषय मे , (भोगेच्छा) या विचिकित्सा (फल के प्रति सन्देह) उत्पन्न होती है, अथवा ब्रह्मचर्य का विनाश होता है, अथवा उन्माद पैदा होता है, अथवा दीर्घ-कालिक रोग और आतक (आशुघाती शूलादि) होता है, अथवा वह केवली-प्ररूपित धर्म से भ्रष्ट होता है। अत स्त्री, पशु और नपुसक से ससक्त (आकीर्ण) शयन और आसन का जो सेवन नही करता है, वह निग्रन्थ है।

४— नो इत्थीण कह कहित्ता हवइ, से निग्गन्थे ।

जो स्त्रियो की (रूप, लावण्य आदि से सम्बन्धित) कथा नही करता है, वह निर्ग्रन्थ है ।

त कहमिति चे ?

ऐसा क्यो ?

आयरियाह—निग्ग खलु इत्थीण कह कहेमा , बम्भयारिस्स बम्भचेरे वा । वा वितिगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा, भेय वा लभेज्जा य वा पाउणिज्जा, दीहकालिय वा रोगायक हवेज्जा, केवलि ओ वा धम्माओ भसेज्जा । तम्हा नो इत्थीण कह कहेज्जा ।

कहते है—जो स्त्रियो की कथा करता है, उस ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ को ब्रह्मचर्य के विषय मे शका, या विचिकित्सा उत्पन्न होती है, ब्रह्मचर्य का विनाश होता है, उन्माद पैदा होता है, अथवा दीर्घकालिक रोग और आतक होता है, वह केवलीप्ररूपित धर्म से भ्रष्ट होता है । अत निर्ग्रन्थ स्त्रियो की कथा न करे ।

सूत्र ५—नो इत्थीहि सद्धि सन्निसेज्जागए विहरित्ता से निग ।

जो स्त्रियो के साथ एक आसन पर नही बैठता है, वह निर्ग्रन्थ है ।

त कहमिति चे ?

ऐसा क्यो ?

आयरियाह-निग्गन्थस्स खलु ीहि सद्धि सन्निसेज्ज स्स, बम्भयारिस्स चेरे वा, वा, वितिगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा, भेय वा लभेज्जा, वा पाउ ा, दीहकालिय वा रोगायक हवेज्जा, केवलिपन्नत्ताओ वा ओ भसेज्जा। तम्हा खलु नो निग्गन्थे इत्थीहि सद्धि सन्निसेजागए विहरेज्जा ।

आचार्य कहते हैं—जो स्त्रियो के साथ एक आसन पर बैठता है, उस ब्रह्मचारी को ब्रह्मचर्य के विषय मे शका, काक्षा या विचि होती है, ब्रह्मचर्य का विनाश होता है, उन्माद पैदा होता है, अथवा दीर्घकालिक रोग और आतक होता है, अथवा वह केवली प्ररूपित धर्म से भ्रष्ट होता है । अत निर्ग्रन्थ स्त्रियो के साथ एक आसन पर न बैठे ।

सूत्र ६—नो इत्थीणं इन्दियाइं
मणोहराइं, मणोरमाइं
आलोइत्ता, निज्झाइत्ता
हवइ, से निग्गन्थे।
त कहमिति चे ?
आयरियाह-निग्गन्थस्स
ीण इन्दियाइ
मणोहराइ, मणोरमाइं
आलोएमाणस्स,
निज्झाय
बम्भयारिस्स बम्भचेरे
वा, वा,
वितिगिच्छा वा
समुप्पज्जिजा,
भेयं वा लभेज्जा,
उम्माय वा पाउणिज्जा,
दीहकालिय वा
रोगायक हवेज्जा,
केवलि ओ वा
धम्माओ भसेज्जा।
तम्हा खलु निग्गन्थे नो
इत्थीण इन्दियाइ
मणोहराइ, मणोरमाइं
आलोएज्जा, निज्झाएज्जा।

जो स्त्रियो की मनोहर एव मनोरम इन्द्रियो को नही देखता है और उनके विषय मे चिन्तन नही करता है, वह निर्ग्रन्थ है।

ऐसा क्यो ?

आचार्य कहते है—जो स्त्रियो की मनोहर एव मनोरम इन्द्रियो को देखता है और उनके विषय मे चिन्तन करता है, उस ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ को ब्रह्मचर्य के विषय मे शका काक्षा या विचिकित्सा उत्पन्न होती है, अथवा ब्रह्मचर्य का विनाश होता है, अथवा उन्माद पैदा होता है, अथवा दीर्घकालिक रोग और आतक होता है, अथवा वह केवली प्ररूपित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है। इसलिए निर्ग्रन्थ स्त्रियो की मनोहर एवं मनोरम इन्द्रियो को न देखे और न उनके विषय मे चिन्तन करे।

सूत्र ७–नो इत्थीण न्तरसि
वा, दूसन्तरसि वा,
भित्तन्तरसि वा, कुइयसद्द वा,
रुइयसद्द वा, गीयसद्द वा,
हसियसद्द वा, थणियसद्द वा,
कन्दियसद्द वा, विलवियसद्द वा,
सुणेत्ता हवइ, से निग्गन्थे।

जो मिट्टी की दीवार के अन्तर से, परदे के अन्तर से अथवा पक्की दीवार के अन्तर से स्त्रियो के कूजन, रोदन, गीत, हास्य, स्तनित—गर्जन, आक्रन्दन या विलाप के शब्दो को नही सुनता है, वह निर्ग्रन्थ है।

त कहमिति चे ?

रियाह-निग्गन्थस्स खलु इत्थीण कुड्डन्तरसि वा, दूसन्तरसि वा, भित्तन्तरसि वा, कुइयसद्द वा, रुइयसद्द वा, गीयसद्द वा, हसियसद्द वा, थणियसद्द वा, क ह्द वा, विलवियसद्द वा, सुणेमा ारिस्स बम्भचेरे सका वा, वा, वितिगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा, भेय वा लभेज्जा, वा पाउणिज्जा, दीहकालिय वा रोगायक हवेज्जा, केवलिपन्नत्ताओ वा धम्माओ भसेज्जा। तम्हा खलु नि नो ीण कुड्डन्तरसि वा, तरसि वा, भित्तन्तरसि वा, सद्द वा, रुइयसद्द वा, गीयसद्द वा, हसियसद्द वा थणियसद्द वा, कन्वियसद्द वा, विलवियसद्द वा सुणेमाणे विहरेज्जा।

ऐसा क्यो ?

आचार्य कहते है—मिट्टी की दीवार के अन्तर से, परदे के अन्तर से, अथवा पक्की दीवार के अन्तर से, स्त्रियो के कूजन, रोदन, गीत, हास्य, गर्जन आक्रन्दन या विलाप के शब्दो को सुनता है, उस ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ को ब्रह्मचर्य के विषय मे शका, या विचि होती है, ब्रह्मचर्य का विनाश होता है, अथवा उन्माद पैदा होता है, अथवा दीर्घकालिक रोग और आतक होता है, अथवा वह केवली-कथित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है। अत निर्ग्रन्थ मिट्टी की दीवार के अन्तर से, परदे के अन्तर से स्त्रियो के कूजन, रोदन, गीत हास्य, गर्जन, या विलाप के शब्दो को न सुने।

सूत्र ८—नो निग्गन्थे पुव्वरय, पुव्वकीलिय अणुसरित्ता , से निग्गन्थे।

त मिति चे ?

आयरियाह-निग्गन्थस्स खलु पुव्वरय पुव्वकीलिय अणुसरमाणस्स बम्भयारिस्स बम्भचेरे वा,

जो सयमग्रहण से पूर्व की रति और क्रीडा का अनुस्मरण नही करता है, वह निर्ग्रन्थ है।

ऐसा क्यो ?

आचार्य कहते है—जो सयम ग्रहण से पूर्व की रति का, क्रीडा का अनुस्मरण है, उस ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ को

कक्खा वा, वितिगि वा समुप्पज्जिज्जा,
भेय वा ा,
वा णिज्जा,
दीहकालिय वा रोगायक हवेज्जा,
केवलिपन्नत्ताओ वा धम्माओ भंसेज्जा। तम्हा खलु नो निग्गन्थे पुव्वरय, पुव्वकीलिय अणुसरेज्जा।

ब्रह्मचय के विपय मे , काक्षा या विचिकित्सा होती है, अथवा ब्रह्मचर्य का विनाश होता है, उन्माद पैदा होता है, दीर्घकालिक रोग और होता है, अथवा वह केवली-प्ररूपित धर्म से भ्रष्ट हो है। अत निर्ग्रन्थ सयम ग्रहण से पूर्व की रति और क्रीडा का अनुस्मरण न करे।

सूत्र ६—नो पणीय आहार आहारित्ता हवइ, से निग्गन्थे।
त कहमिति चे ?
आयरियाह निग्गन्थस्स पणीय पाणभोयण आहारेमाणस्स बम्भयारिस्स बम्भचेरे वा, कक्खा वा, वितिगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा, भेय वा लभेज्जा, वा पाउणिज्जा, दीहकालिय वा रोगायक हवेज्जा, केवलिपन्नत्ताओ वा ओ भसेज्जा।
तम्हा नो निग्गन्थे पणीय आहार आहारेज्जा।

जो प्रणीत अर्थात् रसयुक्त पौष्टिक आहार नही करता है, वह निर्ग्रन्थ है।
ऐसा क्यो ?
आचार्य कहते है—जो रसयुक्त पौष्टिक भोजन-पान करता है, उस ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ को ब्रह्मचर्य के विषय मे शका, काक्षा या विचिकित्सा उत्पन्न होती है, ब्रह्मचर्य का विनाश होता है, उन्माद पैदा होता है, दीर्घकालिक रोग और होता है, अथवा वह केवली-प्ररूपित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है। अत निर्ग्रन्थ प्रणीत आहार न करे।

सूत्र १०—नो अइमायाए ोयण आहारेत्ता हवइ, से निग्गन्थे।
त कहमिति चे ?
आयरियाह निग्गन खलु

जो परिमाण से अधिक नही खाता-पीता है वह निर्ग्रन्थ है।
ऐसा क्यो ?
आचार्य कहते है—जो परिमाण से

याए पाणभोयण आहारेमाणस्स, रिस्स बभचेरे वा, वा, वितिगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा, भेय वा , वा पाउणिज्जा, दीहकालिय वा रोगायक हवेज्जा, केवलिपन्नत्ताओ वा ाओ भसेज्जा । तम्हा खलु नो निग्गन्थे अइमायाए भोयण भुजिज्जा ।	अधिक -पीता है, उस ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ को ब्रह्मचर्य के विषय मे शका, काक्षा या विचिकित्सा उत्पन्न होती है, अथवा ब्रह्मचर्य का विनाश होता है, उन्माद पैदा होता है, अथवा दीर्घकालिक रोग और आतक होता है, अथवा वह केवली प्ररूपित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है। अत निर्ग्रन्थ परिमाण से अधिक न खाए, न पीए।
सूत्र ११—नो विभूसाणुवाई इ, से निग्गन्थे ।	जो विभूषानुपाती नही होता है, अर्थात् शरीर की विभूषा नही करता है, वह निर्ग्रन्थ है।
त कहमिति चे ?	ऐसा क्यो ?
आयरियाह— विभूसावत्तिए, विभूसियसरीरे इत्थिज अभिलसणिज्जे । तओ ण इत्थिजणेण अभिलसिज्जमाणस्स बम्भचेरे वा, वा, वितिगिच्छा वा समुप्पज्जि , भेय वा ल , वा पाउणिज्जा, दीहकालिय वा रोगायक हवेज्जा, लि ो वा धम्माओभसेज्जा । तम्हा खलु नो निग्गन्थे विभूसाणुवाई सिया ।	कहते हैं—जिसकी मनोवृत्ति विभूषा करने की होती है, वह शरीर को ा है, उसे स्त्रियाँ चाहती है। अत स्त्रियो द्वारा चाहे जाने वाले ब्रह्मचारी को ब्रह्मचय मे शका, या विचिकित्सा उत्पन्न होती है, ब्रह्मचर्य का विनाश होता है, उन्माद पैदा होता है, दीर्घकालिक रोग और आतक होता है, वह केवलीप्ररूपित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है। अत निर्ग्रन्थ विभूषानुपाती न बने।

सूत्र १२—नो सद्द -रस-गन्ध-
फासाणुवाई ह,
से निग्गन्थे ।
त कहमिति चे ?
आयरियाह निग्गन्थस्स खलु
सद्दरूवरसगन्धफासाणुवाइस्स
बम्भयारिस्स बम्भचेरे
वा, वा,
वितिगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा,
भय वा ,
वा पाउणिज्जा
दीहकालिय वा रोगायक हवेज्जा,
केवलिपन्नत्ताओ वा धम्माओ
भसे ।
तम्हा खलु नो निग्गन्थे
सद्दरूवरसगन्धफासाणुवाई हविज्जा।
दसमे बम्भचेरसमाहिठाणे हवइ।

जो शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श मे आसक्त नही होता है, वह निर्ग्रन्थ है।

ऐसा क्यो ?

आचार्य कहते है—जो शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श मे आसक्त रहता है, उस ब्रह्मचारी को ब्रह्मचर्य मे शका, काक्षा या विचिकित्सा उत्पन्न होती है, अथवा ब्रह्मचर्य का विनाश होता है, अथवा उन्माद पैदा होता है, अथवा दीर्घकालिक रोग और आतक होता है अथवा वह केवली-प्ररू्पित धर्म से भ्रष्ट हो है। अत निर्ग्रन्थ शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श मे त न बने।

यह ब्रह्मचर्य समाधि का दसवाँ है।

भवन्ति सिलोगा, तजहा—

यहाँ श्लोक है, जैसे—

१ ज विवित्तमणाइण्ण
रहिय थीजणेण य ।
चेरस्स रक्खट्ठा
मु निसेवए ॥

ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए सयमी एकान्त, अनाकीर्ण और स्त्रियो से रहित मे रहे।

२ मणपल्हायजणणि
विवड्ढणि ।
वमचेररओ भिक्खू
थीकह तु विवज्जए ॥

ब्रह्मचर्य मे रत भिक्षु मन मे आह्लाद पैदा करने वाली तथा कामराग को बढाने वाली स्त्री-कथा का त्याग करे।

३ च थीहि
सकहं च अभिक्खण ।
बभचेररओ भिक्खू
निच्चसो परिवज्जए ॥

ब्रह्मचर्य मे रत भिक्षु स्त्रियो के साथ परिचय तथा बार-बार वार्त्तालाप का सदा परित्याग करे ।

४ ' —सठाण
चारुल्लविय-पेहिय ।
बभचेररओ थीण
गिज्भ विवज्जए ॥

ब्रह्मचर्य मे रत भिक्षु चक्षु-इन्द्रिय से ग्राह्य स्त्रियो के अग-प्रत्यग, सस्थान—आकार, बोलने की सुन्दर मुद्रा, तथा कटाक्ष को देखने का परित्याग करे ।

५ य रुइय गीय
हसिय थणिय-कन्दिय ।
ओ थीण
सोयगिज्भ विवज्जए ॥

ब्रह्मचय मे रत भिक्षु श्रोत्रेन्द्रिय से ग्राह्य स्त्रियो के कूजन, रोदन, गीत, हास्य, गर्जन और क्रन्दन न सुने ।

६ हास किड्ड रइ दप्प
सहसाऽवत्तासियाणि य ।
ेरओ थीण
नाणुचिन्ते कयाइ वि ॥

ब्रह्मचर्य मे रत भिक्षु, दीक्षा से पूव जीवन मे स्त्रियो के साथ अनुभूत हास्य, क्रीडा, रति, अभिमान और आकस्मिक त्रास का कभी भी अनुचिन्तन न करे ।

७ पणीय भत्तपाण तु
खिप्पं मयवि ।
ेरओ ि
निच्चसो परिवज्जए ॥

ब्रह्मचर्य मे रत भिक्षु, शीघ्र ही काम को बढाने वाले प्रणीत आहार का सदा-सदा परित्याग करे ।

८ मिय काले
पणिहाणव ।
नाइमत्त तु भुजे
ेररओ ॥

ब्रह्मचर्य मे रत भिक्षु चित्त की स्थिरता के लिए, जीवन-यात्रा के लिए उचित समय मे धर्म-मर्यादानुसार प्राप्त परिमित भोजन करे, किन्तु मात्रा से अधिक ग्रहण न करे ।

९. विभूसं परिवज्जेज्जा
सरीरपरिमण्डणं ।
बम्भचेररओ भिक्खू
सिंगारत्थं न धारए ॥

ब्रह्मचर्य मे रत भिक्षु विभूषा का त्याग करे।
शृंगार के लिए शरीर का मण्डन न करे।

१०. सद्दे रूवे य गन्धे य
रसे फासे तहेव य ।
पंचविहे कामगुणे
निच्चसो परिवज्जए ॥

शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श—इन पाँच प्रकार के कामगुणो का सदा त्याग करे।

११. आलओ थीजणाइण्णो
थीकहा य मणोरमा ।
संथवो चेव नारीणं
तासि इन्दियदरिसणं ॥

(१) स्त्रियो से आकीर्ण स्थान,
(२) मनोरम स्त्री-कथा,
(३) स्त्रियो का परिचय,
(४) उनकी इन्द्रियो को देखना,

१२. कुइयं रुइयं गीयं
हंसियं भुत्तासियाणि य ।
पणीयं भत्तपाणं च
अइमायं पाणभोयणं ॥

(५) उनके कूजन, रोदन, गीत और हास्ययुक्त शब्दो का सुनना,
(६) भुक्त भोगो और सहावस्थान को स्मरण करना,
(७) प्रणीत (पौष्टिक) भोजन-पान,
(८) मात्रा से अधिक भोजन पान,

१३. गत्तभूसणमिट्ठं च
कामभोगा य दुज्जया ।
नरस्सऽत्तगवेसिस्स
विसं तालउडं जहा ॥

(९) शरीर को सजाने की इच्छा,
(१०) दुर्जय काम भोग—ये दस आत्म-गवेषक मनुष्य के लिए तालपुट विष के समान है।

१४. दुज्जए कामभोगे य
निच्चसो परिवज्जए ।
संकट्ठाणाणि सव्वाणि
वज्जेज्जा पणिहाणवं ॥

एकाग्रचित्त वाला मुनि दुर्जय काम-भोगो का सदैव त्याग करे और सब प्रकार के शंका-स्थानो से दूर रहे।

१५. धम्मारामे चरे भिक्खू
धिइमं धम्मसारही ।
धम्मारामरए दन्ते
बम्भचेर - समाहिए ॥

जो धैर्यवान है, जो धर्मरथ का सारथि है, जो धर्म के आराम मे रत है, जो दान्त है, जो ब्रह्मचर्य मे सुसमाहित है, वह भिक्षु धर्म के आराम (बाग) मे विचरण करता है।

३ सम च   थीहि
सकह च अभिक्खण ।
बभचेररओ भिक्खू
ि   ो परिवज्जए ॥

ब्रह्मचर्य मे रत भिक्षु, स्त्रियो के साथ परिचय तथा बार-बार वार्तालाप का सदा परित्याग करे ।

४ अगपच्चग–
चारुल्लविय-पेहिय ।
बभचेररओ थीण
ुगिज्झ विवज्जए ॥

ब्रह्मचर्य मे रत भिक्षु चक्षु-इन्द्रिय से ग्राह्य स्त्रियो के अग-प्रत्यग, सस्थान—आकार, बोलने की सुन्दर मुद्रा, तथा को देखने का परित्याग करे ।

५ कुइय रुइय गीय
हसिय थणिय–कन्दिय ।
बभचेररओ थीण
सोयगिज्झ वि   ए ॥

ब्रह्मचर्य मे रत भिक्षु श्रोत्रेन्द्रिय से ग्राह्य स्त्रियो के कूजन, रोदन, गीत, हास्य, गर्जन और क्रन्दन न सुने ।

६ हास किड्ड रइ दप्प
सहसा   सियाणि य ।
ेररओ थीण
नाणुचिन्ते कयाइ वि ॥

ब्रह्मचर्य मे रत भिक्षु, दीक्षा से पूर्व जीवन मे स्त्रियो के साथ अनुभूत हास्य, क्रीडा, रति, अभिमान और आकस्मिक त्रास का कभी भी अनुचिन्तन न करे ।

७ पणीय   तु
खिप्प मयविवड्ढण ।
ेररओ ि
निच्चसो परिवज्जए ॥

ब्रह्मचर्य मे रत भिक्षु, शीघ्र ही कामवासना को बढाने वाले प्रणीत आहार का सदा-सदा परित्याग करे ।

८   मिय काले
पणिहाणव ।
नाइमत्त तु भुजे
ेररओ   ॥

ब्रह्मचर्य मे रत भिक्षु चित्त की स्थिरता के लिए, जीवन-यात्रा के लिए उचित समय मे धर्म-मर्यादानुसार प्राप्त परिमित भोजन करे, किन्तु मात्रा से अधिक ग्रहण न करे ।

९. विभूस परिवज्जेज्जा
सरीरपरिमण्डण ।
बम्भचेररओ भिक्खू
सिंगारत्थं न धारए ॥

ब्रह्मचर्य मे रत भिक्षु विभूषा का त्याग करे।
शृगार के लिए शरीर का मण्डन न करे।

१०. सद्दे रूवे य गन्धे य
रसे फासे तहेव य ।
पंचविहे कामगुणे
निच्चसो परिवज्जए ॥

शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श—इन पाँच प्रकार के कामगुणो का सदा त्याग करे।

११. आलओ थीजणाइण्णो
थीकहा य मणोरमा ।
संथवो चेव नारीणं
तासिं इन्दियदरिसणं ॥

(१) स्त्रियो से आकीर्ण स्थान,
(२) मनोरम स्त्री-कथा,
(३) स्त्रियो का परिचय,
(४) उनकी इन्द्रियो को देखना,

१२. कूइयं रुइयं गीयं
हसियं भुत्तासियाणि य ।
पणीयं भत्तपाणं च
अइमायं पाणभोयणं ॥

(५) उनके कूजन, रोदन, गीत और हास्ययुक्त शब्दो का सुनना,
(६) भुक्त भोगो और सहावस्थान को स्मरण करना,
(७) प्रणीत (पौष्टिक) भोजन-पान,
(८) मात्रा से अधिक भोजन पान,

१३ गत्तभूसणमिट्ठं च
कामभोगा य दुज्जया ।
नरस्सऽत्तगवेसिस्स
विसं तालउडं जहा ॥

(९) शरीर को सजाने की इच्छा,
(१०) दुर्जय काम भोग—ये दस आत्म-गवेषक मनुष्य के लिए तालपुट विष के समान है।

१४. दुज्जए कामभोगे य
निच्चसो परिवज्जए ।
संकट्ठाणाणि सव्वाणि
वज्जेज्जा पणिहाणवं ॥

एकाग्रचित्त वाला मुनि दुर्जय काम-भोगो का सदैव त्याग करे और सब प्रकार के शका-स्थानो से दूर रहे।

१५. धम्मारामे चरे भिक्खू
धिइमं धम्मसारही ।
धम्मारामरए दन्ते
बम्भचेर - समाहिए ॥

जो धैर्यवान है, जो धर्मरथ का सारथि है, जो धर्म के आराम मे रत है, जो दान्त है, जो ब्रह्मचर्य मे सुसमाहित है, वह भिक्षु धर्म के आराम (बाग) मे विचरण करता है।

१६ देव — — ग॰ । — — किन्नरा । बम्भयारिं न न्ति दुक्कर जे करन्ति तं ॥	जो दुष्कर ब्रह्मचर्य का पालन करता है, उसे देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, किन्नर—सभी नमस्कार करते है।
१७ एस धम्मे धुवे निअए सासए जिणदेसिए । सिद्धा सिज्झन्ति सिज्झिस्सन्ति तहावरे ॥	यह ब्रह्मचर्य-धर्म ध्रुव है, नित्य है, है और जिनोपदिष्ट है। इस धर्म के द्वारा अनेक साधक सिद्ध हुए हैं, हो रहे है, और भविष्य मे भी होंगे।
—त्ति बेमि	—ऐसा मैं कहता हूं।

१७

- णीय

भिक्षु होने के जो । नही है,
वह है।

भिक्षु बनने के बाद व्यक्ति को अपना जीवन साधनामय व्यतीत करना ही चाहिए, किन्तु अगर वह ऐसा नही करता है, तो भगवान् महावीर उसे 'पापश्रमण' कहते है।

साधु होने के यह सोचना ठीक नही है कि अब मुझे और कुछ करने की क्या आवश्यकता है? गृहत्याग कर अनगार हो गया हूँ, भिक्षु बन गया हूँ। मुझ कृतकृत्य को अब और क्या चाहिए? आराम से सत्कार सम्मान के भिक्षा मिल ही जाती है। अन्य सब सुविधाएँ भी प्राप्त है। आनन्द से जीवनयात्रा चल रही है। अब साधना के नाम पर व्यर्थ के आत्मपीडन से क्या लाभ?

यदि विवेकभ्रष्ट भिक्षु ऐसा सोचता है, तो वह साधनापथ से जाता है। उसकी दृष्टि आत्मा से हट कर शरीर पर आ ठहरती है, फलत सुबह से शाम तक वह यथेच्छ -पीता है और आराम से सोया रहता है। न उसे ठीक तरह चलने का विवेक रहता है और न बैठने का। अपने उपकरणो को बिना देखे-भाले यो ही चाहे जहाँ रख देता है। सारा कार्य फूअडपन से करता है और अव्यवस्थित रहता है। किसी के समझाने पर समझता भी नही है, अपितु उल्टा समझाने वाले की ही भूलें निकालने लगता है। उन पर क्रोध करता है। उनकी नही मानता है।

आचार्य और उपाध्याय के प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन नही करता है। श्रुत के अध्ययन से जी चुराता है। बिना कारण के यो ही उल्लठ-पने से

एक गण से दूसरे गण मे जाता है। अविवेकी और मूढ है। विचारो से अस्थिर है। वह श्रमण (भिक्षु) पापश्रमण है।

श्रमण बनने का केवल वेप-परिवर्तन से पूरा नही होता है। वेष-परिवर्तन आसान है। दो-चार बंधे बंधाये नियमो का पालन करना भी सहज है। किन्तु अनासक्ति के साथ उस परम सत्य की खोज के लिए अपने को सर्वतोभावेन समर्पित करना, आसान नही है। और यही वह साधना है, जो मानव-जीवन का परम आदर्श है। जो इसे साध सकता है, भगवान् महावीर उसे श्रेप्ठ श्रमण कहते है।

अज्झयणं : सतरहवाँ अ
पावसमणिज्जं : - णीय

मूल	हिन्दी-अनुवाद
१ जे के इमे पव्वइए नियण्ठे सुणित्ता विणओववन्ने । लहिउं बोहिलाभं विहरेज्ज य जहासुहं तु ॥	जो कोई धर्म को सुनकर, अत्यन्त दुर्लभ बोधिलाभ को करके पहले तो विनय अर्थात् आचार से सपन्न हो जाता है, निर्ग्रन्थरूप मे प्रव्रजित हो जाता है, किन्तु बाद मे सुख-स्पृहा के कारण -विहारी हो जाता है ।
२ सेज्जा पाउरण मे अत्थि उप्पज्जई भोत्तुं तहेव । जाणामि ज वट्टइ आउसु ! त्ति किं काहामि सुएण भन्ते ॥	आचार्य एव गुरु के द्वारा शास्त्राध्ययन की प्रेरणा मिलने पर वह दुर्मुख होकर कहता है—"आयुष्मन् ! रहने को अच्छा स्थान मिल रहा है । कपडे मेरे पास है । खाने पीने को मिल जाता है । और जो हो रहा है, उसे मैं जानता हूँ । भन्ते ! शास्त्रो का अध्ययन करके मैं क्या करूँगा ?"
३ जे के इमे निद्दासीले पगामसो । भोच्चा पेच्चा सुवइ त्ति वुच्चई ॥	जो कोई प्रव्रजित होकर निद्राशील रहता है, यथेच्छ खा-पीकर बस आराम से सो जाता है, वह 'पापश्रमण' कहलाता है ।

४ आयरियउवज्झाएहिं सुयं विणयं च गाहिए । ते चेव खिसई बाले णे त्ति वुच्चई ॥	जिन आचार्य और उपाध्यायो से श्रुत (विचार) और विनय (आचार) ग्रहण किया है, उन्ही की निन्दा है, वह बाल—अर्थात् विवेकभ्रष्ट पाप-कहलाता है ।
५. रिय सम्म नो पडितप्पइ । डिपूयए त्ति वुच्चई ॥	जो आचार्य और उपाध्यायो की चिन्ता (सेवा आदि का ध्यान) नही है, अपितु उनका अनादर करता है, जो ढीठ है, वह पाप श्रमण कहलाता है ।
६ सम्मद्दमाणे पाणाणि बीयाणि हरियाणि य । असजए त्ति वुच्चई ॥	जो प्राणी (द्वीन्द्रिय आदि जीव), बीज और वनस्पति का समर्दन करता रहता है, जो असयत होते हुए भी स्वय को सयत मानता है, वह पापश्रमण कहलाता है ।
७. पीढं निसेज्ज । अप्पमज्जियमारुहइ पावसमणे त्ति वुच्चई ॥	जो सस्तारक—बिछौना, फलक—पाट, पीठ—आसन, निषद्या—स्वाध्याय-भूमि और पादकम्बल—पादपुछन का प्रमार्जन किए विना ही उन पर बैठता है, वह पापश्रमण कहलाता है ।
८ चरई य अभिक्खणं । य चण्डे य त्ति वुच्चई ॥	जो जल्दी-जल्दी चलता है, जो पुन पुन प्रमादाचरण करता रहता है, जो मर्यादाओ का करता है, जो क्रोधी, है वह पापश्रमण कहलाता है ।
९. पडिलेहेइ पमत्ते । पडिलेहणाअणाउत्तो त्ति वुच्चई ॥	जो प्रमत्त—असावधान होकर प्रति-लेखन करता है, जो पात्र और जहाँ-तहाँ रख देता है, जो प्रतिलेखन मे अनायुक्त—असावधान रहता है, वह पाप-श्रमण कहलाता है ।

१० पडिलेहेइ पमत्ते
से किंचि हु निसामिया ।
गुरु परि ए निच्च
णे त्ति वुच्चई ।।

जो इधर-उधर की बातों को सुनता हुआ प्रमत्तभाव से प्रतिलेखन करता है, जो गुरु की अवहेलना करता है, वह पाप-श्रमण कहलाता है ।

११. बहुमाई पमुहरे
अणिग्गहे ।
असविभागी अचियत्ते
पावसमणे त्ति वुच्चई ।।

जो बहुत मायावी है, जो वाचाल है, जो स्तब्ध—धीठ है, लोभी है, जो अनिग्रह है—अर्थात् इन्द्रिय एव मन पर उचित नियन्त्रण नही रखता है, जो प्राप्त वस्तुओ का परस्पर सविभाग नही करता है, जिसे गुरु के प्रति प्रेम नही है, वह पापश्रमण कहलाता है ।

१२ विवाद च उदीरेइ
अहम्मे अत्तपन्नहा ।
वुग्गहे कलहे रत्ते
त्ति वुच्चई ।।

जो शान्त हुए विवाद को पुन उखाडता है, जो अधर्म मे अपनी प्रज्ञा का हनन करता है, जो कदाग्रह (विग्रह) तथा कलह मे व्यस्त है, वह पापश्रमण कहलाता है ।

१३ अथिरासणे कुक्कुईए
जत्थ निसीयई ।
आसणम्मि अणाउत्ते
समणे त्ति वुच्चई ।।

जो स्थिरता से नही बैठता है, जो हाथ-पैर आदि की चचल एव विकृत चेष्टाएँ करता है, जो जहाँ तहाँ बैठ जाता है, जिसे आसन पर बैठने का उचित विवेक नही है, वह पापश्रमण कहलाता है ।

१४ ससरक्खपाए सुवई
सेज्ज न पडिलेहइ ।
सथारए अणाउत्ते ।
त्ति वुच्चई ।।

जो रज (सचित्त धूल) से लिप्त पैरो से सो जाता है, जो शय्या का प्रमार्जन नही करता है, सस्तारक—बिछौने के विषय मे असावधान होता है, वह पापश्रमण कहलाता है ।

१५ -दहीविगईओ
आहारेइ अ ण ।
अरए य तवोकम्मे
पावसमणे त्ति वुच्चई ।।

जो दूध, दही आदि विकृतियाँ बार-बार खाता है, जो तप-क्रिया मे रुचि नही रखता है, वह पापश्रमण कहलाता है ।

१६ म्मि य सूरम्मि आहारेइ अभिक्खणं । चोइओ पडिचोएइ त्ति वुच्चई ॥	जो सूर्योदय से लेकर सूर्यास्त तक बार-बार रहता है, जो समझाने पर है—अर्थात् शिक्षक गुरु को ही उपदेश झाडने लगता है, वह पाप- कहलाता है ।
१७. आयरियपरिच्चाई परपासण्डसेवए । गाणंगणिए पावसमणे त्ति वुच्चई ॥	जो अपने आचार्य का परित्याग कर अन्य —मतपरम्परा को स्वीकार करता है, जो गाणगणिक होता है—अर्थात् छह मास की अल्प अवधि मे ही एक गण से दूसरे गण मे करता है, वह दुर्भूत—निन्दित पापश्रमण कहलाता है ।
१८ सयं गेहं परिचज्ज परगेहंसि वावडे । निमित्तेण य ववहरई मणे त्ति वुच्चई ॥	जो अपने घर (गृहकार्य) को छोडकर परघर मे व्यापृत होता है—दूसरो की घर गृहस्थी के धन्धो मे लग जाता है, जो शुभाशुभ बतलाकर द्रव्यादिक उपार्जन करता है, वह पापश्रमण कहलाता है ।
१९ सन्नाइपिण्डं जेमेइ नेच्छई सामुदाणियं । गिहिनिसेज्जं च वाहेइ त्ति वुच्चई ॥	जो अपने ज्ञातिजनो से—पूर्व परिचित स्वजनो से आहार ग्रहण करता है, सभी घरो से सामुदायिक भिक्षा नही चाहता है, गृहस्थ की पर बैठता है, वह पाप-श्रमण कहलाता है ।
२० एयारिसे पंचकुसीलसंवुडे रूवंधरे मुणिपवराण हेट्ठिमे । अयंसि लोए विसमेव गरहिए न से मेव प लोए ॥	जो इस प्रकार आचरण करता है, वह पार्श्वस्थादि पाँच कुशील भिक्षुओ के समान असवृत है, केवल मुनिवेष का ही धारक है, श्रेष्ठ मुनियो मे निकृष्ट है । वह इस लोक मे विषकी तरह निन्दनीय होता है, अत न वह इस लोक का रहता है, न परलोक का ।

२१. जे वज्जए उ से व्रए होइ मुणीण मज्झे। अयंसि लोए अमयं व पूइए आराहए लोगमिणं तहावरं ॥	जो साधु इन दोषो को सदा दूर करता है, वह मुनियो मे सुव्रत होता है। वह इस लोक मे अमृत की तरह पूजा जाता है। अत वह इस लोक तथा परलोक दोनो ही लोको की आराधना करता है।
—त्ति बेमि।	—ऐसा मैं कहता हूँ।

१८

ीय

तुम चाहते हो, तो
दूसरो को भी दो।

कापिल्य नगर का राजा सजय एक बार शिकार खेलने के लिए जगल मे गया था। साथ मे सेना भी थी। सेना ने जगल के हिरणो को केशर उद्यान की ओर खदेडा और राजा ने एक-एक करके त्रस्त हिरणो को वाणो से बीधना शुरू किया। घायल हिरण इधर-उधर दौड-भाग रहे थे, मर रहे थे, भूमि पर गिर रहे थे और राजा घोडे पर उनका पीछा कर रहा था। दूर जाकर कुछ मृत हिरणो के पास ही राजा ने, लतामण्डप मे, एक मुनि को ध्यान मे बैठे हुए देखा। राजा ने सोचा कि हो न हो, ये हिरण मुनि के है। मैने मुनि के हिरण मार डाले है, अनर्थ हो गया। मुनि क्रुद्ध हो गए तो लाखो-करोडो व्यक्तियो को एक क्षण मे जला कर भस्म कर देंगे।

राजा इतना भयभीत हुआ कि कुछ पूछो नही। वह घोडे से उतरा, मुनि के पास गया, और अत्यन्त नम्रता के साथ मुनि से अपने अपराध के लिए क्षमा माँगने लगा।

मुनि गर्दभालि ने ध्यान खोलकर राजा से कहा—"राजन ! मेरी ओर से तुम्हे अभय है। पर, तुम भी तो दूसरो को अभय देने वाले बनो। जिनके लिए तुम यह अनर्थ कर रहो, वे स्वजन एव परिजन कोई भी तुम्हे बचा नही सकेंगे।"

गर्दभालि मुनि के उपदेश से राजा सजय मुनि बन गया और साधना मे लग गया।

एक बार एक क्षत्रिय मुनि ने को पूछा—"तुम कौन हो ? तुम्हारे आचार्य कौन है ?" मुनि ने अपना सक्षिप्त-सा परिचय दिया। अनन्तर क्षत्रिय मुनि ने सजय मुनि को समझाया कि "एकान्तवाद अहेतुवाद है। वह मोक्ष का मार्ग नही है। समझदार एकान्तवाद को नही मानते है। मैं भगवान् महावीर के प्ररूपित जिन-शासन को समझता हूँ। और इसी प्रकार भरत आदि चक्रवर्तियो ने तथा दशार्णभद्र, नमि, करकण्डु, नग्गति, उद्रायण, काशीराज, विजय, महाबल आदि राजाओ ने जिनशासन की विशेषताओ को देखकर उसे स्वीकार किया और आत्म-कल्याण किया।"

प्रस्तुत अध्ययन मे राजर्षि सजय को क्षत्रिय मुनि के द्वारा दिया हुआ उपदेश विस्तार से वर्णित है। जैन इतिहास की पुरातन गाथाओ पर भी व्यापक डाला गया है। गर्द भालि अनगार ने सजय राजा को जो उपदेश दिया है, वह तो आज भी इतना प्रेरक है कि मानव के अन्दर की बन्द आँखे खोल देता है। यह वह शाश्वत सत्य है, जो कभी धूमिल नही होता।

अट्ठारसमं अज्झयणं : अठारहवाँ अध्ययन

संजइज्जं : संजयीय

मूल

हिन्दी अनुवाद

१ कम्पिल्ले नयरे राया
उदिण्णबल - वाहणे ।
नामेण सजए
मिगव्वं उवणिग्गए ॥

काम्पिल्य नगर मे सेना और वाहन से सुसपन्न 'सजय' नाम का राजा था । एक दिन वह मृगव्या—अर्थात् मृगया—शिकार के लिए निकला ।

२ हयाणीए गयाणीए
रहाणीए तहेव य ।
पायत्ताणीए महया
सव्वओ परिवारिए ॥

वह राजा सब ओर से विशाल - सेना, गजसेना, रथसेना तथा पदाति सेना से परिवृत था ।

३ मिए छुभित्ता हयगओ
कम्पिल्लुज्जाणकेसरे ।
भीए सन्ते मिए
वहेइ रसमुच्छिए ॥

राजा पर आरूढ था । वह रस-मूर्च्छित होकर काम्पिल्य नगर के केशर उद्यान की ओर अकेले गए भयभीत एव श्रान्त हिरणो को मार रहा था ।

४ अह केसरम्मि उज्जाणे
अणगारे तवोधणे ।
-ज्झाणसजुत्ते
झियायई ॥

उस केशर उद्यान मे एक तपोधन अनगार स्वाध्याय एव ध्यान मे लीन थे, धर्मध्यान की एकाग्रता साध रहे थे ।

५ अप्फोवमण्डवम्मि
झायई झवियासवे ।
तस्सागए मिए
वहेई से नराहिवे ॥

आश्रव का—कर्मबन्ध के रागादि हेतुओ का क्षय करने वाले अनगार अप्फोवमण्डप—लतामण्डप मे कर रहे थे । उनके समीप आए हिरणो का राजा ने वध कर दिया ।

६ अह आसगओ राया
खिप्पमागम्म सो तहिं ।
हए मिए उ पासित्ता
अणगारं तत्थ पासई ॥

द राजा शीघ्र वहाँ आया, जहाँ मुनि ध्यानस्थ थे । मृत हिरणो को देखने के बाद उसने वहाँ एक ओर अनगार को भी देखा ।

७ अह राया समन्तो
अणगारो मणाऽऽहओ ।
मए उ मन्दपुण्णेण
रसगिद्धेण घन्तुणा ॥

राजा मुनि को देखकर सहमा भय-भीत हो गया । उसने सोचा—"मैं कितना मन्दपुण्य—भाग्यहीन, एव हिंसक वृत्ति का हूँ कि मैंने व्यर्थ ही मुनि को आहत किया है ।"

८ विसज्जइत्ताणं
सो निवो ।
विणएण वन्दए पाए
। मे ॥

घोडे को छोडकर उम राजा ने विनय-पूर्वक अनगार के चरणो को वन्दन किया और कहा कि—"भगवन् ! इस अपराध के लिए मुझे क्षमा करे ।"

९ अह मोणेण सो
अणगारे झाणमस्सिए ।
रायाणं न पडिमन्तेइ
तओ भयदुओ ॥

वे अनगार भगवान मौनपूर्वक ध्यान मे लीन थे । उन्होने राजा को भी प्रत्युत्तर नही दिया, अत राजा और अधिक भयद्रुत— भयाक्रान्त हुआ ।

राजा—

१० सजओ अहमस्सीति
! वाहराहि मे ।
तेएण अणगारे
डहेज्ज नरकोडिओ ॥

—"भगवन् ! मैं सजय हूँ । आप मुझ से कुछ तो बोलें । मैं जानता हूँ— क्रुद्ध अनगार अपने तेज से करोडो मनुष्यो को जला डालते है ।"

अनगार—

११ अभओ पत्थिवा ! तुब्भं
भवाहि य ।
अणिच्चे जीवलोगम्मि
किं हिंसाए पसज्जसि ?

—"पार्थिव ! तुझे अभय है । पर, तू भी वन । इस अनित्य जीव-लोक मे तू क्यो हिंसा मे है ?"

१२ परिच्चज्ज
गन्त ते ।
अणिच्चे जीवलोगम्मि
कि रज्जम्मि पसज्जसि ?

—"सब कुछ छोडकर जब तुझे यहाँ से अवश्य लाचार होकर चले जाना है, तो इस अनित्य जीवलोक मे तू क्यो राज्य मे आसक्त हो रहा है ?"

१३ जीविय चेव च
विज्जु - ल ।
जत्थ त मुज्झसी ।
पेच्चत्थ नावबुज्झसे ।।

—"राजन् ! तू जिसमे मोहमुग्ध है, वह जीवन और सौन्दर्य बिजली की चमक की तरह चचल है । तू अपने परलोक के हित को नही समझ रहा है ।"

१४ दाराणि य सुया चेव
मित्ता य तह • ।
जीवन्तमणुजीवन्ति
मय नाणुव्वयन्ति य ।।

"स्त्रिया, पुत्र, मित्र तथा बन्धुजन जीवित व्यक्ति के साथ ही जीते हैं । कोई भी मृत व्यक्ति के पीछे नही जाता है—अर्थात् मरे के साथ कोई नही मरता है ।"

१५ नीहरन्ति मय पुत्ता
पियर परमदुक्खिया ।
पियरो वि तहा पुत्ते
बन्धू राय ! तव चरे ।।

—"अत्यन्त दु ख के साथ पुत्र अपने मृत पिता को घर से बाहर श्मशान मे निकाल देते है । उसी प्रकार पुत्र को पिता और बन्धु को अन्य बन्धु भी बाहर निकालते है । अत राजन् ! तू तप का आचरण कर ।"

१६ तओ तेणऽज्जिए दव्वे
दारे य परिरक्खिए ।
कीलन्तऽन्ने नरा राय !
-तुट्ठ-मलकिया ।।

—"मृत्यु के बाद उस मृत व्यक्ति के द्वारा अर्जित धन का तथा सुरक्षित स्त्रियो का हृष्ट, तुष्ट एव अलकृत होकर अन्य लोग उपभोग करते हैं ।"

१७ तेणावि ज कय
सुह वा जइ वा ।
कम्म तेण सजुत्तो
गच्छई उ पर भव ।।

—"जो सुख अथवा दु ख के कर्म जिस व्यक्ति ने किए है, वह अपने उन कर्मों के साथ परभव मे जाता है ।"

१८ सोऊण तस्स सो
अणगा अन्तिए ।
महया सवेगनिव्वेय
समावन्नो नराहिवो ।।

अनगार के पास से महान् धर्म को सुनकर, राजा मोक्ष का अभिलाषी और ससार से विमुख हो गया ।

१९ ा
निक्खन्तो जिणसासणे ।
गद्दभालिस्स भगवओ
स अन्तिए ॥

को छोडकर वह सजय राजा भगवान् गर्दभालि अनगार के समीप जिन-मे दीक्षित हो गया ।

२० चिच्चा रट्ठं पव्वइए
खत्तिए परिभासइ ।
जहा ते दीसई
प ते । मणो ॥

राष्ट्र को छोडकर प्रव्रजित हुए क्षत्रिय मुनि ने एक दिन सजय मुनि को कहा—"तुम्हारा यह रूप (वाह्य आकार) जैसे प्रसन्न (निर्विकार) है, लगता है—वैसे ही तुम्हारा अन्तर्मन भी प्रसन्न है ।"

क्षत्रिय मुनि—

२१ किंनामे ? किंगोत्ते ?
कस्सट्ठाए व माहणे ?
कह पडियरसी बुद्धे ?
कह विणीए त्ति वुच्चसि ?

"तुम्हारा नाम क्या है ? तुम्हारा गोत्र क्या है ? किस प्रयोजन से तुम महान् मुनि बने हो ? किन प्रकार आचार्यों की सेवा करते हो ? किस प्रकार विनीत कहलाते हो ?

सजय मुनि—

२२ सजओ नामेण
तहा गोत्तेण गोयमो ।
गद्दभाली रिया
विज्जाचरण ॥

—"मेरा नाम है । मेरा गोत्र गौतम है । विद्या और चरण के पारगामी 'गर्दभालि' मेरे आचार्य है ।"

क्षत्रिय मुनि—

२३ किरियं अकिरियं विणय
च महामुणी !
एएहिं चउहिं ठाणेहिं
मेयन्ने पभासई ॥

—"हे महामुने ! क्रिया, अक्रिया, विनय और —इन चार स्थानो के एकान्तवादी मेयज्ञ अर्थात् तत्त्ववेत्ता की करते हैं ।"

२४ पाउकरे बुद्धे
नायए परिनिव्वुडे ।
विज्जा—चरणसंपन्ने
सच्चे सच्चपरक्कमे ॥

—"बुद्ध—तत्त्ववेत्ता, परिनिर्वृत—, विद्या और से सपन्न, सत्यवाक् और सत्यपराक्रमी ज्ञातवशीय भगवान् महावीर ने ऐसा किया है ।"

२५. पडन्ति नरए घोरे
जे नरा पावकारिणो ।
दिव्व च गच्छन्ति
चरित्ता धम्ममारिय ।

—"जो मनुष्य पाप करते हैं, वे घोर नरक मे जाते है। और जो आर्यधर्म का आचरण करते है, वे दिव्य गति को करते है।"

२६ वुइयमेय तु
मु निरत्थिया
सजममाणो वि अह
वसामि इरियामि य ॥

"—यह क्रियावादी आदि एकान्तवादियो का सब कथन मायापूर्वक है, अतः मिथ्या वचन है, निरर्थक है। मैं इन मायापूर्ण वचनो से बचकर रहता हूँ, बचकर हूँ।"

२७. सव्वे ते विइया
मिच्छाविट्ठी अणारिया ।
विज्जमाणे परे लोए
जाणामि ग ॥

—"वे सब मेरे जाने हुए है, जो मिथ्यादृष्टि और अनार्य है। मैं परलोक मे रहे हुए अपने को अच्छी तरह से हूँ।"

२८ अहमासी महापाणे
म वरिससओवमे ।
जा सा पाली महापाली
दिव्वा वरिससओवमा ॥

—"मैं पहले महाप्राण विमान मे वर्ष शतोपम आयु द्युतिमान् देव था। जैसे कि यहाँ सौ वर्ष की आयु पूर्ण मानी जाती है, वैसे ही वहाँ पाली—पल्योपम एव महापाली—सागरोपम की दिव्य आयु पूर्ण है।"

२९ से बम्भलोगाओ
गए ।
अप्पणो य परेसिं च
जाणे ॥

—"ब्रह्मलोक का आयुष्य पूर्ण करके मैं मनुष्य भव मे हूँ। मैं जैसे अपनी आयु को हूँ, वैसे ही दूसरो की आयु को भी जानता हूँ।"

३० नाणारुइ च ं च
परिवज्जेज्ज सजए ।
अणट्ठा जे य
इइ विज्जामणुसचरे ॥

—"नाना प्रकार की रुचि और छन्दो का—अर्थात् मन के विकल्पो का, तथा सब के अनर्थक व्यापारो का मुनि को सर्वत्र परित्याग करना चाहिए। इस विद्या का कर पर सचरण करे।"

३१. पडिक्क मि पसिणाण
परमन्तेहिं वा पुणो।
अहो उट्ठिए अहोराय
विज्जा चरे॥

—"मैं शुभाशुभसूचक प्रश्नो से और गृहस्थो की मन्त्रणाओ से दूर रहता हूँ। अहो! मैं दिन-रात धर्माचरण के लिए रहता हूँ। यह जानकर तुम भी तप का आचरण करो।"

३२ ज च मे पुच्छसी काले
ण चे ।
ताइ पाउकरे
त नाण जिणसासणे॥

—"जो तुम मुझे सम्यक् शुद्ध चित्त से काल के विषय मे पूछ रहे हो, उसे बुद्ध—सर्वज्ञ ने प्रकट किया है। अत वह ज्ञान जिनशासन मे विद्यमान है।"

३३ किरिय च रोयए धीरे
अकिरिय परिवज्जए।
दिट्ठीए दिट्ठिसपन्ने
चर सुदुच्चर॥

—"धीर पुरुष क्रिया मे रुचि रखे और अक्रिया का त्याग करे। सम्यक् दृष्टि से दृष्टिसपन्न होकर तुम दुश्चर धर्म का आचरण करो।"

३४ एय पुण सोच्चा
— धम्मोवसोहिय।
भरहो वि भारह वास
चेच्चा का पव्वए॥

—"अर्थ और धर्म से उपशोभित इस पुण्यपद (पवित्र उपदेश वचन) को सुनकर भरत ीं भारतवर्ष और कामभोगो का परित्याग कर प्रव्रजित हुए थे।"

३५ सगरो वि
भरहवास नराहिवो।
इस्सरिय केवल हिच्चा
दयाए परिनिव्वुडे॥

—"नराधिप सागर चक्रवर्ती सागर-पर्यन्त भारतवर्ष एव पूर्ण ऐश्वर्य को छोड कर दया—अर्थात् सयम की साधना से परिनिर्वाण को प्राप्त हुए।"

३६ भारह
वट्टी महिड्ढिओ।
पव्वज्जमब्भुवगओ
नाम महाजसो॥

—"महान् ऋद्धि-सपन्न, महान् यशस्वी चक्रवर्ती ने भारतवर्ष को छोडकर स्वीकार की।"

३७ सणकुमारो मणुि ो
चक्कवट्टी महिड्ढिओ।
पुत्त रज्जे ठविराण
सो वि तव चरे॥

— महान् ऋद्धि-सपन्न, मनुष्येन्द्र सनत्कुमार चक्रवर्ती ने पुत्र को राज्य पर स्थापित कर तप का किया।"

३८ चइत्ता भारहं
चक्कवट्टी महिड्ढिओ।
सन्ती सन्तिकरे लोए
पत्तो गइमणुत्तरं ॥

—"महान् ऋद्धि-सपन्न और लोक मे शान्ति करने वाले शान्तिनाथ चक्रवर्ती ने भारतवर्ष को छोडकर अनुत्तर गति प्राप्त की।"

३९ इक्खागरायवसभो
कुन्थू नराहिवो।
विक्खायकित्ती धिइमं
पत्तो गइमणुत्तरं ॥

—"इक्ष्वाकु कुल के राजाओ मे श्रेष्ठ नरेश्वर, विख्यातकीर्त्ति, धृतिमान् कुन्थु-नाथ ने अनुत्तर गति प्राप्त की।"

४० सागरन्तं जहित्ताण
भरहं नरवरीसरो।
अरो य अरयं पत्तो
पत्तो गइमणुत्तरं ॥

—"सागरपर्यन्त भारतवर्ष को छोड कर, कर्म-रज को दूर करके नरेश्वरो मे श्रेष्ठ 'अर' ने अनुत्तर गति प्राप्त की।"

४१. चइत्ता भारहं वासं
चक्कवट्टी नराहिओ।
चइत्ता उत्तमे भोए
महापउमे तवं चरे ॥

—"भारतवर्ष को छोडकर, उत्तम भोगो को त्यागकर 'महापद्म' चक्रवर्ती ने तप का आचरण किया।"

४२. एगच्छत्तं पसाहित्ता
महिं माणनिसूरणो।
हरिसेणो मणुस्सिन्दो
पत्तो गइमणुत्तरं ॥

—"शत्रुओ का मानमर्दन करने वाले हरिषेण चक्रवर्ती ने पृथ्वी पर एकछत्र शासन करके फिर अनुत्तर गति प्राप्त की।"

४३ अन्निओ रायसहस्सेहिं
सुपरिच्चाई दमं चरे।
जयनामो जिणक्खायं
पत्तो गइमणुत्तरं ॥

—"हजार राजाओ के साथ श्रेष्ठ त्यागी जय चक्रवर्ती ने राज्य का परि-त्याग कर जिन-भाषित दम (सयम) का आचरण किया और अनुत्तर गति प्राप्त की।"

४४ दसण्णरज्जं
चइत्ताण मुणी चरे।
दसण्णभद्दो निक्खन्तो
सक्खं सक्केण चोइओ ॥

—"साक्षात् देवेन्द्र से प्रेरित होकर दशार्ण-भद्र राजा ने अपने सब प्रकार से प्रमुदित दशार्ण राज्य को छोडकर प्रव्रज्या ली और मुनि-धर्म का आचरण किया।"

४५. नमी नमेइ
सक्केण चोइओ।
गेह वइदेही
सामण्णे पज्जुवट्ठिओ ॥

"—साक्षात् देवेन्द्र से प्रेरित होने पर भी विदेह के राजा नमि श्रामण्य धर्म मे भली-भाँति स्थिर हुए, अपने को अति विनम्र बनाया।"

४६ करकण्डू कलिंगेसु
पचालेसु य ।
नमी विदेहेसु
गन्धारेसु य नग्गई ॥

—"कलिंग मे करकण्डु, पाचाल मे द्विमुख, विदेह मे नमि राजा और गन्धार मे नग्गति—

४७ नरिन्दवसभा
निक्खन्ता जिणसासणे।
पुत्ते रज्जे ठवित्ताण
सामण्णे पज्जुवट्ठिया ॥

—"राजाओ मे वृषभ के महान् थे। इन्होने अपने-अपने पुत्र को मे स्थापित कर धर्म स्वीकार किया।"

४८ सोवीररायवसभो
चेच्चा मुणी चरे।
उद्दायणो पव्वइओ
पत्तो गइमणुत्तरं ॥

—"सौवीर राजाओ मे वृषभ के महान् उद्रायण राजा ने को छोडकर ली, मुनि-धर्म का किया और अनुत्तर गति की।"

४९ तहेव कासीराया
सेओ-सच्चपरक्कमे।
कामभोगे परिच्चज्ज
पहणे क ह ॥

—"इसी श्रेय और सत्य मे पराक्रमशील काशीराज ने काम-भोगो का परित्याग कर कर्मरूपी महावन का नाश किया।"

५० तहेव विजओ
अणट्ठाकित्ति पव्वए।
तु गुणसमिद्धं
पयहित्तु महाजसो ॥

—"इसी अमरकीर्ति, महान् यशस्वी विजय ने गुण-समृद्ध राज्य को छोडकर ली॥"

५१ तहेवुग्गं किच्चा
अव्वक्खित्तेण चेयसा।
महाबलो रायरिसी
अद्दाय सिरसा सिरं ॥

—"इसी अनाकुल चित्त से उग्र तपश्चर्या करके राजर्षि महाबल ने शिर देकर शिर प्राप्त किया—अर्थात् अहकार का विसर्जन कर सिद्धिरूप उच्च पद प्राप्त किया। सिद्धिरूप श्री की।"

५२ धीरो अहेऊहिं
उम्मत्तो व्व महिं चरे ?
विसेसमावाय
सूरा ॥

—"इन भरत आदि शूर और दृढ पराक्रमी राजाओ ने जिनशासन मे विशेषता देखकर ही उसे स्वीकार किया था। अत अहेतुवादो से प्रेरित होकर अब कोई कैसे की तरह पृथ्वी पर विचरण करे ?"

५३ अच्चन्तनियाणखमा
मे भासि वई।
अतरिंसु तरन्तेगे
तरिस्सन्ति ॥

—"मैंने यह निदानक्षम—युक्तिसगत सत्य-वाणी कही है। इसे स्वीकार कर अनेक जीव अतीत मे ससार-समुद्र से पार हुए हैं, वर्तमान मे पार हो रहे है और भविष्य मे पार होगे।"

५४ धीरे अहेऊहिं
परियावसे ?
सव्वसगविनिम्मुक्के
सिद्धे नीरए ॥

—"धीर एकान्तवादी अहेतुवादो मे अपने-आप को कैसे लगाए ? जो सभी सगो से मुक्त है, वही नीरज अर्थात् कर्मरज से रहित होकर सिद्ध होता है।"

— ।

—ऐसा मैं कहता हूं ।

१६

मृगापुत्रीय

अधिक -सुविधा और सुरक्षा भी एक परतन्त्रता है।
पशु की अपेक्षा मनुष्य इन परतन्त्रताओ मे अधि आवद्ध है।

राजकुमार 'बलश्री' सुग्रीव नगर मे रहता था। उसके पिता का नाम बलभद्र था और माता का नाम मृगावती। बलश्री को माता के नाम पर लोग 'मृगापुत्र' नाम से भी पुकारते थे।

एक बार 'मृगापुत्र' महल मे अपनी रानियो के साथ शहर का सौन्दर्य देख रहे थे। राजमार्गों पर अच्छी खासी भीड थी। स्थान-स्थान पर नृत्य हो रहे थे। लोग आ-जा रहे थे। इसी बीच राजमार्ग से जाते हुए एक प्रशान्त और तेजस्वी साधु पर मृगापुत्र की दृष्टि पडी। मृगापुत्र मन्त्रमुग्ध-सा देखता रह गया। मृगापुत्र के अन्तर मे प्रश्न उभरने लगे—"ऐसा साधु मैं पहली बार ही नही देख रहा हूं। याद आता है, इसके पहले भी मैं देख चुका हू। कहाँ देखा है ? कब देखा है ? पर देखा जरूर है। इस जन्म मे ऐसी कोई घटना याद नही आ रही है, फिर भी इन्हे देखने का स्मरण कैसे हो रहा है ?" प्रश्नो ने सुप्त स्मृति को झकझोर कर जगा दिया। बस, अब क्या था, पूर्व-जन्म की स्मृति हो आई—"मैं स्वय भी तो ऐसा ही साधु था।" पूर्व-जन्म की स्मृति के साथ साधुता का भी स्मरण हो गया। मृगापुत्र को सासारिक भोग एव परिजन सब कोई बन्धन दिखने लगे। ससार मे रहना, उसके लिए असह्य हो गया। वह अपने माता-पिता के पास गया और बोला—"मैं साधु बनना चाहता हू, मुझे आप आज्ञा दें।"

माता-पिता ने मृगापुत्र को समझाने का प्रयत्न किया कि—"साधु-जीवन बहुत दुष्कर और कठोर होता है। लोहे के जौ चबाने के समान है। तुम साधु-जीवन की कठोर चर्या सहन नही कर सकोगे। तुम सुकुमार हो।"

मृगापुत्र उत्तर मे—"पूर्व जन्म मे नरक की भयकर वेदनाएँ परतन्त्र और असहाय स्थिति मे कितनी सहन की है"—इसका उल्लेख करता है।

माता पिता और पुत्र का सवाद काफी सुन्दर एव रसप्रद है। माता पिता पुत्र को सयम से विरक्त करना चाहते हैं, जबकि पुत्र ससार से विरक्ति का समर्थन करता है। अन्त मे नरक की वेदनाओ को सुनकर माता-पिता स्वीकृति के लिए कुछ-कुछ तैयार होते है। फिर भी पुत्र के प्रति ममत्त्व के कारण वे कहते हैं—"पुत्र! साधुजीवन असग जीवन है। वहाँ कौन तुम्हारा ध्यान रखेगा? बीमार होने पर कौन तुम्हारी चिकित्सा करेगा?"

मृगापुत्र कहता है—"जगल मे मृग रहते है। जब वे बीमार हो जाते है, तो उनकी देखभाल कौन करता है? जिस प्रकार वन के मृग किसी भी प्रकार की व्यवस्था के बिना स्वतन्त्र जीवन यापन करते है, उसी प्रकार मैं भी रहूगा। मेरी जीवन यात्रा मृगचर्यारूप रहेगी।"

मृगापुत्र के दृढ सकल्प को माता-पिता तोड नही सके। अन्त मे उन्होने दीक्षा की अनुमति दे दी।

मृगापुत्र मुनि बने और परम साधना के पश्चात् अन्त मे उन्होने सिद्धि प्राप्त की।

एगूणविंस : एकोनविंश अध्ययन

मियापुत्ति : मृगापुत्रीय

१ सुग्गीवे नयरे रम्मे
काणणुज्जाणसोहिए ।
बलभद्दे त्ति
मिया तस्सऽग्गमाहिसी ॥

कानन और से सुशोभित 'सुग्रीव' नामक सुरम्य नगर मे राजा था। मृगा, उसकी अग्रमहिषी—पटरानी थी।

२ तेसिं पुत्ते बलसिरी
मियापुत्ते त्ति विस्सुए ।
अम्मापिऊण दइए
जुवराया दमीसरे ॥

उनके ' ी' नाम का पुत्र था, जो कि 'मृगापुत्र' के नाम से प्रसिद्ध था। वह माता-पिता को प्रिय था। युवराज था और दमीश्वर था अर्थात् शत्रुओ को दमन करने वालो मे प्रमुख था।

३ नन्दणे सो उ पासाए
कीलए इत्थिहिं ।
देवो दोगुन्दगो चेव
निच्चं मुइयमाणसो ॥

वह प्रसन्न-चित्त से सदा नन्दन मे—आनन्दप्रद राजमहल मे दोगुन्दग देवो की तरह स्त्रियो के साथ क्रीडा था।

४ मणिरयणकुट्टिमतले
पासायालोयणट्ठिओ ।
आलोएइ नगरस्स
—तिय—चच्चरे ॥

एक दिन मृगापुत्र मणि और रत्नो से जडित कुट्टिमतल (फर्श) वाले के मे खडा था। नगर के चौराहो, तिराहो और चौहट्टो को देख रहा था।

५ अह
पासई जयं ।
तव—नियम—
सीलड्ढं गु ॥

मृगापुत्र ने वहाँ राजपथ पर जाते हुए तप, नियम एव सयम के , शील से समृद्ध, तथा गुणो के आकार (खान) एक को देखा।

माता-पिता ने मृगापुत्र को समझाने का प्रयत्न किया कि—"साधु-जीवन बहुत दुष्कर और कठोर होता है। लोहे के जौ चबाने के समान है। तुम साधु-जीवन की कठोर चर्या सहन नही कर सकोगे। तुम सुकुमार हो।"

मृगापुत्र उत्तर मे—"पूर्व जन्म मे नरक की भयकर वेदनाएँ परतन्त्र और असहाय स्थिति मे कितनी सहन की है"—इसका उल्लेख करता है।

माता पिता और पुत्र का सवाद काफी सुन्दर एव रसप्रद है। माता पिता पुत्र को सयम से विरक्त करना चाहते है, जबकि पुत्र ससार से विरक्ति का समर्थन करता है। अन्त मे नरक की वेदनाओ को सुनकर माता-पिता स्वीकृति के लिए कुछ-कुछ तैयार होते है। फिर भी पुत्र के प्रति ममत्त्व के कारण वे कहते है—"पुत्र! साधुजीवन असग जीवन है। वहाँ कौन तुम्हारा ध्यान रखेगा? बीमार होने पर कौन तुम्हारी चिकित्सा करेगा?"

मृगापुत्र कहता है—"जगल मे मृग रहते है। जब वे बीमार हो जाते है, तो उनकी देखभाल कौन करता है? जिस प्रकार वन के मृग किसी भी प्रकार की व्यवस्था के बिना स्वतन्त्र जीवन यापन करते है, उसी प्रकार मैं भी रहूँगा। मेरी जीवन यात्रा मृगचर्यारूप रहेगी।"

मृगापुत्र के दृढ सकल्प को माता-पिता तोड नही सके। अन्त मे उन्होंने दीक्षा की अनुमति दे दी।

मृगापुत्र मुनि बने और परम साधना के पश्चात् अन्त मे उन्होने सिद्धि प्राप्त की।

एगूणविंसइमं : एकोनविंश अध्ययन

मियापुि : ीय

१ सुग्गीवे नयरे रम्मे
णुज्जाणसोहिए ।
राया बलभद्दे त्ति
मिया तस्सऽग्गमाहिसो ॥

कानन और से सुशोभित 'सुग्रीव' नामक सुरम्य नगर मे राजा था। मृगा, उसकी अग्रमहिषी—पटरानी थी।

२ तेसिं पुत्ते बलसिरी
मियापुत्ते त्ति विस्सुए ।
अम्मापिऊण दइए
जुवराया दमीसरे ॥

उनके 'बलश्री' नाम का पुत्र था, जो कि 'मृगापुत्र' के नाम से प्रसिद्ध था। वह माता-पिता को प्रिय था। युवराज था और दमीश्वर था अर्थात् शत्रुओ को दमन करने वालो मे प्रमुख था।

३ णे सो उ पासाए
कीलए सह इत्थिहिं ।
देवो दोगुन्दगो चेव
निच्चं मुइयमाणसो ॥

वह प्रसन्न-चित्त से सदा नन्दन मे—आनन्दप्रद राजमहल मे दोगुन्दग देवो की तरह स्त्रियो के साथ क्रीडा था।

४ मणिरयणकुट्टिमतले
पा ालोयणट्ठिओ ।
आलोएइ स्स
—तिय—चच्चरे ॥

एक दिन मृगापुत्र मणि और रत्नो से जडित कुट्टिमतल (फर्श) वाले के मे खडा था। नगर के चौराहो, तिराहो और चौहट्टो को देख रहा था।

५ अह अइच्छन्त
पासई ।
तव—नियम—
सीलड्ढं गुणआगर ॥

मृगापुत्र ने वहाँ राजपथ पर जाते हुए तप, नियम एव के , शील से समृद्ध, तथा गुणो के (खान) एक को देखा।

६ त देहई मियापुत्ते दिट्ठीए अणिमिसाए उ। कहिं `रिस रूव दिट्ठपुव्व मए पुरा॥	मृगापुत्र उस मुनि को अनिमेष— दृष्टि से देखता है और सोचता है—"मैं मानता हूँ कि ऐसा रूप मैंने इसके पूर्व भी कही देखा है।"
७. माहुस्स दरिसणे अज्ञ णमि सोहणे। मोहं गयस्स स्स जाईसरण समुप्पन्न॥	साधु के दर्शन तथा तदनन्तर पवित्र के होने पर, 'मैंने ऐसा कही देखा है'—इस प्रकार ऊहापोह रूप मोह को प्राप्त मृगापुत्र को जाति-स्मरण हुआ।
८ देवलोग-चुओ सतो माणुस्स भवमागओ। सन्निनाणे समुप्पण्णे जाइ य॥	सज्ञिज्ञान अर्थात् ज्ञान होने पर वह पूर्व-जाति को स्मरण करता है—"देवलोक से च्युत होकर मैं मनुष्य-भव मे आया हूँ।"
९ ` समुप्पन्ने मियापुत्ते महिड्ढिए। सरई पोराणिय ण्ण च पुराकय॥	जाति-स्मरण होने पर महर्द्धिक मृगापुत्र अपनी पूर्व-जाति और पूर्वाचरित श्रामण्य को स्मरण करता है।
१०. विसएहिं अरज्जन्तो न्तो सजमम्मि य। अम्मापियर उवा इम वयणमब्बवी॥	विषयो से विरक्त और सयम मे अनुरक्त मृगापुत्र ने माता-पिता के समीप इस कहा— मृगापुत्र—
११. सुयाणि मे पच महव्वयाणि नरएसु च तिरिक्खजोणिसु। निव्विण्ण ामो मि महण्णवाओ णह पव्वइस्सामि अम्मो!॥	—"मैंने पच महाव्रतो को सुना है। सुना है नरक और तिर्यंच योनि मे दु ख है। मैं ससाररूप महासागर से निर्विण्ण—काम-विरक्त हो गया हूँ। मैं प्रव्रज्या ग्रहण करूँगा। माता! मुझे अनुमति दीजिए।"
१२ ! मए भोगा भुत्ता विसफलो । कडुयवि अणुबन्ध — हा॥	—'माता-पिता! मैं भोगो को भोग चुका हूँ, वे विषफल के समान अन्त मे कटु विपाक वाले और निरन्तर दु ख देने वाले है।"

१३ सरीरं अणिच्चं
असुइ असुइस ।
ासमिण
दुक्ख-के ॥

—"यह शरीर अनित्य है, अपवित्र है, अशुचि से पैदा हुआ है, यहां का आवास है तथा दुख और क्लेश का स्थान है।"

१४ असासए सरीरम्मि
रइ नोवलभामहं ।
पच्छा पुरा व चइयव्वे
फेणबुब्बुय — सन्निभे ॥

"—इसे पहले या बाद में, कभी छोडना ही है। यह पानी के बुलबुले के अनित्य है। अत इस शरीर मे मुझे आनन्द नही मिल पा रहा है।"

१५ माणुसत्ते असारम्मि
वाही—रोगाण आलए ।
—मरणघत्थम्मि
पि न रमामऽहं ॥

—"व्याधि और रोगो के घर तथा जरा और मरण से ग्रस्त इस असार मनुष्य-शरीर मे एक क्षण भी मुझे सुख नही मिल रहा है।"

१६ दुक्ख
रोगा य मरणाणि य ।
अहो ो हु ससारो
कीसन्ति जन्तवो ॥

—"जन्म दुख है। जरा दुख है। रोग दुख है। मरण दुख है। अहो! यह ससार ही दु है, जहां जीव क्लेश पाते है।"

१७ खेत्तं वत्थु हिरण्णं च
पुत्त— च ब॰ ।
इमं देह
मे ॥

—"क्षेत्र—जगल की भूमि, वास्तु—घर, हिरण्य—सोना, पुत्र, स्त्री, बन्धु-जन और इस शरीर को छोडकर एक दिन विवश होकर मुझे चले है।"

१८ जहा किम्पाग
परिणामो न सुन्दरो ।
एव भुत्ताण भो
परिणामो न सुन्दरो ॥

—"जिस विष-रूप किम्पाक फलो का अन्तिम परिणाम सुन्दर नही होता है, उसी भोगे हुए भोगो का परिणाम भी सुन्दर नही होता।"

१९ अद्धाणं जो महन्तं तु
अपाहेओ पवज्जई ।
गच्छन्तो सो दुही होई
छुहा-तण्हाए पीडिओ ॥

—"जो व्यक्ति पाथेय (पथ का) लिए बिना लम्बे मार्ग पर चल देता है, वह चलते हुए भूख और प्यास से पीडित होता है।"

२०. धम्म
जो पर ।
गच्छन्तो सो दुही होइ
वाहीरोगेहिं पोडिओ ।।

—"इसी जो व्यक्ति धर्म किए बिना परभव मे जाता है, वह जाते हुए व्याधि और रोगो से पीडित होता है, दु खी होता है।"

२१ अद्धाण जो महन्त तु
सपाहेओ पवज्जई ।
गच्छन्तो सो सुही होइ
—तण्हाविवज्जिओ ।।

—"जो व्यक्ति पाथेय साथ मे लेकर लम्बे मार्ग पर है, वह चलते हुए भूख और प्यास के दु ख से रहित सुखी होता है।"

२२ एव धम्म पि ण
जो गच्छइ पर भव।
गच्छन्तो सो सुही होइ
अप्पकम्मे अवेयणे ।।

"—इसी प्रकार जो व्यक्ति धर्म करके परभव मे जाता है, वह अल्पकर्मा जाते हुए वेदना से रहित सुखी होता है।"

२३. जहा गेहे पलित्तम्मि
गेहस्स जो पहू ।
सारभण्डाणि नीणेइ
।।

—"जिस प्रकार घर को आग लगने पर गृहस्वामी मूल्यवान् सार वस्तुओ को निकालता है और मूल्यहीन वस्तुओ को छोड देता है"—

२४. लोए पलित्तम्मि
जराए मरणेण य।
तारइस्सामि
ेहिं अणुमन्निओ ।।

—"उसी आपकी अनुमति पाकर जरा और मरण से जलते हुए इस लोक मे से सारभूत अपनी को बाहर निकालूँगा।"

माता-पिता—

२५ त बित्त ऽम्मापियरो
पुत्त! दुच्चर ।
गु तु सहस्साइ
धारेयव्वाइ भिक्खुणो ।।

—माता-पिता ने उसे कहा—"पुत्र! श्रामण्य—मुनिचर्या अत्यन्त दुष्कर है। भिक्षु को हजारो गुण अर्थात् नियमोप-नियम धारण करने होते है।"

२६ सव्वभूएसु
सत्तु मित्तेसु वा जगे।
पाणाइवायविरई
ज्जीवाए दुक्कर ।।

—"भिक्षु को जगत् मे श त्रु और मित्र के प्रति, यहाँ तक कि सभी जीवो के प्रति होता है। जीवन-पर्यन्त प्राणातिपात से निवृत्त होना भी दुष्कर है।"

२७. निच्चकालऽप्पमत्तेणं
    मुसावायविवज्जणं ।
    भासियव्वं हियं सच्चं
    निच्चाउत्तेण दुक्करं ॥

—"सदा अप्रमत्त भाव से मृषावाद का त्याग करना, हर क्षण सावधान रहते हुए हितकारी सत्य बोलना—बहुत कठिन होता है।"

२८. दन्तसोहणमाइस्स
    अदत्तस्स विवज्जणं ।
    अणवज्जेसणिज्जस्स
    गेण्हणा अवि दुक्करं ॥

—"दन्तशोधन—दतौन आदि भी बिना दिए न लेना और प्रदत्त वस्तु भी अनवद्य (निर्दोष) और एषणीय ही लेना अत्यन्त दुष्कर है।"

२९. विरई अबम्भचेरस्स
    कामभोगरसन्नुणा ।
    उग्गं महव्वयं बम्भं
    धारेयव्वं सुदुक्करं ॥

—"काम-भोगों के रस से परिचित व्यक्ति के लिए अब्रह्मचर्य से विरक्ति और उग्र महाव्रत ब्रह्मचर्य का धारण करना बहुत दुष्कर है।"

३०. धण-धन्न-पेसवग्गेसु
    परिग्गहविवज्जणं ।
    सव्वारम्भपरिच्चाओ
    निम्ममत्तं सुदुक्करं ॥

—"धन-धान्य, प्रेष्यवर्ग—दास-दासी आदि परिग्रह का त्याग तथा सब प्रकार के आरम्भ और ममत्व का त्याग करना बहुत दुष्कर होता है।"

३१. चउव्विहे वि आहारे
    राईभोयणवज्जणा ।
    सन्निहीसंचओ चेव
    वज्जेयव्वो सुदुक्करो ॥

"—अशन-पानादि चतुर्विध आहार का रात्रि मे त्याग करना और काल-मर्यादा से बाहर घृतादि सनिधि का सचय न करना अत्यन्त दुष्कर है।"

३२. छुहा तण्हा य सीउण्हं
    दंसमसगवेयणा ।
    अक्कोसा दुक्खसेज्जा य
    तणफासा जल्लमेव य ॥

—"भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी, डास और मच्छरो का कष्ट, आक्रोश वचन, दुःख-शय्या—कष्टप्रद स्थान, तृणस्पर्श तथा मैल—"

३३. तालणा तज्जणा चेव
    वह-बन्धपरीसहा ।
    दुक्खं भिक्खायरिया
    जायणा य अलाभया ॥

—"ताडना, तर्जना, वध और बन्धन, भिक्षा-चर्या, याचना और अलाभ—इन परीषहो को सहन करना दुष्कर है।"

२०. धम्म
जो पर ।
गच्छन्तो सो ी होइ
वाहीरोगेहिं पीडिओ ।।

—"इसी जो व्यक्ति धर्म किए बिना परभव मे जाता है, वह जाते हुए व्याधि और रोगो से पीडित होता है, दु खी होता है ।"

२१ अद्धाण जो न्त तु
सपाहेओ पवज्जई ।
गच्छन्तो सो सुही होइ
—तण्हाविवज्जिओ ।।

—"जो व्यक्ति पाथेय साथ मे लेकर लम्बे मार्ग पर चलता है, वह चलते हुए भूख और प्यास के दु ख से रहित सुखी होता है ।"

२२ एव धम्म पि ण
जो पर भव ।
गच्छन्तो सो सुही होइ
अप्पकम्मे अवेयणे ।।

"—इसी प्रकार जो व्यक्ति धर्म करके परभव मे जाता है, वह अल्पकर्मा जाते हुए वेदना से रहित सुखी होता है ।"

२३ जहा गेहे पलित्त
गेहस्स जो पहू ।
सारभण्डाणि नीणेइ
।।

—"जिस प्रकार घर को आग लगने पर गृहस्वामी मूल्यवान् सार वस्तुओ को निकालता है और मूल्यहीन वस्तुओ को छोड देता है"—

२४. एव लोए पलित्तम्मि
जराए मरणेण य ।
तारइस्सामि
ेहिं अणुमन्निओ ।।

—"उसी प्रकार आपकी अनुमति पाकर जरा और मरण से जलते हुए इस लोक मे से सारभूत अपनी आत्मा को बाहर निकालूँगा ।"

माता-पिता—

२५ त बिंत ऽम्मापियरो
सा पुत्त ! दुच्चर ।
गु तु सहस्साइ
धारेयव्वाइ भिक्खुणो ।।

—माता-पिता ने उसे कहा—"पुत्र ! —मुनिचर्या अत्यन्त दुष्कर है । भिक्षु को हजारो गुण अर्थात् नियमोप-नियम करने होते है ।"

२६. सव्वभूएसु
सत्तु मित्तेसु वा जगे ।
पाणाइवायविरई
वाए दुक्कर ।।

—"भिक्षु को जगत् मे शत्रु और मित्र के प्रति, यहाँ तक कि सभी जीवो के प्रति होता है । जीवन-पर्यन्त प्राणातिपात से निवृत्त होना भी दुष्कर है ।"

२७. निच्चका ण
  यविवज्जण ।
भासियव्वं हियं सच्चं
नि ण दुक्करं ॥

—"सदा अप्रमत्त भाव से मृषावाद का त्याग करना, हर क्षण सावधान रहते हुए हितकारी सत्य बोलना—बहुत कठिन होता है।"

२८ -सोहणम
  विवज्जणं ।
अणवज्जेसणिज्जस्स
गेण्हणा अवि दु ॥

—"दन्तशोधन—दतौन आदि भी बिना दिए न लेना और प्रदत्त वस्तु भी (निर्दोष) और एषणीय ही लेना दुष्कर है।"

२९ विरई अबम्भचेरस्स
कामभोगरसन्नुणा ।
महव्वयं
धारेयव्वं सुदुक्करं ॥

—"काम-भोगों के रस से परिचित व्यक्ति के लिए अब्रह्मचर्य से विरक्ति और उग्र महाव्रत ब्रह्मचर्य का धारण करना बहुत दुष्कर है।"

३०. धण- -पेसवग्गेसु
परिग्गहविवज्जणं ।
सव्वारम्भपरिच्चाओ
निम्ममत्तं सुदुक्करं ॥

—"धन-धान्य, प्रेष्यवर्ग—दास-दासी आदि परिग्रह का त्याग तथा सब प्रकार के आरम्भ और ममत्व का त्याग बहुत दुष्कर होता है।"

३१. चउव्विहे वि आहारे
राईभोयणवज्जणा ।
सन्निहीसचओ चेव
वज्जेयव्वो रो ॥

"—अशन-पानादि चतुर्विध आहार का रात्रि मे त्याग करना और काल-मर्यादा से बाहर घृतादि सनिधि का न करना अत्यन्त दुष्कर है।"

३२ छुहा तण्हा य सीउण्हं
  ।
  ोसा दुक्खसेज्जा य
त जल्लमेव य ॥

—"भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी, डास और मच्छरो का कष्ट, आक्रोश वचन, दु ख-शय्या—कष्टप्रद स्थान, तृणस्पर्श तथा मैल—"

३३. चेव
वह-बन्धपरीसहा ।
दुक्खं भिक्खायरिया
य ॥

—"ताडना, तर्जना, वध और बन्धन, भिक्षा-चर्या, याचना और अलाभ —इन परीषहो को सहन करना दुष्कर है।"

३४. कावोया जा विती
केसलोओ य दारुणो।
घोर
धारेउ य महप्पणो॥

—"यह कापोतीवृत्ति अर्थात् कबूतर के समान दोषो से एव सतर्क रहने की वृत्ति, केश-लोच और यह घोर ब्रह्मचर्य व्रत धारण करना महान् आत्माओ के लिए भी दुष्कर है।"

३५ ोइओ तुम पुत्ता!
सुकुमालो सुमज्जिओ।
न हु सी पभू तुम पुत्ता!
ण्णमणुपालिउ॥

—"पुत्र! तू सुख भोगने के योग्य है, सुकुमार है, सुमज्जित है—साफ-सुथरा रहता है, अत श्रामण्य का पालन करने के लिए तू समर्थ नही है।"

३६ ीवमवि ो
गुणाण तु महाभरो।
गुरुओ लोहभारो व्व
जो पुत्ता! होई दुव्वहो॥

—"पुत्र! साधुचर्या मे जीवन-पर्यन्त कही विश्राम नही है। लोहे के भार की तरह साधु के गुणो का वह महान् गुरुतर भार है, जिसे जीवन-पर्यन्त वहन करना कठिन है।"

३७ आगासे गग सो
पडिसोओ व्व दुत्तरो।
बाहाहि सागरो
तरियव्वो गुणोयही॥

—"जैसे गगा का स्रोत एव प्रतिस्रोत (जल धारा का प्रतिकूल प्रवाह) दुस्तर है। जिस प्रकार सागर को भुजाओ से तैरना दुष्कर है, वैसे ही गुणोदधि—सयम के सागर को तैरना दुष्कर है।"

३८. वालुयाकवले चेव
निरस्साए उ सजमे।
असिधारागमण चेव
दुक्कर चरिउ॥

—"सयम बालू-रेत के -
'ग्रास' की तरह से रहित है। तप का
की धार पर चलने-
जैसा दुष्कर है।"

३९ अहीवेगन्तदिट्ठीए
चरित्ते पुत्त! दुच्चरे।
लोहमया
चावेयव्वा सुदुक्कर॥

—"साँप की तरह एकाग्र दृष्टि से चारित्र धर्म मे चलना कठिन है। लोहे के यव—जौ चबाना जैसे दुष्कर है, वैसे ही चारित्र का पालन दुष्कर है।"

४० जहा अग्गिसिहा दित्ता
होइ सुदुक्कर।
तह दुक्कर करेउ जे
तारुण्णे ॥

—"जैसे प्रज्वलित अग्निशिखा—ज्वाला को पीना दुष्कर है, वैसे ही युवावस्था मे श्रमणधर्म का पालन करना दुष्कर है।"

४१ जहा दुक्ख भरेउ जे
होई कोत्थलो।
तहा करेउ जे
कीवेण ॥

—"जैसे वस्त्र के कोत्थल को—थैले को हवा से भरना कठिन है, वैसे ही कायरो के द्वारा श्रमणधर्म का पालन करना भी कठिन होता है।"

४२ जहा तुलाए तोलेउ
दुक्कर मन्दरो गिरी।
तहा निहुय नीसंक
करं सम ॥

जैसे मेरुपर्वत को तराजू से तोलना दुष्कर है, वैसे ही निश्चल और निशक भाव से श्रमण धर्म का पालन करना भी दुष्कर है।"

४३ जहा भुयाहि तरिउ
दुक्करं रयणागरो।
तहा अणुवसन्तेण
दुक्कर दमसागरो ॥

—"जैसे भुजाओ से समुद्र को तैरना कठिन है, वैसे ही अनुपशान्त व्यक्ति के द्वारा सयम के सागर को पार करना दुष्कर है।"

४४ भुंज माणुस्सए भोगे
पचलक्खणए तुम।
भुत्तभोगी तओ जाया!
चरिस्ससि ॥

—"पुत्र! पहले तू मनुष्य-सम्बन्धी शब्द, रूप आदि पाँच प्रकार के भोगो का भोग कर। पश्चात् भुक्तभोगी होकर धर्म का आचरण करना।"

मृगा पुत्र—

४५. त पियरो
एवमेय जहा ।
लोए निप्पिवासस्स
नत्थि वि दुक्कर ॥

—मृगापुत्र ने माता-पिता को कहा—"आपने जो कहा है, वह ठीक है। किन्तु इस मे जिसकी बुझ चुकी है, उसके लिए भी दुष्कर नही है।"

४६ सारीर
वेयणाओ अणन्तसो।
मए सोढाओ भीमाओ
असइ दुक्खभयाणि य ॥

—"मैने शारीरिक और मानसिक भयकर वेदनाओ को अनन्त बार सहन किया है। और अनेक बार भयकर दुःख और भय भी अनुभव किए है।"

४७. — कन्तारे
चाउरन्ते रे।
मए सोढाणि भीमाणि
जम्माणि मरणाणि य॥

—"मैंने नरक आदि चार गतिरूप अन्त वाले जरा-मरण रूपी भय के आकर कान्तार (वन) मे भयकर जन्म-मरणो को सहा है।"

४८. जहा अगणी उण्हो
एत्तोऽणन्तगुणे तहिं।
नरएसु वेयणा उण्हा
वेइया मए॥

—"जैसे यहाँ अग्नि उष्ण है, उससे अनन्तगुण अधिक दु उष्ण वेदना मैंने नरक मे अनुभव की है।"

४९. जहा सीय
एत्तोऽणन्तगुण तहिं।
नरएसु वेयणा सीया
वेइया मए॥

—"जैसे यहाँ शीत है, उससे अनन्त-गुण अधिक दु शीतवेदना मैंने नरक मे अनुभव की है।"

५०. कन्दन्तो कदुकुम्भीसु
उड्ढपाओ अहोसिरो।
जलन्तम्मि
पक्कपुव्वो अणन्तसो॥

—"मैं नरक की कदु कुम्भियो मे— पकाने के लोहपात्रो मे ऊपर पैर और नीचा सिर करके प्रज्वलित अग्नि मे हुआ अनन्त वार पकाया गया हूँ।"

५१. महादवग्गिसकासे
मरुम्मि वइरवालुए।
कलम्बवालुयाए य
दड्ढपुव्वो अणन्तसो॥

—"महाभयकर दावाग्नि के तुल्य मरु प्रदेश मे, तथा वज्रवालुका (वज्र के ककरीली रेत) मे और वालुका (नदी के पुलिन की तप्त बालू रेत) मे मैं वार जलाया गया हूँ।"

५२ रसन्तो कदुकुम्भीसु
बद्धो अबन्धवो।
-करकयाईहिं
छिन्नपुव्वो अणन्तसो॥

—"बन्धु-बान्धवो से रहित असहाय रोता हुआ मैं कन्दुकुम्भी मे ऊँचा बाँधा गया तथा —करवत और — आरा आदि शस्त्रो से वार छेदा गया हूँ।"

५२. अइतिक्खकंटगाइण्णे
तुंगे सिम्बलिपायवे।
खेवियं [illegible]
कड्ढोकड्ढाहिं दुक्करं॥

—"अत्यन्त तीखे कांटों से व्याप्त ऊँचे शाल्मलि वृक्ष पर पाश से बांधकर, इधर-उधर खींचकर मुझे असह्य कष्ट दिया गया।"

५३. महाजन्तेसु उच्छू वा
आरसन्तो सुभेरवं।
पीलिओ मि सकम्मेहिं
पावकम्मो अणन्तसो॥

—"अति भयानक आक्रन्दन करता हुआ, मैं पापकर्मा अपने कर्मों के कारण, गन्ने की तरह बड़े-बड़े यन्त्रों में अनन्त बार पीला गया हूँ।"

५४. कूवन्तो कोलसुणएहिं
सामेहिं सबलेहि य।
पाडिओ फालिओ छिन्नो
विप्फुरन्तो अणेगसो॥

—"मैं इधर-उधर भागता और [illegible] करता हुआ, काले तथा चित-कबरे सूअर और कुत्तों से अनेक बार गिराया गया, [illegible] गया और छेदा गया।"

५५. [illegible]हिं अयसिवण्णाहिं
भल्लीहिं पट्टिसेहि य।
छिन्नो भिन्नो विभिन्नो य
ओइण्णो पावकम्मुणा॥

—"पाप कर्मों के कारण मैं नरक में जन्म लेकर अलसी के फूलों के समान नीले रंग की तलवारों से, भालों से और लोह के दण्डों से छेदा गया, भेदा गया, और [illegible] कर दिया गया।"

५६. अवसो लोहरहे जुत्तो
[illegible] समिल[illegible]।
चोइओ तोत्तजुत्तेहिं
रोज्झो वा जह पाडिओ॥

—"समिला (जुए के छेदों में लगाने की कील) से युक्त जूएवाले जलते लौह के रथ में पराधीन मैं जोता गया हूँ, चाबुक और रस्सी से हाँका गया हूँ तथा रोझ की भाँति पीट कर भूमि पर गिराया गया हूँ।"

५७ हुयासणे जलन्तम्मि
चियासु महिसो विव।
दड्ढो पक्को य अवसो
पावकम्मेहिं पाविओ॥

—"पापकर्मों से घिरा हुआ पराधीन मैं अग्नि की चिताओं में भैंसे की भाँति जलाया और पकाया गया हूँ।"

५८. [illegible] संडासतुण्डेहिं
लोहतुण्डेहिं पक्खिहिं।
विलुत्तो विलवन्तोऽहं
ढंक-गिद्धेहिऽणन्तसो॥

—"लोहे के समान कठोर संडासी-जैसी चोंच वाले ढंक और गीध पक्षियों द्वारा, मैं रोता-बिलखता हठात् अनन्त बार नोचा गया हूँ।"

५९. तण्हाकिलन्तो धावन्तो
पत्तो वेयरणिं नदिं।
पाहिंत्ति चिन्तन्तो
खु हिं विवाइओ॥

—" से व्याकुल होकर, दौड़ता हुआ मैं वैतरणी नदी पर पहुँचा। 'जल पीऊँगा'—यह सोच ही रहा था कि छुरे की धार जैसी तीक्ष्ण जलधारा से मैं चीरा गया।"

६०. उण्हाभितत्तो सपत्तो
असिपत्तं महावणं।
असिपत्तेहिं हिं
छिन्नपुव्वो अणेगसो॥

—"गर्मी से होकर मैं के लिए असि-पत्र महावन मे गया। किन्तु वहाँ ऊपर से गिरते हुए असि-पत्रो से—तलवार के समान तीक्ष्ण पत्तो से अनेक वार छेदा गया।"

६१. मुग्गरेहि मुसढीहिं
सूलेहिं मुसलेहि य।
ग हिं
पत्त ो॥

—"सब ओर से निराश हुए मेरे शरीर को मुद्गरो, मुसुण्डियो, शूलो और मुसलो से चूर-चूर किया गया। इस प्रकार मैंने अनन्त बार दु ख पाया है।"

६२ खुरेहि तिक्खधारेहि
छुरियाहि कप्पणीहि य।
कप्पिओ फालिओ छिन्नो
उक्कत्तो य अणेगसो॥

—"तेज धार वाले छुरो से, छुरियो से तथा कैंचियो से मैं अनेक बार काटा गया हूँ, टुकडे-टुकडे किया गया हूँ, छेदा गया हूँ तथा मेरी चमडी उतारी गई है।"

६३ पासेहि कूडजालेहिं
मिओ वा अवसो अहं।
वाहिओ बद्धरुद्धो अ
बहुसो चेव विवाइओ॥

—"पाशो और कूट जालो से विवश बने मृग की भाँति मैं भी अनेक बार छल-पूर्वक गया हूँ, बाँधा गया हूँ, रोका गया हूँ और विनष्ट किया गया हूँ।"

६४ गलेहिं लेहिं
मच्छो वा अवसो अहं।
उल्लिओ फालिओ गहिओ
मारिओ य अणन्तसो॥

—"गलो से—मछली को फँसाने के काँटो से तथा मगरो को पकडने के जालो से की तरह विवश मैं अनन्त बार खींचा गया, फाडा गया, पकडा गया, और मारा गया।"

६५ वीदंसएहि जालेहिं
लेप्पाहि सउणो विव।
गहिओ लग्गो बद्धो य
मारिओ य अणन्तसो॥

—"बाज पक्षियो, जालो तथा वज्रलेपो के द्वारा पक्षी की भाँति मैं बार गया, चिपकाया गया, बाँधा गया और मारा गया।"

६६. — फरसुमाईहिं
वड्ढईहिं दुमो विव ।
कुट्टिओ फालिओ छिन्नो
तच्छिओ य अणन्तसो ॥

—"बढई के द्वारा वृक्ष की तरह कुल्हाडो और फरसा आदि से मैं अनन्त वार कूटा गया हूँ, फाडा गया हूँ, छेदा गया हूँ, और छीला गया हूँ ।"

६७ चवेडमुट्ठिमाईहिं
कुमारेहिं पिव ।
ताडिओ कुट्टिओ भिन्नो
चुण्णिओ य न्तसो ॥

—"लुहारो के द्वारा लोहे की भाँति मैं परमाधर्मी असुर कुमारो के द्वारा चपत और मुक्का आदि से अनन्त बार पीटा गया, कूटा गया, -खण्ड किया गया, और चूर्ण बना दिया गया ।"

६८. तत्ताइ तम्बलोहाइ
तउयाइ सीसयाणि य ।
पाइओ न्ताइ
आरसन्तो सुभेरव ॥

—"भयकर आक्रन्द करते हुए भी मुझे कलकलाता गर्म ताँबा, लोहा, रागा और सीसा पिलाया गया ।"

६९. पियाइ मसाइ
खण्डाइ सोल्लगाणि य ।
खाविओ मि समसाइ
अग्गिवण्णाइ णेगसो ॥

—"तुझे टुकडे-टुकडे किया हुआ और शूल मे पिरो कर पकाया गया मास प्रिय था—यह याद दिलाकर मुझे मेरे ही शरीर का मास काटकर और उसे अग्नि—जैसा लाल तपा कर अनेक बार खिलाया गया ।"

७० पिया सुरा सीहू
मेरओ य महूणि य ।
ा मि जलन्तीओ
वसाओ रुहिराणि य ॥

—"तुझे सुरा, सीधू, मैरेय और मधु आदि मदिराएँ प्रिय थी—यह याद दिलाकर मुझे जलती हुई चर्वी और खून पिलाया गया ।"

७१ निच्च भीएण तत्थेण
दुहिएण वहिएण य ।
परमा दुहसबद्धा
वेयणा वेइया मए ॥

—"मैंने (पूर्व जन्मो मे इस प्रकार) नित्य ही भयभीत, सत्रस्त, दु खित और व्यथित रहते हुए अत्यन्त दु खपूर्ण वेदना का अनुभव किया ।"

७२ तिव्व -प्पगाढाओ
घोराओ अइदुस्सहा ।
महब्भयाओ भीमाओ
नरएसु वे मए ॥

—"तीव्र, प्रचण्ड, प्रगाढ, घोर, अत्यन्त दु सह, महाभयकर और भीष्म वेदनाओ का मैंने नरक मे अनुभव किया है ।"

७३. जारिसा से लोए
। दीसन्ति वेयणा।
एत्तो अणन्तगुणिया
नरएसु दुक्खवे ॥

—"हे पिता ! मनुष्य-लोक मे जैसी वेदनाएँ देखी जाती है,—उनसे अनन्त गुण अधिक दु ख-वेदनाएँ नरक मे है।"

७४ सव्वभवेसु
वेयणा वेइया मए।
निमेसन्तरमित्त पि
ज नत्थि वेयणा ॥

—"मैंने सभी जन्मो मे दु ख-रूप वेदना का अनुभव किया है। एक क्षण के अन्तर जितनी भी सुखरूप वेदना (अनुभूति) वहाँ नही है।"

माता-पिता—

७५. त बित ऽम्मापियरो
छन्देण पुत्त ! ।
पुण
दुक्ख निप्पडिकम्मया ॥

माता-पिता ने उससे कहा—"पुत्र ! अपनी इच्छानुसार तुम भले ही स्वीकार करो। किन्तु विशेष बात यह है कि—श्रामण्य-जीवन मे निष्प्रति-कर्मता अर्थात् रोग होने पर चिकित्सा न कराना, यह कष्ट है।"

मृगापुत्र—

७६. सो बित ऽम्मापियरो !
एवमेय जहाफुड।
पडिकम्म को कुणई
अरण्णे मियपक्खिण ?

वह बोला—"माता-पिता ! आपने जो कहा वह सत्य है। किन्तु जगलो मे रहने वाले निरीह पशु-पक्षियो की चिकित्सा कौन करता है ?"

७७ एगभूओ अरण्णे वा
जहा उ चरई मिगो।
एव चरिस्सामि
सजमेण तवेण य ॥

—"जैसे मे मृग अकेला विचरता है, वैसे ही मैं भी सयम और तप के साथ एकाकी होकर धर्म का करूँगा।"

७८. मिगस्स को
महारण्णम्मि जायई।
रुक्खमूलम्मि
को ण ताहे तिगिच्छई ?

—"जब महावन मे मृग के शरीर मे (आशुघाती रोग) हो जाता है, तब वृक्ष के नीचे बैठे हुए उस मृग की कौन चिकित्सा करता है ?"

७९. को वा से ओस - देई ?
को वा से पु छइ ?
को से भत्त प च
आहरित्तु पणामए ?

—"कौन उसे औषधि देता है ? कौन उसे सुख की (स्वास्थ्य की) बात पूछता है ? कौन उसे भक्त-पान देता है ?"

८०. य से सुही होइ गोयर । अट्टाए वल्लराणि सराणि य ॥	—"जब वह स्वस्थ हो है, तब स्वय गोचरभूमि मे है । और खाने-पीने के लिए —लता- निकुंजो व गहन (झाडियो) तथा जलाशयो को खोजता है ।
८१. पाणिय वल्लरेहिं सरेहि वा । मिगचारियं चरित्ताण गच्छई मिगचारियं ॥	—"लता-निकुंजो और जलाशयो मे —पानी पीकर मृगचर्या (- कूद) हुआ वह मृग अपनी मृग- चर्या (मृगो की निवासभूमि) को चला है।"
८२. समुट्ठिओ भिक्खू एवमेव अणेगओ । मिगचारियं चरित्ताण विस ॥	—"रूपादि मे अप्रतिबद्ध, के लिए भिक्षु विहार हुआ, मृगचर्या की तरह आचरण कर - दिशा—मोक्ष को गमन करता है।"
८३. जहा मिगे एग अणेगचारी अणेगवासे धुवगोयरे य । मुणी गोयरियं पविट्ठे नो हीलए नो विय खिसएज्जा ॥	—"जैसे मृग अकेला अनेक स्थानो मे विचरता है, अनेक स्थानो मे रहता है, सदैव गोचर चर्या से ही जीवन- यापन है, वैसे ही गोचरी के लिए गया हुआ मुनि भी किसी की निन्दा और नही है।"
८४. मिगचारियं चरिस्सामि एव पुत्ता! । अम्मापिऊहिं ो जहाइ उवहिं तओ ॥	—"मैं मृगचर्या का आचरण करूँगा।" "पुत्र! जैसे तुम्हे सुख हो, वैसे करो—।" इस -पिता की अनुमति वह उपधि—परिग्रह को छोडता है।
	मृगापुत्र—
८५. मियचारियं चरिस्सामि सव्वदुक्खविमोक्खणिं । तुब्भेहिं अम्म! ऽणुण्णाओ पुत्त! ॥	—"हे माता! मैं तुम्हारी अनुमति प्राप्त कर सभी दु खो का क्षय करने— वाली मृगचर्या का आचरण करूँगा" — "पुत्र! जैसे तुम्हे हो, वैसे चलो।"

उपसहार—

८६ एव सो अम्मापियरो
अणुमाणित्ताण बिहु ।
छिन्दई ताहे
महानागो व्व कचुय ॥

इस प्रकार वह अनेक तरह से माता-पिता को अनुमति के लिए कर का त्याग करता है, जैसे कि महानाग कैंचुल को छोडता है ।

८७ इड्ढि वित्त च मित्ते य
पुत्त-दार च नायओ ।
रेणुय व पडे
निद्धुणित्ताण निग्गओ ॥

कपडे पर लगी हुई धूल की तरह ऋद्धि, धन, मित्र, पुत्र, और ज्ञाति जनो को वह सयमयात्रा के लिए निकल पडा ।

८८ पचमहव्वयजुत्तो
पचसमिओ तिगुत्तिगुत्तो य ।
सब्भिन्तर — बाहिरओ
तवोकम्मसि उज्जुओ ॥

पच महाव्रतो से युक्त, पाँच समितियो से समित तीन गुप्तियो से गुप्त, आभ्यन्तर और बाह्य तप मे उद्यत—

८९ निम्ममो निरहकारो
निस्सगो चत्तगारवो ।
समो य सव्वभूएसु
तसेसु थावरेसु य ॥

ममत्वरहित, अहकाररहित, सग-रहित, गौरव का त्यागी, त्रस तथा सभी जीवो मे समदृष्टि —

९० मे सुहे दुक्खे
जीविए तहा ।
समो निन्दा-पससासु
तहा ो ॥

लाभ मे, मे, सुख मे, दु ख मे, जीवन मे, मरण मे, निन्दा मे, मे, और मान-अपमान मे का —

९१. गारवेसु कसाएसु
-भएसु य ।
नियत्तो -सोगाओ
अनियाणो अबन्धणो ॥

गौरव, , दण्ड, शल्य, भय, हास्य और शोक से निवृत्त, निदान और बन्धन से मुक्त—

९२ अणिस्सिओ लोए
परलोए अणिस्सिओ ।
वासीचन्द ो य
असणे अणसणे ॥

इस लोक और परलोक मे , वसूले से काटने चन्दन लगाए जाने पर भी तथा आहार मिलने और न मिलने पर भी सम—

६३. अप्पसत्थेहि दारेहि
सव्वओ पिहियासवे ।
अज्झप्पज्झाणजोगेहि
पसत्थ - ॥

द्वारो—हेतुओ से आने वाले कर्म-पुद्‌गलो का सर्वतोभावेन निरोधक महर्षि मृगापुत्र अध्यात्मसम्बन्धी ध्यानयोगो से सयम-शासन मे लीन हुआ ।

६४. एव नाणेण
दसणेण य ।
भावणाहि य सुद्धाहि
भावेत्तु ॥

इस ज्ञान, चारित्र, दर्शन, तप और शुद्ध-भावनाओ के द्वारा आत्मा को भावित कर—

६५. बहुयाणि उ वासाणि
सामण्णमणुपालिया ।
मासिएण उ भत्तेण
सिद्धि पत्तो ॥

बहुत वर्षो तक श्रामण्य धर्म का पालन कर अन्त मे एक मास के अनशन से वह अनुत्तर सिद्धि को हुआ ।

६६. एव करन्ति स
पण्डिया पवियक्खणा ।
विणियट्टन्ति भोगेसु
मियापुत्ते जहारिसी ॥

सबुद्ध, पण्डित और अतिविचक्षण व्यक्ति ऐसा ही करते हैं । वे काम-भोगो से वैसे ही निवृत्त होते है, जैसे कि महर्षि मृगापुत्र निवृत्त हुआ ।

६७ महापभावस्स महाजसस्स
मियाइ पुत्तस्स नि भासिय ।
तवप्पहाण चरिय च
गइप्पहाण च तिलोगविस्सुय ॥

महान् प्रभावशाली, महान् मृगापुत्र के तप प्रधान, त्रिलोक-विश्रुत एव मोक्षरूपगति से —उत्तम चारित्र के को सुनकर—

६८ वियाणिया दुक्खविवद्धण
ममत्तबन्ध च महब्भयावह ।
सुहावह धम्मधुर अ
धारेह निव्वाणगुणावह ॥

धन को दुःखवर्धक तथा ममत्व-को महाभयकर जानकर निर्वाण के गुणो को प्राप्त करने वाली, सुखावह— सुख- , अनुत्तर धर्म-धुरा को करो ।

—त्ति ॥

—ऐसा मैं कहता हूँ ।

२०

महानिर्ग्रन्थीय

ऐश्वर्य और परिवार होने से
कोई नहीं होता।

एक बार राजगृह के बाहर पर्वत की तलहटी मे विस्तृत-'मण्डिकुक्षि' उद्यान मे मगधेश्वर राजा 'श्रेणिक' घूमने गये थे। वहाँ ध्यान योग मे लीन एक तरुण मुनि को देखा। मुनि के अप्रतिम सौन्दर्य को देखकर राजा आश्चर्य मे डूब गया। उसने मुनि से कहा—"तुम मुनि कैसे बन गए ? तुम्हारी यह युवावस्था और तुम्हारा यह दीप्तिमान् शरीर सासारिक सुख भोगने के लिए है, न कि मुनि बनने के लिए।"

मुनि ने कहा—"राजन् ! मैं हूँ, असहाय हूँ, इसलिए साधु बना हूँ।"

मुनि के उत्तर पर राजा को विश्वास तो नही हुआ। फिर भी सोचा, "हो सकता है, ठीक हो। अभाव की स्थिति मे और दूसरा चारा ही क्या है ?" अत राजा ने कहा "मुनि ! लाचारी मे साधु होने का क्या अर्थ ? तुम्हारा कोई नाथ नही है, तो मै तुम्हारा नाथ होता हूँ। मै तुम्हे आमन्त्रण देता हूँ, तुम्हारे लिए सब सुख-सुविधा का प्रबन्ध करूँगा।"

मुनि ने कहा—"राजन् ! तुम ही अनाथ हो, तुम मेरे नाथ कैसे बन सकोगे ? जो स्वय अनाथ होता है, वह दूसरो का नाथ कैसे बन सकता है ?"

राजा मुनि के इस उत्तर से परेशान हो गया। उसने अपने अपार ऐश्वर्य और विपुल समृद्धि का जिक्र करते हुए, मुनि से कहा—" असत्य न बोलें। ये हाथी, ये घोडे, ये सैनिक, ये महल—सब मेरे है, मैं अनाथ कैसे हू ?"

मुनि ने कहा—"राजन् ! अनाथ और सनाथ की सही परिभाषा तुम नही जानते हो। धन-सम्पत्ति और ऐश्वर्य होने मात्र से कोई सनाथ नही होता। मै अपने पिता का प्रिय पुत्र था। पिता के पास ऐश्वर्य की कोई कमी नही थी। परिवार मे माँ, भाई, बहन, पत्नी और परिजन सभी थे। किन्तु जिस समय मैं आँखो की तीव्र वेदना से त्रस्त एव पीडित हो रहा था, उस समय मुझे उस वेदना से कोई बचा नही सका। बडे-से-बडे चिकित्सक मुझे स्वस्थ नही कर सके, अपार ऐश्वर्य मेरे कुछ नही आया। वह मेरी वेदना को मिटा नही सका। मेरा कोई त्राण नही था। मुझे कोई नही सका, यही मेरी अनाथता थी।"

—"एक दिन रात को शय्या पर पडे-पडे मैंने निर्णय किया कि धन, परिजन आदि के ये सब आश्रय झूठे है। इन झूठे आश्रयो का भरोसा छोड देना ही होगा। इन तमाम परिकरो से मुक्त हुए बिना मुझे शान्ति नही प्राप्त होगी। अत श्रामण्य भाव मे उपस्थित होकर दु ख और पीडा के बीज को ही मूल से नष्ट कर देना है। कुछ भी हो, प्रभात होते ही मै सर्वसग का त्यागी मुनि बन जाऊँगा। राजन् ! मेरा यह सकल्प दृढ से दृढतर होता गया। कुछ ऐसा योग हुआ कि मेरी वेदना शान्त हो गई। और प्रात काल होते ही मैं मुनि बन गया।"

—"और जो मुनि बनकर भी उसके अनुरूप आचरण नही करता है, वह भी अनाथ है। साधना और के प्रति जिसकी दृष्टि विपरीत है, उसका बाह्य क्रिया-काण्ड निरर्थक है।"

मुनि की इस स्वानुभूत वाणी से राजा प्रभावित हुआ। राजा ने स्वीकार किया कि वास्तव मे, मैं अनाथ हूँ, मुनि सनाथ है। राजा ने मुनि से एक महत्त्वपूर्ण तथ्य को जाना, इससे वह था। परिवार के साथ वह धर्म मे अनुरक्त हो गया। उसने श्रद्धापूर्वक मुनि को वन्दना की। और अपने द्वारा ध्यान मे विक्षेप हो जाने के प्रति विनम्र से याचना की।

उक्त अध्ययन जीवन के एक ऐसे   को स्पर्श करता है, जो ऐश्वर्य के कारण अह से   हो जाता है। बाह्य ऐश्वर्य एव विभूति कुछ नही है। वह मानव की सनाथता के हेतु नही है। बाहर मे सब कुछ पाकर भी मानव अनाथ ही रह जाता है, यदि उसके अन्तर्-मन मे विशुद्ध विवेक एव सच्चे अनासक्त वैराग्य का जागरण नही हुआ है तो।

राजा मुनि के इस उत्तर से परेशान हो गया। उसने अपने अपार ऐश्वर्य और विपुल समृद्धि का जिक्र करते हुए, मुनि से कहा—"आप असत्य न बोलें। ये हाथी, ये घोडे, ये सैनिक, ये महल—सब मेरे है, मै अनाथ कैसे हू ?"

मुनि ने कहा—"राजन् ! अनाथ और सनाथ की सही परिभाषा तुम नही जानते हो। धन-सम्पत्ति और ऐश्वर्य होने मात्र से कोई सनाथ नही होता। मै अपने पिता का प्रिय पुत्र था। पिता के पास ऐश्वर्य की कोई कमी नही थी। परिवार मे माँ, भाई, बहन, पत्नी और परिजन सभी थे। किन्तु जिस समय मैं आँखो की तीव्र वेदना से त्रस्त एव पीडित हो रहा था, उस समय मुझे उस वेदना से कोई बचा नही सका। बडे-से-बडे चिकित्सक मुझे स्वस्थ नही कर सके, अपार ऐश्वर्य मेरे कुछ काम नही आया। वह मेरी वेदना को मिटा नही सका। मेरा कोई त्राण नही था। मुझे कोई बचा नही सका, यही मेरी अनाथता थी।"

—"एक दिन रात को शय्या पर पडे-पडे मैंने निर्णय किया कि धन, परिजन आदि के ये सब आश्रय झूठे है। इन झूठे आश्रयो का भरोसा छोड देना ही होगा। इन तमाम परिकरो से मुक्त हुए विना मुझे शान्ति नही प्राप्त होगी। अत श्रामण्य भाव मे उपस्थित होकर दु ख और पीडा के बीज को ही मूल से नष्ट कर देना है। कुछ भी हो, प्रभात होते ही मै सर्वसग का त्यागी मुनि बन जाऊँगा। राजन् ! मेरा यह सकल्प दृढ से दृढतर होता गया। कुछ ऐसा योग हुआ कि मेरी वेदना शान्त हो गई। और काल होते ही मै मुनि बन गया।"

—"और जो मुनि बनकर भी उसके अनुरूप आचरण नही करता है, वह भी अनाथ है। साधना और साध्य के प्रति जिसकी दृष्टि विपरीत है, उसका बाह्य क्रिया-काण्ड निरर्थक है।"

मुनि की इस स्वानुभूत वाणी से राजा प्रभावित हुआ। राजा ने स्वीकार किया कि वास्तव मे मैं हूँ, मुनि सनाथ है। राजा ने मुनि से एक महत्त्वपूर्ण तथ्य को जाना, इससे वह प्रसन्न था। परिवार के साथ वह धर्म मे अनुरक्त हो गया। उसने श्रद्धापूर्वक मुनि को वन्दना की। और अपने ध्यान मे विक्षेप हो जाने के प्रति विनम्र भाव से - याचना की।

उक्त अध्ययन जीवन के एक ऐसे को स्पर्श करता है, जो ऐश्वर्य के कारण अहं से ग्रस्त हो जाता है। बाह्य ऐश्वर्य एव विभूति कुछ नही है। वह मानव की सनाथता के हेतु नही है। बाहर मे सब कुछ पाकर भी मानव अनाथ ही रह जाता है, यदि उसके अन्तर्-मन मे विशुद्ध विवेक एव सच्चे अनासक्त वैराग्य का जागरण नही हुआ है तो।

विसइमं ७ : विंशति
महानियण्ठिज्जं : महानिर्ग्रन्थीय

मूल	हिन्दी अनुवाद
१ सिद्धाण नमो कि च भावओ । अणुसट्ठिं सुणेह मे ॥	सिद्धो एव सयतो को भावपूर्वक नमस्कार करके मैं अर्थ—मोक्ष और धर्म के का बोध कराने वाली तथ्य-पूर्ण अनुशिष्टि—शिक्षा का हूँ, उसे सुनो ।
२. पभूयरयणो सेणिओ मगहाहिवो । विहारजत्तं निज्जाओ मण्डिकुच्छिसि चेइए ॥	गज तथा मणि-माणिक्य आदि प्रचुर रत्नो से समृद्ध मगध का अधिपति राजा श्रेणिक मण्डिकुक्षि चैत्य— मे विहार-यात्रा के लिए नगर से निकला ।
३. नाणादुमलयाइण्णं नाणापक्खिनिसेवियं । नाणाकुसुमसछन्नं णोवमं ॥	वह विविध के वृक्षो एव लताओ से आकीर्ण था, नाना के पक्षियो से परिसेवित था और विविध के पुष्पो से भली-भाँति आच्छादित था। किं बहुना, नन्दन वन के समान था ।
४. सो पासई साहु सुसमाहियं । निसन्नं रुक्खमूलम्मि सुकुमालं सुहोइयं ॥	राजा ने मे वृक्ष के नीचे बैठे हुए एक , समाधि-सपन्न, सुकु-मार एव सुखोचित—सुखोपभोग के योग्य साधु को देखा ।

५. तु पासित्ता
राइणो तम्मि सजए।
अच्चन्तपरमो आसी
अउलो रूवविम्हओ ॥

साधु के अनुपम रूप को देखकर राजा को उसके प्रति बहुत ही अधिक अतुलनीय विस्मय हुआ।

६ अहो! वण्णो अहो!
अहो! सोमया।
अहो! खती अहो! मुत्ती
अहो! भोगे ॥

अहो, क्या वर्ण (रग) है! क्या रूप (आकार) है! अहो, आर्य की कैसी सौम्यता है! अहो, क्या क्षान्ति है, क्या मुक्ति—निर्लोभता है! अहो, भोगों के प्रति कैसी असगता है!

७. पाए उ वन्दित्ता
य पयाहिण।
नाइदूरमणासन्ने
पजली पडिपुच्छई ॥

मुनि के चरणो मे वन्दना और प्रदक्षिणा करने के पश्चात् राजा न अति-दूर, न अति निकट अर्थात् योग्य स्थान मे रहा और हाथ जोडकर मुनि से पूछने लगा—

राजा श्रेणिक—

८. तरुणोसि ! पव्वइओ
भोगकालम्मि !
उवट्ठिओ सि सामण्णे
एयमट्ठ सुणेमि ता ॥

—"हे आर्य! तुम अभी युवा हो। फिर भी हे ! तुम भोगकाल मे दीक्षित हुए हो, श्रामण्य मे उपस्थित हुए हो। इसका क्या कारण है, मैं सुनना चाहता हूँ।"

मुनि—

९. अणाहो मि महाराय!
नाहो न विज्जई।
अणुकम्पगं सुहिं वावि
कचि नाभिसमेमऽह ॥

—"महाराज! मैं अनाथ हूँ। मेरा कोई नाथ—अभिभावक एव सरक्षक नही है। मुझ पर अनुकम्पा रखने वाला कोई —मित्र मैं नही पा रहा हूँ।"

१०. तओ सो पहसिओ
सेणिओ मगहाहिवो।
एव ते इड्ढिमन्तस्स
कह नाहो न विज्जई ?

यह सुनकर मगधाधिप राजा श्रेणिक ओर से हँसा और मुनि से बोला—"इस प्रकार तुम देखने मे ऋद्धि सपन्न—सौभाग्यशाली लगते हो, फिर भी तुम्हारा कोई नाथ नही है?"

राजा श्रेणिक—

११. होमि नाहो भयन्ताणं
भोगे भुंजाहि ।।
मित्त—नाईपरिवुडो
खु ।।

—"भदन्त ! मैं तुम्हारा नाथ होता हूँ । हे । मित्र और ज्ञातिजनो के साथ भोगो को भोगो । यह मनुष्य-जीवन बहुत दुर्लभ है ।"

मुनि—

१२ वि अणाहो सि
सेणिया ! मगहाहिवा !
अणाहो सन्तो
नाहो भविस्ससि ?

—"श्रेणिक ! तुम स्वय हो । मगधाधिप ! जब तुम स्वय हो तो किसी के नाथ कैसे हो सकोगे ?"

१३ वुत्तो नरिन्दो सो
सुसंभन्तो सुविम्हिओ ।
अस्सुयपुव्वं
साहुणा विम्हयन्निओ ।।

राजा पहले ही विस्मित हो रहा था, अब तो मुनि से अश्रुतपूर्व (पहले कभी नही सुना गया—'अनाथ' यह) सुनकर तो और भी अधिक स —सभया-कुल एव विस्मित हुआ ।

राजा श्रेणिक—

१४. हत्थी मणुस्सा मे
पुरं अन्तेउरं च मे ।
भुंजामि माणुसे भोगे
इस्सरियं च मे ।।

—"मेरे पास अश्व है, हाथी है—नगर और अन्त पुर है । मैं मनुष्यजीवन के सभी सुख-भोगो को भोग रहा हूँ । मेरे पास —शासन और ऐश्वर्य—प्रभुत्व भी है ।"

१५ एरिसे म्मि
सव्वकामसमप्पिए ।
अणाहो ?
मा हु भन्ते ! मुसं वए ।।

—"इस -श्रेष्ठ सम्पदा, जिसके द्वारा सभी कामभोग मुझे समर्पित होते हैं, मुझे प्राप्त हैं । इस स्थिति मे भला मैं कैसे हूँ ? ! आप झूठ न बोले ।"

मुनि—

१६ न तुमं अणाहस्स
पोत्थं व पत्थिवा ! ।
जहा अणाहो भवई
सणाहो वा नराहिवा ? ।।

—"पृथ्वीपति-नरेश ! तुम 'अनाथ' के अर्थ और परमार्थ को नही जानते हो कि अनाथ और कैसे होता है ?"

१७. सुणेह मे महाराय !
अवक्खित्तेण चेयसा ।
जहा अणाहो भवई
जहा मे य पवत्तियं ॥

—"महाराज ! अव्याक्षिप्त–अनाकुल चित्तसे मुझे सुनिए कि यथार्थ में अनाथ कैसे होता है, किस भाव से मैंने उसका प्रयोग किया है ?"

१८. कोसम्बी नयरी
पुराणपुरभेयणी ।
आसी पिया
पभूयधणसंचओ ॥

—'प्राचीन नगरो में असाधारण सुन्दर कौशाम्बी नाम की नगरी है । वहाँ मेरे पिता थे । उनके पास प्रचुर धन का संग्रह था ।"

१९ पढमे वए महाराय !
मे अच्छिवेयणा ।
अहोत्था विउलो दाहो
सव्वगेसु य पत्थिवा ! ॥

—"महाराज ! प्रथम वय में—युवा-मे मेरी आँखो मे अतुल—असाधारण वेदना उत्पन्न हुई । पार्थिव ! उससे मेरे सारे शरीर मे अत्यन्त जलन होती थी ।"

२० जहा परमतिक्खं
सरीरविवरन्तरे ।
पवेसेज्ज अरी कुद्धो
एवं मे अच्छिवेयणा ॥

—"क्रुद्ध शत्रु जैसे शरीर के मर्म-स्थानो मे अत्यन्त तीक्ष्ण शस्त्र घोपदे और उससे जैसे वेदना हो, वैसे ही मेरी आँखो मे भयकर वेदना हो रही थी ।"

२१ तियं मे अन्तरिच्छं च
च पीडई ।
इन्दासणिसमा घोरा
वेयणा परमं ॥

—"जैसे इन्द्र के वज्रप्रहार से भय-कर वेदना होती है, वैसे ही मेरे त्रिक—कटिभाग मे, अन्तरेच्छ—हृदय मे और उत्तमाग—मस्तक मे अति दारुण वेदना हो रही थी ।"

२२ उवट्ठिया मे आयरिया
विज्जा-मन्ततिगिच्छगा ।
अबीया सत्थकुसला
-मूलविसारया ॥

"—विद्या और मन्त्र से चिकित्सा करने वाले, मन्त्र तथा औषधियो के विशारद, अद्वितीय शास्त्रकुशल, आयुर्वेदाचार्य मेरी चिकित्सा के लिए उपस्थित थे ।"

२३. ते मे तिगिच्छं कुव्वन्ति
जहाहियं
न य दुक्खा विमोयन्ति
एसा अणाहया ॥

—"उन्होने मेरे हितार्थ वैद्य, रोगी, औषध और परिचारक-रूप चतुष्पाद चिकित्सा की, किन्तु वे मुझे दुःख से मुक्त नही कर सके । यह मेरी अनाथता है ।"

२४ पिया मे पि
विज्जाहि मम कारणा।
न य दुक्खा विमोएइ
एसा अणाहया॥

—"मेरे पिता ने मेरे लिए चिकित्सको को उपहारस्वरूप सर्वसार अर्थात् सर्वोत्तम वस्तुएँ दी, किन्तु वे मुझे दु ख से मुक्त नही कर सके। यह मेरी अनाथता है।"

२५. माया य मे महाराय!
पुत्तसोगदुहट्टिया ।
न य दुक्खा विमोएइ
एसा अणाहया॥

—"महाराज! मेरी माता पुत्र-शोक के दु ख से बहुत पीडित रहती थी, किन्तु वह भी मुझे दु ख से मुक्त नही कर कर सकी, यह मेरी अनाथता है।"

२६ भायरो मे महाराय!
जेट्ठ-कणिट्ठगा।
न य दुक्खा विमोयन्ति
एसा अणाहया॥

—"महाराज! मेरे बडे और छोटे सभी सगे भाई मुझे दु ख से मुक्त नही कर सके। यह मेरी ा है।"

२७. भइणीओ मे महाराय!
जेट्ठ-कणिट्ठगा।
न य दु विमोयन्ति
एसा अणाहया॥

—"महाराज! मेरी बडी और छोटी सगी बहनें भी मुझे दु ख से मुक्त नही कर सकी, यह मेरी अनाथता है।"

२८. भारिया मे महाराय!
अणुरत्ता अणुव्वया।
अंसुपुण्णेहिं नयणेहिं
उर मे परिसिंचई॥

—"महाराज! मुझ मे अनुरक्त और अनुव्रत मेरी पत्नी अश्रुपूर्ण नयनो से मेरे उर स्थल (छाती) को भिगोती रहती थी।"

२९. च ण्हाण च
गन्ध-मल्ल-विलेवण ।
मए नायमणाय वा
सा नोवभु जई॥

—"वह बाला मेरे मे या परोक्ष मे कभी भी अन्न, पान, स्नान, गन्ध, माल्य और विलेपन का उपभोग नही करती थी।"

३०. पि मे महाराय!
पासाओ वि न फिट्टई।
न य दुक्खा विमोएइ
एसा अणाहया॥

—"वह एक क्षण के लिए भी मुझ से दूर नही होती थी। फिर भी वह मुझे दु ख से मुक्त नही कर सकी। महाराज! यही मेरी अनाथता है।"

३१. तओ हं एवमाहंसु
दुक्खमा हु पुणो पुणो ।
वेयणा अणुभविउं जे
संसारम्मि अणन्तए ॥

तब मैंने इस प्रकार कहा—विचार किया कि प्राणी को इस अनन्त संसार में बार-बार असह्य वेदना का अनुभव करना होता है ।"

३२. च मुच्चेज्जा
वेयणा विउला इओ ।
खन्तो दन्तो निरारम्भो
पव्वए अणगारियं ॥

—"इस विपुल वेदना से यदि एक बार भी मुक्त हो जाऊँ, तो मैं क्षान्त, और निरारम्भ अनगारवृत्ति में प्रव्रजित—दीक्षित हो जाऊँगा ।"

३३. एवं च चिन्तइत्ताणं
पसुत्तो मि नराहिवा !
परियट्टन्तीए राईए
वेयणा मे ॥

—"नराधिप ! इस प्रकार विचार करके मैं सो गया । परिवर्तमान (बीतती हुई) रात के साथ-साथ मेरी वेदना भी क्षीण हो गई ।"

३४. तओ कल्ले पभायम्मि
आपुच्छित्ताण बन्धवे ।
खन्तो, ो निरारम्भो
पव्वइओ ऽणगारियं ॥

—"तदनन्तर प्रात काल मे कल्य—नीरोग होते ही मैं बन्धुजनों को पूछकर , दान्त और निरारम्भ होकर अनगार वृत्ति मे प्रव्रजित हो गया ।"

३५ ततो हं नाहो जाओ
अप्पणो य य ।
सव्वेसिं चेव भूयाण
य ॥

—"तब मैं और दूसरों का, त्रस और स्थावर सभी जीवों का नाथ हो गया ।"

३६. नई वेयरणी
मे कूडसामली ।
कामदुहा धेणू
मे नन्दणं ॥

—"मेरी अपनी आत्मा ही वैतरणी नदी है, कूट-शाल्मली वृक्ष है, काम-दुधा-धेनु है और नन्दन वन है ।"

३७. विकत्ता य
दुहाण य सुहाण य ।
मित्तममित्तं च
दुप्पट्ठिय — सुपट्ठिओ ॥

—"आत्मा ही अपने सुख-दु ख का कर्ता है और विकर्ता—भोक्ता है । सत् प्रवृत्ति मे स्थित आत्मा ही अपना मित्र है । और दुष्प्रवृत्ति मे स्थित ही शत्रु है ।"

२४ पिया मे पि
विज्जाहि मम ।
न य दुक्खा विमोएइ
एसा अणाहया ॥

—"मेरे पिता ने मेरे लिए चिकित्सको को उपहारस्वरूप सर्वसार अर्थात् सर्वोत्तम वस्तुएँ दी, किन्तु वे मुझे दु ख से मुक्त नही कर सके। यह मेरी है।"

२५ माया य मे महाराय !
पुत्तसोगदुहट्टिया ।
न य दुक्खा विमोएइ
एसा अणाहया ॥

—"महाराज ! मेरी माता पुत्र-शोक के दु ख से बहुत पीडित रहती थी, किन्तु वह भी मुझे दु ख से मुक्त नही कर कर सकी, यह मेरी अनाथता है।"

२६ भायरो मे महाराय !
जेट्ठ-कणिट्ठगा।
न य दुक्खा विमोयन्ति
एसा अणाहया ॥

—"महाराज ! मेरे बडे और छोटे सभी सगे भाई मुझे दु ख से मुक्त नही कर सके। यह मेरी । है।"

२७ भइणीओ मे महाराय !
जेट्ठ-कणिट्ठगा ।
न य दु विमोयन्ति
एसा अणाहया ॥

—"महाराज ! मेरी बडी और छोटी सगी बहनें भी मुझे दु ख से मुक्त नही कर सकी, यह मेरी अनाथता है।"

२८. भारिया मे महाराय !
अणुरत्ता अणुव्वया।
असुपुण्णेहिं नयणेहिं
उर मे परिसिंचई ॥

—"महाराज ! मुझ मे अनुरक्त और अनुव्रत मेरी पत्नी अश्रुपूर्ण नयनो से मेरे उर (छाती) को भिगोती रहती थी।"

२९ च ण्हाणं च
गन्ध-मल्ल-विलेवण ।
मए ना वा
सा नोवभु जई ॥

—"वह मेरे मे या परोक्ष मे कभी भी अन्न, पान, स्नान, गन्ध, और विलेपन का उपभोग नही करती थी।"

३०. पि मे महाराय !
पासाओ वि न फिट्टई।
न य दुक्खा विमोएइ
एसा अणाहया ॥

—"वह एक क्षण के लिए भी मुझ से दूर नही होती थी। फिर भी वह मुझे दु ख से मुक्त नही कर सकी। महाराज ! यही मेरी है।"

३१. तओ ह एवमाहसु
दुक्खमाहु पुणो पुणो।
वेयणा अणुभविउं जे
ससारम्मि अणन्तए॥

तब मैंने इस प्रकार कहा—विचार किया कि प्राणी को इस अनन्त ससार मे बार-बार असह्य वेदना का अनुभव करना होता है।"

३२. च मुच्चेज्जा
वेयणा विउला इओ।
खन्तो दन्तो निरारम्भो
पव्वए अणगारियं॥

—"इस विपुल वेदना से यदि एक बार भी मुक्त हो जाऊँ, तो मैं क्षान्त, दान्त और निरारम्भ अनगारवृत्ति मे प्रव्रजित—दीक्षित हो जाऊँगा।"

३३ एव च चिन्तइत्ताणं
पसुत्तो मि नराहिवा!
परियट्टन्तीए राईए
वेयणा मे॥

—"नराधिप! इस प्रकार विचार करके मैं सो गया। परिवर्तमान (वीतती हुई) रात के साथ-साथ मेरी वेदना भी क्षीण हो गई।"

३४. तओ कल्ले पभायम्मि
आपुच्छित्ताण बन्धवे।
खन्तो, दन्तो निरारम्भो
पव्वइओ ऽणगारियं॥

—"तदनन्तर प्रात काल मे कल्य—नीरोग होते ही मैं बन्धुजनो को पूछकर , दान्त और निरारम्भ होकर अनगार वृत्ति मे प्रव्रजित हो गया।"

३५ ततो ह नाहो जाओ
अप्पणो य परस्स य।
सव्वेसिं चेव भूयाण
य॥

—"तब मैं अपना और दूसरो का, त्रस और स्थावर सभी जीवो का नाथ हो गया।"

३६. नई वेयरणी
मे कूडसामली।
अप्पा कामदुहा
अप्पा मे नन्दण॥

—"मेरी अपनी आत्मा ही वैतरणी नदी है, कूट-शाल्मली वृक्ष है, काम-दुधा-धेनु है और नन्दन वन है।"

३७. अप्पा विकत्ता य
दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्तं च
दुप्पट्ठिय — सुपट्ठिओ॥

—"आत्मा ही अपने सुख-दु ख का कर्ता है और विकर्ता—भोक्ता है। सत् प्रवृत्ति मे स्थित आत्मा ही अपना मित्र है। और दुष्प्रवृत्ति मे स्थित आत्मा ही अपना शत्रु है।"

३८. हु वि अणाहया निवा !
तमेगचित्तो निहुओ सुणेहि ।
नियण्ठधम्मं लहियाण वी जहा
सीयन्ति एगे बहुकायरा ॥

—"राजन् ! यह एक और भी है । एव एकाग्रचित्त होकर उसे सुनो ! बहुत से ऐसे कायर व्यक्ति होते है, जो निर्ग्रन्थ धर्म को पाकर भी खिन्न हो जाते है—स्वीकृत अनगार धर्म का सोत्साह नही कर पाते है ।"

३९ जो महव्वयाइं
नो फासयई ।
अनिग्गहप्पा य रसेसु गिद्धे
न मूलओ छिन्दइ से ॥

—"जो महाव्रतो को स्वीकार कर प्रमाद के कारण पालन नही करता है, का निग्रह नही करता है, रसो मे है, वह मूल से राग-द्वेष-रूप बन्धनो का उच्छेद नही कर सकता है ।"

४०. न अत्थि
इरियाए भासाए तहेसणाए ।
-निक्खेव- छणाए
न वीरजाय अणुजाइ ॥

"—जिसकी ईर्या, भाषा, एषणा और आदान-निक्षेप मे और उच्चार-प्रस्रवण के परिष्ठापन मे आयुक्तता—सजगता नही है, वह उस मार्ग का अनुगमन नही कर सकता, जो वीरयात है—अर्थात् जिस पर वीर पुरुष चले है ।"

४१ चिर पि से मुण्डरुई भवित्ता
अथिरव्वए तव-नियमेहि भट्ठे ।
चिर पि किलेसइत्ता
न पारए होइ हु सपराए ॥

—"जो अहिंसादि व्रतो मे अस्थिर है, तप और नियमो से भ्रष्ट है—वह चिर काल तक मुण्डरुचि (और साधना न कर केवल सिर मु डा देने वाला भिक्षु) रहकर और को कष्ट देकर भी वह ससार से पार नही हो ।"

४२. पोल्ले व मुट्ठी से असारे
अयन्तिए कूडकहावणे वा ।
राढामणी वेरुलियप्पगासे
अमहग्घए होइ य जाणएसु ॥

—"जो पोली (खाली) मुट्ठी की तरह निस्सार है, खोटे-सिक्के की तरह अयन्त्रित—अप्रमाणित है, वैडूर्य की तरह चमकने वाली तुच्छ राढामणि—काच-मणि है, वह जानने वाले परीक्षको की दृष्टि मे मूल्यहीन है ।"

४३. कुसीलं धारइत्ता इसिज्झयं जीविय वूहइत्ता। असजए विणिघायमागच्छइ से चिरंपि॥	—"जो कुशील—आचारहीनो का वेप, और ऋषि- (रजोहरणादि मुनिचिन्ह) धारण कर जीविका है, होते हुए भी अपने-आप को कहता है, वह चिरकाल तक विनिघात—विनाश को होता है।"
४४ विसं तु पीय कालकूड हणाइ कुग्गहीयं। एसे व धम्मो विसओववन्नो हणाइ वेयाल इवाविवन्नो॥	—"पिया हुआ कालकूट-विप, । हुआ , अनियन्त्रित वेताल—जैसे विनाशकारी होता है, वैसे ही विपय-विकारो से युक्त धर्म भी विनाशकारी होता है।"
४५. जे सुविण निमित्त — कोऊहलसपगाढे। कुहेडविज्जासववारजीवी न गच्छई सरणं तम्मि काले॥	—"जो और स्वप्न-विद्या का प्रयोग करता है, निमित्त और कौतुक-कार्य मे है, मिथ्या आश्चर्य को उत्पन्न करने वाली कुहेट विद्याओ से—जादूगरी के खेलो से जीविका है, वह कर्मफल-भोग के किसी की शरण नही पा ।"
४६ तमतमेणेव उ से असीले दुही विप्परियासुवेइ। सधावई नरगतिरिक्खजोणिं मोण विराहेत्तु असाहुरूवे॥	—"वह शीलरहित साधु अपने —तीव्र के कारण विपरीत-दृष्टि को प्राप्त होता है, : असाधु प्रकृति वह साधु मौन—मुनि-धर्म की विराधना कर दुःख भोगता हुआ नरक और तिर्यंच गति मे रहता है।"
४७ उद्देसियं कीयगड नियाग न मुचई अणेसणिज्जं। अग्गी विवा सव्वभक्खी भवित्ता इओ चुओ ॥	—"जो औद्देशिक, क्रीत-कृत, नियाग—नित्यपिण्ड आदि के रूप मे थोडासा-भी अनेपणीय आहार नही छोडता है, वह अग्नि की भाँति सर्वभक्षी भिक्षु पाप-कर्म करके यहाँ से मरने के बाद दुर्गति मे जाता है।"

४८. न त अरी कण्ठछेत्ता करेइ जं से करे अप्पणिया दुरप्पा । से नाहिई मच्चुमुह तु पत्ते पच्छाणुतावेण दयाविहूणो ॥	—"स्वय की अपनी दुष्प्रवृत्ति-शील दुरात्मा जो अनर्थ करती है, वह गला काटने वाला शत्रु भी नही कर पाता है। उक्त तथ्य को निर्दय-सयमहीन मनुष्य मृत्यु के क्षणो मे पश्चात्ताप करते हुए जान पाएगा।"
४९. निरट्ठिया नग्गरुई उ जे उत्तमट्ठ विवज्जासमेइ । इमे वि से नत्थि परे वि लोए दुहओ वि से झिज्जइ तत्थ लोए ॥	—"जो उत्तमार्थ मे—अन्तिम समय की साधना मे विपरीत दृष्टि है, उसकी श्रामण्य मे अभिरुचि व्यर्थ है। उसके लिए न यह लोक है, न परलोक है। दोनो लोक के प्रयोजन से शून्य होने के कारण वह उभय-भ्रष्ट भिक्षु निरन्तर चिन्ता मे घुलता है।"
५०. एमेवऽहाछन्द — कुसीलरूवे मग्गं विराहेत्तु जिणुत्तमाण । कुररी विवा भोगरसाणुगिद्धा निरट्ठसोया परियावमेइ ॥	—"इसी प्रकार और कुशील साधु भी जिनोत्तम—भगवान् के मार्ग की विराधना कर वैसे ही परिताप को प्राप्त होता है, जैसे कि भोग-रसो मे होकर निरर्थक शोक करने वाली कुररी (गीध) पक्षिणी परिताप को प्राप्त होती है।"
५१. सोच्चाण मेहावि सुभासिय इमं अणुसासण नाणगुणोववेय । मग्ग कुसीलाण जहाय महानियण्ठाण वए पहेण ॥	—"मेधावी इस सुभाषित को एव ज्ञान-गुण से युक्त अनुशासन (शिक्षा) को सुनकर कुशील व्यक्तियो के सब मार्गों को छोडकर, महान् निर्ग्रन्थो के पथ पर चले।"
५२. चरित्तमायारगुणन्निए तओ अणुत्तरं पालियाण । निरासवे सखवियाण उवेइ विउलुत्तम ॥	—"चारित्राचार और ज्ञानादि गुणो से निर्ग्रन्थ निराश्रव होता है। अनुत्तर शुद्ध सयम का पालन कर वह निराश्रव (राग-द्वेषादि बन्ध-हेतुओ से) कर्मों का क्षय कर विपुल, एव मोक्ष को प्राप्त है।"

५३. एवुग्गदन्ते वि महातवोधणे
महामुणी महापइन्ने महायसे ।
महानियण्ठिज्जमिणं महासुयं
से काहए महया वित्थरेणं ॥

इस प्रकार उग्र-दान्त, महान् तपोधन, महा-प्रतिज्ञ, महान्-यशस्वी उस महामुनि ने इस महा-निर्ग्रन्थीय महाश्रुत को महान् विस्तार से कहा ।

५४. तुट्ठो य सेणिओ राया
इणमुदाहु कयंजली ।
अणाहत्तं जहाभूयं
सुट्ठु मे उवदंसियं ॥

राजा श्रेणिक हुआ और हाथ जोडकर इस प्रकार बोला—"भगवन् ! अनाथ का यथार्थ स्वरूप आपने मुझे ठीक तरह समझाया है ।"

राजा श्रेणिक—

५५. तुज्झं सुलद्धं खु मणुस्सजम्मं
लाभा सुलद्धा य तुमे महेसी !
तुब्भे सणाहा य सबन्धवा य
जं भे ठिया मग्गे जिणुत्तमाणं ॥

—"हे महर्षि ! तुम्हारा मनुष्य-जन्म है, तुम्हारी उपलब्धियाँ हैं, तुम सच्चे सनाथ और सबान्धव हो, क्योकि तुम जिनेश्वर के मार्ग मे स्थित हो ।"

५६. तं सि नाहो अणाहाणं
सव्वभूयाण संजया !
खामेमि ते महाभाग !
इच्छामि अणुसासिउं ॥

—"हे संयत ! तुम अनाथो के नाथ हो, तुम सब जीवो के नाथ हो । हे महा-भाग ! मैं तुमसे क्षमा चाहता हूँ । मैं तुम से अनुशासित होने की रखता हूँ ।"

५७. पुच्छिऊण मए तुब्भं
झाणविग्घो उ जो कओ ।
निमन्तिओ य भोगेहिं
तं सव्वं मरिसेहि मे ॥

—"मैंने तुमसे प्रश्न कर जो ध्यान मे विघ्न किया और भोगो के लिए निमन्त्रण दिया, उन सब के लिए मुझे क्षमा करें ।"

५८ एवं थुणित्ताण स रायसीहो
अणगारसीहं परमाइ भत्तिए ।
सओरोहो य सपरियणो य
धम्माणुरत्तो विमलेण चेयसा ॥

इस प्रकार राजसिंह श्रेणिक राजा अनगार-सिंह मुनि की परम भक्ति से स्तुति कर अन्तःपुर (रानियो) तथा अन्य परिजनो के साथ धर्म मे अनुरक्त हो गया ।

५९ ऊससियरोमकूवो
काऊण य पयाहिणं ।
अभिवन्दिऊण सिरसा
अइयाओ नराहिवो ॥

राजा के रोमकूप आनन्द से वसित—उल्लसित हो रहे थे । वह मुनि की प्रदक्षिणा और सिर से वन्दना करके लौट गया ।

६०. इयरो वि गुणसमिद्धो
त्तिगुत्तो तिदण्डविरओ य ।
विहग इव विप्पमुक्को
विहरइ वसुहं विगयमोहो ॥

और वह गुणों से समृद्ध, तीन गुप्तियों से गुप्त, तीन से विरत, मोहमुक्त मुनि पक्षी की भाँति विप्रमुक्त—अप्रतिबद्ध होकर भूतल पर विहार करने लगे ।

—त्ति बेमि ॥

—ऐसा मैं कहता हूं ।

२१

समुद्रपालीय

बीज के अनुसार ˙ होता है ।
यदि अच्छा चाहिए, तो अच्छा बीज बोना होगा ।

भगवान् महावीर का श्रावक-शिष्य 'पालित', अपने समय का एक बहुत व्यापारी था । वह अग देश की राजधानी चपा मे रहता था । किन्तु व्यापार के लिए वह समुद्र-यात्रा करता था, अत उसे दूर-दूर के देशो मे जाना पडता था । एक बार वह जलपोत से पिहुण्ड नगर मे सुपारी और स्वर्ण आदि के व्यापार के लिए गया । वहाँ उसे बहुत समय तक रुकना पडा । युवक पालित की प्रामाणिकता और चतुरता की ख्याति नगर मे घर-घर फैल गई । अत वहाँ के एक सपन्न सेठ ने अपनी पुत्री का विवाह उसके साथ कर दिया ।

पालित अपनी गर्भवती पत्नी के साथ समुद्र के मार्ग से चपा लौट रहा था । पत्नी ने जहाज मे ही एक पुत्र को जन्म दिया । उसका नाम 'समुद्रपाल' रखा गया । वह बहुत सुन्दर था । समय पर वह बहत्तर कलाओ मे निपुण हुआ और परिवार मे आमोद प्रमोद के साथ सुखपूर्वक रहने लगा ।

एक बार नगर के राज-मार्ग पर उसने एक भयकर अपराधी को राजाज्ञा से नगर-आरक्षको द्वारा वधभूमि की ओर ले जाते हुए देखा । उन दिनो प्राणदण्ड के अपराधियो की एक विशिष्ट वेषभूषा होती थी । उन्हे लाल कनेर के फूलो की माला और लाल कपडे पहनाये जाते थे । नगे शरीर पर लाल चदन का लेप किया जाता था । गधे पर चढाकर नगर मे घुमाया जाता और उसके दुष्कर्म की घोषणा की जाती । जिससे लोगो को ध्यान मे आए कि यह अपराधी है और अपराध करने वालो को इस प्रकार दण्डित किया

जाता है। भविष्य मे अन्य कोई ऐसा अपराध न करे, यह रूप से लोगो को दिया जाता था।

समुद्रपाल ने अपराधी को देखा। और वह सोचने लगा कि—"अच्छे कर्मो का फल अच्छा होता है और बुरे कर्मो का फल बुरा होता है। इस अपराधी ने बुरा कार्य किया है, उसका फल यह भोग रहा है। अच्छे अथवा बुरे कर्मो के फल कर्त्ता को भोगने ही होते है।" इस प्रकार कर्म और कर्मफल के मे वह गहराई से सोचता रहा और मे ससार के प्रति उसका मन सवेग और वैराग्य से भर गया। अन्ततोगत्वा माता-पिता से अनुमति प्राप्त कर उसने मुनि-दीक्षा ले ली।

इस घटना के उल्लेख के प्रस्तुत अध्ययन मे साधु के आन्तरिक आचार के सम्बन्ध मे कुछ महत्त्वपूर्ण बातो का उल्लेख है। साधु प्रिय और अप्रिय—दोनो ही स्थितियो मे अपना सन्तुलन सुरक्षित रखे। व्यर्थ की बातों से अलग रहे। देश, काल और परिस्थिति को ध्यान मे रखकर विहार करे। किसी के असभ्य और अशिष्ट व्यवहार से भी क्रुद्ध न हो। ज्ञान और सयम से अपनी यात्रा को सम्पन्न रखे।

प्रस्तुत अध्ययन मे वर्णित पद्धति के अनुसार विशुद्ध सयम का पालन करके समुद्रपाल सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हुआ।

एगविंसइमं अज : एकविंश य

मुद्दपालीयं : ीय

मूल	हिन्दी अनुवाद
१ चम्पाए पालिए सावए आसि वाणिए । महावीरस्स भगवओ सीसे सो उ महप्पणो ॥	चम्पा नगरी मे 'पालित' नामक एक वणिक् श्रावक था । वह महात्मा—विराट पुरुष भगवान् महावीर का शिष्य था ।
२ निग्गन्थे सावए से विकोविए । पोएण ववहरन्ते पिहुण्ड नगरमागए ॥	वह श्रावक निर्ग्रन्थ प्रवचन का विशिष्ट विद्वान् था । एक बार पोत—पानी के जहाज से व्यापार करता हुआ वह पिहुण्ड नगर मे आया ।
३ पिहुण्डे ववहरन्तस्स वाणिओ देइ धूयर । त ससत्त पइगिज्झ सदेसमह पत्थिओ ॥	पिहुण्ड नगर मे व्यापार करते उसे एक व्यापारी ने विवाह के रूप मे अपनी पुत्री दी । कुछ समय के वाद गर्भवती पत्नी को लेकर उसने स्वदेश की ओर प्रस्थान किया ।
४ अह पालियस्स घरणी समुद्दमि पसवई । अह वालए तहिं जाए 'समुद्दपालि' त्ति नामए ॥	पालित की पत्नी ने समुद्र मे ही पुत्र को जन्म दिया । समुद्र-यात्रा मे पैदा होने के कारण उसका नाम 'समुद्रपाल' रखा गया ।

५ खेमेण आगए ए वाणिए घर । सवड्ढई घरे ए से सुहोइए ॥	वह वणिक् सकुशल चम्पा नगरी मे अपने घर । वह सुखोचित—सुकुमार उसके घर मे के साथ बढने लगा ।
६ बा रि कलाओ य सिक्खए नीइकोविए । जोव्वणेण य स सुरूवे पियद ॥	उसने बहत्तर कलाएँ सीखी, और वह नीति-निपुण हो गया । वह युवावस्था से हुआ तो सभी को सुन्दर और प्रिय लगने लगा ।
७. पिया आणेइ रूविणीं । पासाए कीलए रम्मे देवो दोगुन्दओ जहा ॥	पिता ने उसके लिए 'रूपिणी' नाम की सुन्दर भार्या ला दी । वह अपनी पत्नी के साथ दोगुन्दक देव की भाँति सुरम्य मे क्रीडा करने लगा ।
८ अह कयाई पासायालोयणे ठिओ । वज्झमण्डणसोभाग पासइ ॥	एक वह के आलोकन मे—झरोखे मे बैठा था । वध्य-जनोचित मण्डनो—चिन्हो से युक्त वध्य को बाहर वध-स्थान की ओर ले जाते हुए उसने देखा ।
९ त पासिऊण सविग्गो समुद्दपालो इणमब्बवी । अहोऽसुभाण निज्जाणं प ॥	उसे देखकर सवेग-प्राप्त समुद्रपाल ने मन मे इस कहा—"खेद है ! यह अशुभ कर्मो का निर्याण—दु खद परिणाम है ।"
१० सबुद्धो सो तहिं प सवेगमागओ । आपुच्छ ऽम्मापियरो ए अणगारियं ॥	इस प्रकार चिन्तन करते हुए वह भगवान्—महान् सवेग को प्राप्त हुआ और सम्बुद्ध हो गया । माता-पिता को पूछ कर उसने अनगारिता—मुनि-दीक्षा ग्रहण की ।
११ जहित्तु सग च महाकिलेस महन्तमोह कसिण भयावहं । परि चऽभिरोयएज्जा वयाणि सीलाणि परीसहे य ॥	दीक्षित होने पर मुनि महा क्लेश-कारी, महामोह और पूर्ण भयकारी सग (आसक्ति) का परित्याग करके पर्यायधर्म-साधुता मे, व्रत मे, शील मे, और परीषहो मे—परिषहो को से सहन करने मे अभिरुचि रखे ।

अहिंस च च सत्तो य अपरिग्गह च । पडिवज्जिया महव्वयाणि चरिज्ज जिणदेसिय विऊ ॥	विद्वान् मुनि अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—इन पाँच महाव्रतों को स्वीकार करके जिनोपदिष्ट धर्म का करे ।
सव्वेहि भूएहिं दयाणुकम्पी खन्तिक्खमे बम्भयारी । जोग परिवज्जयन्तो चरिज्ज भिक्खू सुसमाहिइन्दिए ॥	इन्द्रियो का सम्यक् सवरण करने भिक्षु सब जीवो के प्रति करुणाशील रहे, से दुर्वचनादि को सहन करने हो, हो, ब्रह्मचारी हो । वह सदैव सावद्ययोग का—पापाचार का परित्याग हुआ विचरण करे ।
४. कालेण विहरेज्ज रट्ठे जाणिय अप्पणो य । सीहो व सद्देण न सतसेज्जा वयजोग सुच्चा न असब्भमाहु ॥	साधु समयानुसार अपने को, अपनी शक्ति को जानकर राष्ट्रो मे विचरण करे । सिंह की भाँति भयोत्पादक सुनकर भी न हो । सुनकर भी बदले मे न कहे ।
१५ उवेहमाणो उ परिव्वएज्जा पियमप्पियं तितिक्खएज्जा । न भिरोयएज्जा न यावि पूयं गरह च ए ॥	सयमी प्रतिकूलताओ की उपेक्षा हुआ विचरण करे । प्रिय-अप्रिय—अर्थात् अनुकूल-प्रतिकूल सब परीषहो को सहन करे । सर्वत्र सबकी (जो भी अच्छी चीज देखे या सुने, उनकी) अभिलाषा न करे, पूजा और गर्हा भी न चाहे ।
१६. अणेगछन्दा माणवेहिं जे ो सपगरेइ भिक्खू । उइन्ति भीमा दिव्वा अवुवा तिरिच्छा ॥	यहाँ ससार मे मनुष्यो के अनेक प्रकार के छन्द—अभिप्राय होते हैं । भिक्षु उन्हे अपने मे भी भाव से जानता है ।[1] अत वह देवकृत, मनुष्यकृत तथा तिर्यचकृत भयोत्पादक भीषण उपसर्गों को सहन करे ।

१—यान् छन्वान् औदयिकादिभावतो वा सप्रकरोति भृशं विधत्ते भिक्षु —सर्वार्थ वृत्ति ।	—साधारण लोगो मे होने वाले विकल्प वस्तुवृत्या भिक्षु मे भी होते है, पर भिक्षु उन पर करे ।

१७ परीसहा दुव्विसहा अणेगे
सीयन्ति ९ बहुकायरा नरा ।
तें पत्तो न वहिज्ज भिक्खू
संगामसीसे इव नागराया ॥

अनेक दुर्विषह—असह्य परीषह प्राप्त होने पर बहुत से कायर लोग खेद का अनुभव करते हैं। किन्तु भिक्षु परिषह प्राप्त होने पर संग्राम में आगे रहने वाले नागराज—हाथी की तरह व्यथित न हो।

१८. सीओसिणा य फासा
विविहा फुसन्ति देहं ।
अकुक्कुओ ऽहियासएज्जा
रयाइ खेवेज्ज पुरेकडाइं ॥

शीत, उष्ण, डाँस, मच्छर, तृण-स्पर्श तथा अन्य विविध के जब भिक्षु को स्पर्श करें, तब वह कुत्सित शब्द न हुए उन्हें समभाव से सहन करे। पूर्वकृत कर्मों को क्षीण करे।

१९. पहाय रागं च तहेव दोसं
मोहं च भिक्खू वियक्खणो ।
मेरु व्व वाएण णो
परीसहे आयगुत्ते सहेज्जा ॥

विचक्षण भिक्षु राग-द्वेष और मोह को छोड़ कर, वायु से अकम्पित मेरु की भाँति आत्म-गुप्त बनकर परीषहों को सहन करे।

२०. अणुन्नए नावणए महेसी
न यावि पूयं गरहं च संजए ।
स उज्जु पडिवज्ज संजए
निव्वाणमग्गं विरए उवेइ ॥

पूजा-प्रतिष्ठा में और गर्हा में न होने वाला महर्षि पूजा और गर्हा में लिप्त न हो। वह समभावी विरत संयमी सरलता को स्वीकार करके निर्वाण-मार्ग को प्राप्त होता है।

२१. अरइरइसहे पहीणसंथवे
विरए आयहिए पहाणवं ।
परमट्ठपएहिं चिट्ठई
छिन्नसोए अममे अकिंचणे ॥

जो अरति और रति को सहन करता है, संसारी जनों के परिचय से दूर रहता है, विरक्त है, आत्म-हित का साधक है, प्रधानवान् है—संयमशील है, शोक रहित है, ममत्व रहित है, अकिंचन है, वह परमार्थ पदों में—सम्यग् दर्शनादि मोक्ष-साधनों में स्थित होता है।

२२ विवित्तलयणाइ भएज्ज ताई
निरोवलेवाइ असंथडाइं ।
इसीहि चिण्णाइ महायसेहिं
काएण फासेज्ज परीसहाइं ॥

त्रायी—प्राणिरक्षा करने वाला मुनि महान् यशस्वी ऋषियों द्वारा स्वीकृत, लेपादि कर्म से रहित, असंसृत—बीजादि से रहित, विविक्त —एकान्त स्थानों का सेवन करे और परीषहों को सहन करे।

२३. सन्नाणनाणोवगए महेसी चरिउं धम्मसंचयं। अणुत्तरेनाणधरे जसंसी ओभासई सूरिए वऽन्तलिक्खे ॥	अनुत्तर धर्म-संचय का आचरण करके सद्ज्ञान से ज्ञान को प्राप्त करने वाला, अनुत्तर ज्ञानधारी, यशस्वी महर्षि, अन्तरिक्ष में सूर्य की भाँति धर्म-संघ में प्रकाशमान होता है।
२४. दुविहं खवेऊण य पुण्णपावं निरंगणे सव्वओ विप्पमुक्के। तरित्ता समुद्दं व महाभवोघं समुद्दपाले अपुणागमं गए ॥	समुद्रपाल मुनि पुण्यपाप (शुभ-अशुभ) दोनों ही कर्मों का क्षय करके संयम में निरंगन—निश्चल, और सब से मुक्त होकर समुद्र की भाँति विशाल संसार-प्रवाह को तैर कर मोक्ष में गए।
—त्ति बेमि ॥	—ऐसा मैं कहता हूँ।

२२

रथनेमीय

पशुओ को चीत्कार ने अरिष्टनेमि के मार्ग को ।
राजीमती की विवेकपूर्ण वाणी ने रथनेमि को ।

एक व्रज-मण्डल के सोरियपुर (शौर्यपुर) मे राजा समुद्रविजय राज्य करते थे। अरिष्टनेमि, रथनेमि, सत्यनेमि और दृढनेमि-ये चारो समुद्र-विजय के पुत्र थे। 'वसुदेव' समुद्रविजय के सबसे छोटे भाई थे। उनके पुत्र थे—कृष्ण और बलराम।

प्रतिवासुदेव जरासन्ध के आक्रमण के कारण व्रज मण्डल को छोडकर यादव जाति के ये सब क्षत्रिय सौराष्ट्र पहुँचे और वहाँ द्वारिका नगरी का निर्माण कर एक विशाल साम्राज्य की नीव डाली। राज्य के नेता श्री कृष्ण वासुदेव हुए।

अरिष्टनेमि महान् तेजस्वी प्रतिभासम्पन्न युवक थे, किन्तु भोगवासना से विरक्त थे। वसुदेव के पुत्र श्री कृष्ण के समझाने पर अरिष्टनेमि ने विवाह करना स्वीकार किया। भोजकुल के राजा उग्रसेन की पुत्री राजीमती के साथ विवाह होना निश्चित हुआ। कृष्ण वासुदेव बहुत बडी बारात के साथ अरिष्टनेमि को लेकर राजा उग्रसेन की राजधानी मे विवाह मण्डप के निकट पहुँचे। अरिष्टनेमि को विवाह की खुशी मे बजाए जाने वाले अनेक वाद्यो के तीव्र निनाद (कोलाहल) मे भी बाडो और पिंजरो मे अवरुद्ध पशु-पक्षियो का करुण क्रन्दन सुनाई पडा। अपने सारथी से पूछा—"ये पशु-पक्षी क्यो बन्द कर रखे है ?" सारथी ने बंधे हुए पशुओ की ओर सकेत करके कहा—"महाराज। आपके विवाह के उपलक्ष मे भोज दिया जाएगा न। उसी के लिए इन हजारो

पशु-पक्षियो को बन्द कर रखा है। मृत्यु के भय से ये सब चीत्कार कर रहे है।"

अरिष्टनेमि ने यह सुना तो आगे नही जा सके। करुणा के अवतार ने सारथी को दी, सब पशु-पक्षी छोड दिए गए। विवाह को बीच मे ही छोडकर वापिस लौट आए।

करुणा के सागर विरक्त अरिष्टनेमि तदनन्तर मुनि बन गए।

उक्त घटना से राजीमती सहसा मूर्छित हो गई। माता-पिता ने और सखी-सहेलियो ने बहुत समझाया। किसी दूसरे राजकुमार से विवाह का प्रस्ताव भी रखा। किन्तु अरिष्टनेमि के महान् वैराग्य की बात सुनकर वह भी ससार से विरक्त हो गई थी। इस बीच अरिष्टनेमि के भाई रथनेमि राजीमती के पास गए और विवाह का प्रस्ताव रखा। राजीमती ने इन्कार कर दिया। रथनेमि भी साधु बन गए।

राजीमती अनेक राजकन्याओ के साथ दीक्षित हुई। वे सभी मिलकर भगवान् अरिष्टनेमि को वदन करने के लिए रैं पर्वत पर जा रही थी। अचानक जोर की वर्षा ने सभी को सुरक्षित स्थान खोजने के लिए विवश कर दिया। सब इधर-उधर तितर-बितर हो गई। राजीमती एक गुफा मे पहुँची, जहाँ रथनेमि ध्यान मे लीन खडे थे। रथनेमि ने राजीमती को देखा। उसने पुन विवाह की बात को दुहराया। राजीमती ने स्पष्ट कहा—"रथनेमि! मैं तुम्हारे ही भाई की परित्यक्ता हूँ। और तुम मुझसे विवाह करना चाहते हो? क्या यह वमन किये को फिर चाटने के समान घृणास्पद नही है? तुम अपने और मेरे कुल के गौरव को स्मरण करो! इस प्रकार के अघटित प्रस्ताव को रखते हुए तुम्हे लज्जा आनी चाहिए।"

राजीमती की से रथनेमि को अपनी भूल मे आई। अकुश द्वारा जैसे मत्त हाथी वश मे आ जाता है, शान्त-भाव से अपने पथ पर चल है, वैसे ही रथनेमि भी राजीमती के बोध-वचनो से होकर पुन अपने सयम-पथ पर हो गया।

प्रस्तुत अध्ययन मे पूर्व के बाद रथनेमि को राजीमती के द्वारा दिया गया बोध सकलित है। बोध इतना है कि पथ होते साधक को विवेक-मूलक प्रेरणा देता है, सावधान करता है। राजीमती का यह बोध इतना दीप्तिमान् है कि जैसे आज ही दिया गया है। यह वह त सत्य है, जो कभी धमिल नही होगा।

अज्झयणं : द्वाविंश अ
रहनेमिज्जं : रथनेमीय

मूल	हिन्दी अनुवाद
सोरियपुरंमि नयरे आसि महिड्ढिए । वसुदेवे त्ति नामेण राय— —सजुए ॥	सोरियपुर नगर मे राज-लक्षणो से युक्त, महान् ऋद्धि से 'वसुदेव' नाम का राजा था ।
२. दुवे आसी रोहिणी देवई तहा । तासिं दोण्हं पि दो पुत्ता य राम-केसवा ॥	उसकी रोहिणी और देवकी नामक दो पत्नियाँ थी । उन दोनो के राम (बलदेव) और केशव ( )—दो प्रिय पुत्र थे ।
३. सोरियपुरंमि नयरे आसी महिड्ढिए । समुद्दविजए राय— —सजुए ॥	सोरियपुर नगर मे राज-लक्षणो से युक्त, महान् ऋद्धि से 'समुद्रविजय' नाम का राजा भी था ।
४. सिवा तीसे पुत्तो महायसो । अरिट्ठनेमि त्ति लोगनाहे दमीसरे ॥	उसकी शिवा नाम की पत्नी थी, जिसका पुत्र महान् यशस्वी, जितेन्द्रियो मे श्रेष्ठ, लोकनाथ, भगवान् अरिष्टनेमि था ।
५ सोऽरिट्ठनेमि - नामो उ - सजुओ । अट्ठ सहस्सलक्खणधरो गोयमो कालगच्छवी ॥	वह अरिष्टनेमि स्वर के सुस्वरत्व एव गम्भीरता आदि लक्षणो से युक्त था । एक हजार आठ शुभ लक्षणो का धारक भी था । गोत्र गौतम था और वह वर्ण से श्याम वर्ण था ।

६. वज्जरिसहसंघयणो
समचउरसो झसोयरो ।
राईमइ
केसवो ॥

वह नाराच संहनन और समचतुरस्र था । उसका उदर मछली के उदर जैसा कोमल था । राजीमती कन्या उसकी भार्या बने, (राजा उग्रसेन से) यह याचना केशव ने की ।

७ अह सा
सुसीला चारुपेहिणी ।
विज्जुसोयामणिप्पभा ॥

वह महान् राजा की सुशील, सुन्दर, सर्वलक्षणसपन्न थी । उसके शरीर की कान्ति विद्युत् की प्रभा के समान थी ।

८ अहाह जणओ तीसे
वासुदेवं महिड्ढियं ।
इहागच्छऊ कुमारो
जा से ऽहं ॥

उसके पिता ने (उग्रसेन ने) महान् ऋद्धिशाली वासुदेव को कहा—"कुमार यहाँ आए । मैं अपनी कन्या उसके लिए दे हूँ" ।

९ सव्वोसहीहि ण्हविओ
कयकोउयमंगलो ।
दिव्वजुयलपरिहिओ
आभरणेहिं विभूसिओ ॥

अरिष्टनेमि को सर्व औषधियों के जल से स्नान कराया गया । यथाविधि कौतुक एव मगल किए गए । दिव्य वस्त्र-युगल पहनाया गया और उसे आभरणों से विभूषित किया गया ।

१०. मत्तं च गन्धहत्थिं
वासुदेवस्स जेट्ठगं ।
आरूढो सोहए अहियं
सिरे चूडामणी जहा ॥

वासुदेव के सबसे बड़े मत्त गन्धहस्ती पर अरिष्टनेमि हुए तो सिर पर चूडामणि की भाँति बहुत अधिक सुशोभित हुए ।

११ अह ऊसिएण ेण
चामराहि य सोहिए ।
दसारचक्केण य सो
सव्वओ परिवारिओ ॥

अरिष्टनेमि ऊँचे छत्र से तथा चामरों से सुशोभित था । दशार्ह-चक्र से—यदु वंशी सुप्रसिद्ध क्षत्रियों के समूह से वह सर्वत परिवृत था ।

१२ गिणीए सेनाए
रइयाए जहक्कमं ।
तुरियाण सन्निनाएण
दिव्वेण फुसे ॥

चतुरंगिणी सेना सजाई हुई थी । और वाद्यों का गगन-स्पर्शी दिव्य नाद हो रहा था ।

१३. एयारिसीए इड्ढीए
जुईए उत्तिमाए य ।
नियगाओ भवणाओ
निज्जाओ वण्हिपुंगवो ॥

ऐसी ऋद्धि और द्युति के साथ वह वृष्णि-पुंगव अपने से निकला ।

१४. अह सो निज्जन्तो
दिस्स भयद्दुए ।
वाडेहिं पंजरेहिं च
सन्निरुद्धे सुदुक्खिए ॥

तदनन्तर उसने वाडो और पिंजरो मे बन्द किए गए भयत्रस्त एवं अति दु:खित प्राणियो को देखा ।

१५. जीवियन्तं तु संपत्ते
मंसट्ठा भक्खियव्वए ।
पासेत्ता से महा
सारहिं ी ॥

वे जीवन की अन्तिम स्थिति (मृत्यु) के सम्मुख थे । मास के लिए खाये जाने वाले थे । उन्हे देखकर महाप्राज्ञ अरिष्ट-नेमि ने सारथि (पीलवान) को इस कहा—

१६ अ इमे
एए सव्वे सुहेसिणो ।
वाडेहिं पंजरेहिं च
सन्निरुद्धा य अच्छहिं ?

—"ये सब सुखार्थी प्राणी किसलिए इन वाडो और पिंजरो मे रोके हुए है ?"

१७ अह सारही तओ
एए भद्दा उ पाणिणो ।
तुज्झं विवाहकज्जंमि
भोयावेउ ॥

सारथि ने कहा—"ये भद्र प्राणी आपके विवाह-कार्य मे बहुत से लोगो को मास खिलाने के लिए है" ।

१८ सोऊण
बहुपाणि — विणासणं ।
चिन्तेइ से महापन्ने
साणुक्कोसे जिएहि उ ॥

अनेक प्राणियो के विनाश से सम्बन्धित वचन को सुनकर जीवो के प्रति करुणाशील, महाप्राज्ञ अरिष्टनेमि इस चिन्तन है—

१९ जइ एए
हम्मिहिंति जिया ।
न मे एयं तु निस्सेसं
परलोगे भविस्सई ॥

—"यदि मेरे निमित्त से इन बहुत से प्राणियो का वध होता है, तो यह परलोक मे मेरे लिए श्रेयस्कर नहीं होगा ।"

२० सो कुण्डलाण जुयल
सुत्तगं च महायसो ।
आभरणाणि य णि
सारहिस्स पणामए ॥

उस महान् यशस्वी ने कुण्डल-युगल, सूत्रक—करधनी और अन्य सब आभूषण उतार कर सारथि को दे दिए ।

२१ मणपरिणामे य कए
देवा य जहोइय समोइण्णा ।
सव्वड्ढीए सपरिसा
निक्खमण जे ॥

मन मे ये परिणाम—भाव होते ही उनके यथोचित अभिनिष्क्रमण के लिए देवता अपनी ऋद्धि और परिषद् के साथ आए ।

२२ देव-मणुस्सपरिवुडो
सीयारयण तओ समारूढो ।
निक्खमिय बारगाओ
रेवययमि ट्ठिओ ॥

देव और मनुष्यो से परिवृत भगवान् अरिष्टनेमि शिबिकारत्न—श्रेष्ठ पालकी मे हुए । द्वारका से चल कर रैवतक (गिरनार) पर्वत पर स्थित हुए ।

२३ सपत्तो
ओइण्णो उत्तिमाओ सीयाओ ।
साहस्सीए परिवुडो
अह निक्खमई उ चित्ताहि ॥

मे पहुँचकर, शिबिका से , एक हजार व्यक्तियो के साथ, भगवान ने चित्रा मे निष्क्रमण किया ।

२४ अह से सुगन्धगन्धिए
तुरिय मउयकु चिए ।
सयमेव लु चई
पचमुट्ठीहि हिओ ॥

तदनन्तर समाहित — समाधिसपन्न अरिष्टनेमि ने तुरन्त अपने सुगन्ध से सुवासित कोमल और घु घराले बालो का स्वय अपने हाथो से पचमुष्टि लोच किया ।

२५ वासुदेवो य ण
लुत्तकेस जिइन्दियं ।
इच्छियमणोरहे तुरियं
पावेसु तं दमीसरा ॥

वासुदेव ने लुप्तकेश एव जितेन्द्रिय भगवान् को कहा—"हे दमीश्वर ! तुम अपने अभीष्ट मनोरथ को शीघ्र प्राप्त करो ।"

२६. नाणेणं च
चरित्तेण तहेव य ।
खन्तीए मुत्तीए
वड्ढमाणो भवाहि य ॥

—"तुम ज्ञान, दर्शन, चारित्र, क्षान्ति—क्षमा और मुक्ति—निर्लोभता के द्वारा आगे बढो" ।

२७ एवं ते रामकेसवा य । अरिट्ठणेमि वन्दित्ता बारगापुरिं ॥	इस बलराम, केशव, दशार्ह यादव और अन्य बहुत से लोग अरिष्ट-नेमि को वन्दना कर द्वारकापुरी को लौट आए ।
२८. सोऊण पव्वज्जं सा जिणस्स उ । नीहासा य निराणन्दा सोगेण उ समुत्थया ॥	भगवान् अरिष्टनेमि की प्रव्रज्या को सुनकर राजकन्या राजीमती के हास्य (हँसी,) और आनन्द सब समाप्त हो गए । और वह शोकसे मूर्च्छित हो गई ।
२९. राईमई विचिन्तेइ धिरत्थु जीवियं । जा ऽहं तेण परिच्चत्ता सेयं ॥	राजीमती ने सोचा—"धिक्कार है मेरे जीवन को । चूँकि मैं अरिष्टनेमि के परित्यक्ता हूँ, अत मेरा प्रव्रजित होना ही श्रेय है ।"
३०. अह सा भमरसन्निभे कुच्च—फणग—पसाहिए । सयमेव लुचई धि ववस्सिया ।	धीर तथा कृतसकल्प राजीमती ने कूर्च और कंघी से सँवारे हुए भौंरे जैसे काले केशो का अपने हाथो से लु चन किया ।
३१. वासुदेवो य णं लुत्तकेसं जिइन्दियं । घोरं तर कन्ने ! ॥	वासुदेव ने लुप्त-केशा एव जितेन्द्रिय राजीमती को कहा—"कन्ये ! तू इस घोर ससार-सागर को अति शीघ्र पार कर ।"
३२. सा सन्ती पव्वावेसी तहिं । परियणं चेव सीलवन्ता बहुस्सुया ॥	शीलवती एव बहुश्रुत राजीमती ने प्रव्रजित होकर अपने साथ बहुत से स्वजनो तथा परिजनो को भी प्रव्रजित कराया ।
३३ गिरिं रेवययं जन्ती वासेणुल्ला उ -अन्तरा । वासन्ते अन्धयारंमि अन्तो सा ठिया ॥	वह रैवतक पर्वत पर जा रही थी कि बीच मे ही वर्षा से भीग गई । घोर की वर्षा हो रही थी, अन्धकार था । इस स्थिति मे वह गुफा के अन्दर पहुँची ।

३४ चीवराइ विसारन्ती जहा त्ति पासिया । रहनेमी भग्गचित्तो पिट्ठो य तीइ वि ॥	सुखाने के लिए अपने चीवरो—वस्त्रो को फैलाती हुई राजीमती को यथ (नग्न) रूप मे रथनेमि ने देखा । मन विचलित हो गया । पश्चात् राजीमती ने भी उसको देखा ।
३५ भीया य सा तहि एगन्ते तयं । बाहाहि सगोफं वेवमाणी निसीयई ॥	वहाँ एकान्त मे उस सयत को देख कर वह डर गई । भय से काँपती हुई वह अपनी दोनो भुजाओ से शरीर को आवृत कर बैठ गई ।
३६ अह सो वि रायपुत्तो समुद्दविजयंगओ । भीय पवेवियं उवाहरे ॥	तब समुद्रविजय के अगजात उस राजपुत्र ने राजीमती को भयभीत और काँपती हुई देखकर इस प्रकार वचन कहा—
	रथनेमि—
३७ रहनेमी अह भद्दे ! सुरूवे ! चारुभासिणि ! । हि सुयणू ! न ते पीला भविस्सई ॥	—"भद्रे ! मैं रथनेमि हूँ । हे सुन्दरी ! हे चारुभाषिणी ! तू मुझे स्वीकार कर । हे सुतनु ! तुझे कोई पीडा नही होगी ।"
३८. एहि ता भु जिमो भोए माणुस्स खु । भुत्तभोगा तओ जिणमग्ग चरिस्समो ॥	—"निश्चित ही मनुष्य-जन्म अत्यन्त दुर्लभ है । आओ, हम भोगो को भोगें । बाद मे भुक्तभोगी हम जिन-मार्ग मे दीक्षित होगे ।"
३९ दट्ठूण रहनेमि त भग्गुज्जोयपराइय । राईमई असम्भन्ता ण सवरे तहि ॥	सयम के प्रति भग्नोद्योग—उत्साह-हीन तथा भोग-वासना से पराजित रथ-नेमि को देखकर वह सम्भ्रान्त न हुई—घबराई नही । उसने वस्त्रो से अपने शरीर को पुन ढँक लिया ।
४० अह सा रायवरकन्ना सुट्ठिया नियम-व्वए । जाई च सील च रक्खमाणी तय वए ॥	नियमो और व्रतो मे सुस्थित—अविचल रहने वाली श्रेष्ठ राजकन्या राजीमती ने जाति, कुल और शील की रक्षा करते हुए रथनेमि से कहा—

राजीमती—

४१. सि रूवेण वेसमणो
ललिएण नलकूबरो ।
तहा वि ते न इच्छामि
जइ सि पुरन्दरो ॥

—"यदि तू रूप से वैश्रमण के समान है, ललित कलाओं से नलकुवर के समान है, और तो क्या, तू साक्षात् इन्द्र भी है, तो भी मैं तुझे नही चाहती हूँ।"

४२. पक्खन्दे जलिय जोइ
केउ दुरासय ।
नेच्छन्ति भोत्तु
कुले अगधणे ॥

—"अगन्धन कुल मे उत्पन्न हुए सर्प धूम की ध्वजा वाली, प्रज्वलित, भयकर, दुष्प्रवेश अग्नि मे प्रवेश कर जाते है, किन्तु वमन किए हुए अपने विष को पुन पीने की इच्छा नही करते है।"

४३ धिरत्थु ते असोकामी !
जो त जीवियकारणा ।
इच्छसि आवेउ
सेय ते भवे ॥

—'हे यश कामिन् ! धिक्कार है तुझे कि तू भोगी जीवन के लिए वान्त—त्यक्त भोगो को पुन भोगने की इच्छा करता है। इससे तो तेरा मरना श्रेयस्कर है।"

४४. अह च भोयरायस्स
त च सि अन्धगवण्हिणो ।
मा कुले गन्धणा होमो
निहुओ चर ॥

—"मै भोजराजा की पौत्री हूँ और तू • -वृष्णि का पौत्र है। हम कुल मे गन्धन सर्प की तरह न बनें। तू निभृत (स्थिर) होकर सयम का पालन कर।"

४५ त काहिसि
जा जा दिच्छसि नारिओ ।
वायाविद्धो व्व हढो
अट्ठिअप्पा भविस्ससि ॥

—"यदि तू जिस किसी स्त्री को देखकर ऐसे ही राग-भाव करेगा, तो वायु से कम्पित हढ (वनस्पति विशेष) की तरह तू अस्थितात्मा होगा।"

४६ गोवालो भण्डवालो वा
जहा तद्दव्वऽणिस्सरो ।
एव अणिस्सरो त पि
स भविस्ससि ॥

—"जैसे गोपाल और भाण्डपाल उस द्रव्य के—गायो और किराने आदि के स्वामी नही होते हैं, उसी प्रकार तू भी श्रामण्य का स्वामी नही होगा।"

४७ कोह माण निगिण्हित्ता
लोभ च सव्वसो ।
इन्दियाइ वसे
अप्पाण हरे ॥

—"तू क्रोध, मान, माया और लोभ को पूर्णतया निग्रह करके, इन्द्रियो को वश मे करके अपने-आप को उपसहार कर—अनाचार से निवृत्त कर।"

४८ सो सोच्चा
ए सुभासियं।
अकुसेण जहा नागो
धम्मे सपडिवाइओ ॥

उस के सुभाषित वचनो को सुनकर रथनेमि धर्म मे से वैसे ही स्थिर हो गया, अकुश से हाथी हो है।

४९. मणगुत्तो वयगुत्तो
कायगुत्तो जिइन्दिओ।
निच्चल फासे
जावज्जीव वढव्वओ ॥

वह मन, वचन और से गुप्त, जितेन्द्रिय और व्रतो मे दृढ हो गया। जीवन-पर्यन्त निश्चल भाव से का रहा।

५०. चरित्ताण
दोण्णि वि केवली।
खवित्ताण
सिद्धि र ॥

उग्र तप का करके दोनो ही केवली हुए। सब कर्मों का क्षय करके उन्होने अनुत्तर 'सिद्धि' को प्राप्त किया।

५१. एव करेन्ति
पण्डिया प वखणा।
विणियट्टन्ति भोगेसु
जहा सो पुरिसोत्तमो ॥

—त्ति ।

सम्बुद्ध, पण्डित और प्रविचक्षण पुरुष ऐसा ही करते है। पुरुषोत्तम रथनेमि की तरह वे भोगो से निवृत्त हो जाते हैं।

—ऐसा मैं कहता हूं।

२२

ेः -गौतमीय

भगवान् की परम्परा
का
भगवान् महावीर की परम्परा मे ण ।

कुमार श्रमण केशी, भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा के चतुर्थ पट्टधर शिष्य थे। गौतम, भगवान् महावीर के सघ के प्रथम गणधर थे। दोनो ही महान् ज्ञानी, उदार और व्यवहार-कुशल थे। एक बार दोनो ही अपने-अपने शिष्य सघ के साथ श्रावस्ती मे आए। भगवान् पार्श्वनाथ और भगवान् महावीर की परम्पराओ मे कुछ बातो को लेकर आचार-भेद और विचार-भेद था। ज्यो ही दोनो के शिष्य एक-दूसरे के परिचय मे आए तो उनके मन मे प्रश्न खडा हुआ कि "एक ही लक्ष्य की साधना मे यह भेद क्यो है ?"

'केशी कुमार भगवान् पार्श्वनाथ की पुरानी परम्परा के प्रतिनिधि है, अत परम्परा के नाते वे मुझ से बडे हैं'—यह सोचकर गौतम अपने शिष्यो के साथ तिन्दुक उद्यान मे आए, जहाँ केशी कुमार श्रमण ठहरे हुए थे। महाप्राज्ञ गौतम का केशी कुमार ने योग्य स्वागत किया।

केशी कुमार ने गौतम से पूछा—"जबकि हम सभी का लक्ष्य एक है, तब हमारी साधना मे इतनी विभिन्नता क्यो है ? कोई सचेलक है, कोई अचेलक है। कोई चातुर्याम सवर धर्म को मान रहा है, कोई पचयाम को। हमारी मान्यताओ और धारणाओ मे उक्त विविधता का क्या रहस्य है ?"

गौतम ने समादर के साथ कहा—"भन्ते ! हमारा मूल लक्ष्य एक है, इसमे कोई सदेह नही है। जो विविधता नजर आ रही है, वह समय की बदलती हुई गति के कारण आई है। लोगो के कालानुसारी परिवर्तित होने

वाले स्वभाव और विचार के कारण आई है। बाह्याचार और वेष का केवल लोक-प्रतीति ही प्रयोजन है। मुक्ति के वास्तविक साधन तो ज्ञान, दर्शन और चारित्र ही है।"

—"भगवान् पार्श्वनाथ और उनसे भी पहले के के लोग प्रकृति से सरल थे, साथ ही भी थे, अत वे आसानी से बात समझ लेते थे और मान लेते थे, इसलिए नियमो की सख्या कम थी। सहज जीवन था, साधना भी सहज थी। अत अचेल और सचेल का प्रश्न तब नही था। किन्तु आज लोगो के स्वभाव बदल गए है। वे सहज सरल नही रहे है। बहुत जटिल हो गये है। उनके लिए साधुता की स्मृति को बनाए रखने के लिए विशिष्ट उपकरणो की परिकल्पना की है। सघ व्यवस्थित साधना कर सके, इसके लिए नियमो को व्यवस्थित करना आवश्यक हो गया है। भगवान् महावीर धर्म-साधना का देश-कालानुसार व्यावहारिक विशुद्ध रूप प्रस्तुत कर रहे है। अत भगवान् महावीर आज के घोर अधकार मे दिव्य है।"

केशी कुमार गौतम के समाधान से प्रसन्न हुए। उनके सशय मिट गए। उन्होने कृतज्ञता प्रकट की, गौतम को वदन किया। और भगवान् महावीर की सघव्यवस्था एव शासन-व्यवस्था को देश-काल की परिस्थिति के अनुरूप मानकर चतुर्याम से पचयाम साधना स्वीकार की। इस प्रकार पार्श्वनाथ के अनेक शिष्यो ने भगवान् महावीर के सघ मे शरण ग्रहण की।

भगवान् महावीर ने केशी कुमार के सचेलक सघ को अपने सघ मे बराबर का स्थान दिया। दोनो ने बदलती स्थितियो के महत्त्व को स्वीकार किया। वस्तुत समदर्शी तत्त्वद्रष्टाओ का मिलन अर्थकर होता है। वह जन-चिन्तन को सही मोड देता है, जिससे वि का पथ निर्बाध होता है।

प्रस्तुत अध्ययन मे केशी-गौतम का सवाद बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। वह युग-युग के सघन सशयो एव उलझे विकल्पो का सही समाधान उपस्थित करता है। इस प्रकार के पक्षमुक्त समत्वलक्षी परिसवादो से ही श्रुत एव शील का समुत्कर्ष होता है, महान् तत्त्वो के अर्थ का विशिष्ट निश्चय होता है, कि अध्ययन के उपसहार मे कहा है—

"सुय-सीलसमुक्करिसो,
महत्थऽत्थविणिच्छओ।"

तेविंसइमं अज्झयणं : योविंश अ न
केसिगोयमि : ेशि-गौ ोय

मूल	हिन्दी अनुवाद
१ जिणे पासे त्ति नामेण अरहा लोगपूइओ । सबुद्धप्पा य धम्मतित्थयरे जिणे ॥	पार्श्व नामक जिन, अर्हन्, लोकपूजित सम्बुद्धात्मा, सर्वज्ञ, धर्म-तीर्थ के क और वीतराग थे ।
२. लोगपईवस्स आसि सीसे महायसे । केसीकुमार — विज्जा-चरण — पारगे ॥	लोक-प्रदीप भगवान् पार्श्व के विद्या—ज्ञान और चरण—चारित्र के पारगामी, महान् यशस्वी 'केशीकुमार-श्रमण' शिष्य थे ।
३ ओहिनाण-सुए सीससघ — समाउले । गामाणुगाम रीयन्ते सावत्थि नगरिमागए ॥	वे अवधि-ज्ञान और श्रुत-ज्ञान से प्रबुद्ध थे । शिष्य-सघ से परिवृत - नुग्राम विहार करते हुए श्रावस्ती नगरी मे आए ।
४. तिन्दुय तम्मी नगरमण्डले । फासुए सिज्जसथारे वासमुवागए ॥	नगर के निकट तिन्दुक नामक मे, जहाँ प्रासुक—जीव-जन्तुरहित निर्दोष (मकान) और सस्तारक पीठ-फलकादि) थे, ठहर गए।
५ अह तेणेव कालेण धम्मतित्थयरे जिणे । वद्धमाणो त्ति सव्वलोगम्मि विस्सुए ॥	उसी समय धर्म-तीर्थ के प्रवर्त्तक, जिन, भगवान् वर्द्धमान थे, जो लोक मे थे ।

६ लोगपईवस्स आसि सीसे महायसे । गोयमे विज्जा — चरणपारगे ॥	उन लोक-प्रदीप भगवान् वर्द्धमान के विद्या और चारित्र के पारगामी, महान् यशस्वी भगवान् गौतम शिष्य थे ।
७. बारसगविऊ सीस-सघ-समाउले । गामाणुगाम रीयन्ते से वि सावत्थिमागए ॥	बारह अगो के वेत्ता, प्रबुद्ध गौतम भी शिष्य-सघ से परिवृत ग्रामानुग्राम विहार करते हुए श्रावस्ती नगरी मे आए ।
८ कोट्ठग तम्मी नयरमण्डले । फासुए सिज्जसथारे वासमुवागए ॥	नगर के निकट कोष्ठक-उद्यान मे, जहाँ प्रासुक शय्या, एव रक सुलभ थे, ठहर गए ।
९. केसीकुमार — गोयमे य महायसे । उभओ वि विहरिसु अल्लीणा सुसमाहिया ॥	कुमारश्रमण केशी और महान् यशस्वी गौतम—दोनो वहाँ विचरते थे । दोनो ही आलीन—आत्म-लीन और सुसमाहित—सम्यक् समाधि से युक्त थे ।
१०. उभओ सीससघाण तवस्सिण । तत्थ चिन्ता समुप्पन्ना गुणवन्ताण ॥	, तपस्वी, गुणवान् और षट्-काय के दोनो शिष्य-सघो मे यह चिन्तन उत्पन्न हुआ—
११. केरिसो वा इमो धम्मो ? इमो धम्मो व केरिसो ? । आयारधम्मपणिही वा सा व केरिसी ? ॥	—"यह कैसा धर्म है ? और यह कैसा धर्म है ? आचार धर्म की प्रणिधि—यह कैसी है और यह कैसी है ?"
१२. चाउज्जामो य जो धम्मो जो इमो पचसिक्खिओ । देसिओ पासेण य महामुणी ॥	—"यह चातुर्याम धर्म है, इसका प्रतिपादन महामुनि पार्श्वनाथ ने किया है । और यह पच-शिक्षात्मक धर्म है, महामुनि वर्द्धमान ने प्रतिपादन किया है ।"

१३. अचेलगो य जो धम्मो
जो इमो सन्तरुत्तरो ।
एगकज्ज — ण
विसेसे किं नु कारण ? ॥

—"यह अचेलक ( ) धर्म वर्द्ध-मान ने बताया है, और यह रोत्तर (सान्तर—वर्ण आदि से विशिष्ट तथा उत्तर—मूल्यवान् वस्त्र वाला) धर्म पार्श्वनाथ ने प्ररूपित किया है। एक ही कार्य—लक्ष्य से प्रवृत्त दोनो मे इस विशेष भेद का क्या कारण है ?"

१४ अह ते सीसाण
विन्नाय पवितक्किय ।
समागमे कयमई
उभओ केसि-गोयमा ॥

केशी और गौतम दोनो ने ही शिष्यो के प्रवितर्कित—शकायुक्त विचार विमर्श को जानकर परस्पर मिलने का विचार किया ।

१५. गोयमे पडि
सीससघ — समाउले ।
जेट्ठ कुलमवेक्खन्तो
तिन्दुय वणमागओ ॥

केशी श्रमण के कुल को जेष्ठ कुल जानकर प्रतिरूपज्ञ—यथोचित विनय व्यवहार के ज्ञाता गौतम शिष्य-सघ के साथ तिन्दुक वन मे आए ।

१६. केसीकुमार —
गोयम दिस्समागय ।
पडिरूव पडिवत्ति
सपडिवज्जई ॥

गौतम को आते हुए देखकर केशी कुमार श्रमण ने उनकी सम्यक् प्रकार से प्रतिरूप प्रतिपत्ति—योग्य आदर-सत्कार किया ।

१७ ल फासुय
कुसतणाणि य ।
गोयमस्स निसेज्जाए
खिप्प सपणामए ॥

गौतम को बैठने के लिए शीघ्र ही उन्होने प्रासुक पयाल (व्रीहि आदि चार प्रकार के धानो के पयाल-डठल) और पाँचवाँ कुश-तृण समर्पित किया ।

१८. केसीकुमार —
गोयमे य महायसे ।
उभओ निसण्णा सोहन्ति
-सूर-समप्पभा ॥

श्रमण केशीकुमार और महान् यशस्वी गौतम—दोनो बैठे हुए चन्द्र और सूर्य की तरह सुशोभित हो रहे थे ।

१९ समागया
पासण्डा कोउगा मिगा ।
गिहत्थाण अणेगाओ
साहस्सीओ समागया ॥

कौतूहल की अबोध दृष्टि से वहाँ दूसरे सम्प्रदायो के बहुत से पाषण्ड—परिव्राजक आए और अनेक सहस्र गृहस्थ भी ।

६ लोगपईवस्स
आसि सीसे महायसे ।
गोयमे
विज्जा — चरणपारगे ॥

उन लोक-प्रदीप भगवान् वर्द्धमान के विद्या और चारित्र के पारगामी, महान् यशस्वी भगवान् गौतम शिष्य थे ।

७ बारसंगविऊ
सीस-संघ-समाउले ।
गामाणुगाम रीयन्ते
से वि सावत्थिमागए ॥

बारह अंगो के वेत्ता, प्रबुद्ध गौतम भी शिष्य-संघ से परिवृत -नुग्राम विहार करते हुए श्रावस्ती नगरी मे आए ।

८ कोट्ठग
तम्मी नयरमण्डले ।
फासुए सिज्जसंथारे
वासमुवागए ॥

नगर के निकट कोष्ठक मे, जहाँ प्रासुक शय्या, एव संस्तारक सुलभ थे, ठहर गए ।

९. केसीकुमार —
गोयमे य महायसे ।
उभओ वि विहरिंसु
अल्लीणा सुसमाहिया ॥

कुमारश्रमण केशी और महान् यशस्वी गौतम—दोनो वहाँ विचरते थे । दोनो ही आलीन—आत्म-लीन और सुसमाहित—सम्यक् समाधि से युक्त थे ।

१०. उभओ सीससघाण
तवस्सिण ।
तत्थ चिन्ता समुप्पन्ना
गुणवन्ताण ताइण ॥

सयत, तपस्वी, गुणवान् और षट्-काय के दोनो शिष्य-सघो मे यह चिन्तन उत्पन्न हुआ—

११ केरिसो वा इमो धम्मो ?
इमो धम्मो व केरिसो ? ।
आयारधम्मपणिही
वा सा व केरिसी ? ॥

—"यह कैसा धर्म है ? और यह कैसा धर्म है ? आचार धर्म की प्रणिधि—यह कैसी है और यह कैसी है ?"

१२ चाउज्जामो य जो धम्मो
जो इमो पचसिक्खिओ ।
देसिओ
पासेण य महामुणी ॥

—"यह चातुर्याम धर्म है, इसका प्रतिपादन महामुनि पार्श्वनाथ ने किया है । और यह पच-शिक्षात्मक धर्म है, महामुनि वर्द्धमान ने प्रतिपादन किया है ।"

१३. अचेलगो य जो धम्मो
जो इमो सन्तरुत्तरो ।
एगकज्ज — ण
विसेसे नु कारण ? ॥

—"यह अचेलक (अवस्त्र) धर्म वर्द्धमान ने बताया है, और यह रोत्तर (र—वर्ण आदि से विशिष्ट तथा उत्तर—मूल्यवान् वस्त्र वाला) धर्म पार्श्वनाथ ने प्ररूपित किया है। एक ही कार्य—लक्ष्य से प्रवृत्त दोनो मे इस विशेष भेद का क्या कारण है ?"

१४. अह ते सीसाण
विन्नाय पवितक्किय ।
समागमे कयमई
उभओ केसि-गोयमा ॥

केशी और गौतम दोनो ने ही शिष्यो के प्रवितर्कित—शकायुक्त विचार विमर्श को जानकर परस्पर मिलने का विचार किया।

१५. गोयमे पडिरूवन्नू
सीससघ — समाउले ।
जेट्ठ कुलमवेक्खन्तो
तिन्दुय वणमागओ ॥

केशी श्रमण के कुल को जेष्ठ कुल जानकर प्रतिरूपज्ञ—यथोचित विनय व्यवहार के ज्ञाता गौतम शिष्य-सघ के साथ तिन्दुक वन मे आए।

१६. केसीकुमार — समणे
गोयम दिस्समागय ।
पडिरूव पडिवत्ति
सपडिवज्जई ॥

गौतम को आते हुए देखकर केशी कुमार श्रमण ने उनकी सम्यक् प्रकार से प्रतिरूप प्रतिपत्ति—योग्य आदर-सत्कार किया।

१७ पलाल फासुय तत्थ
पचम कुसतणाणि य ।
गोयमस्स निसेज्जाए
खिप्प सपणामए ॥

गौतम को बैठने के लिए शीघ्र ही उन्होने प्रासुक पयाल (व्रीहि आदि चार प्रकार के धानो के पयाल-डठल) और पाँचवाँ -तृण समर्पित किया।

१८. केसीकुमार —
गोयमे य महायसे ।
उभओ निसण्णा सोहन्ति
-सूर-समप्पभा ॥

श्रमण केशीकुमार और महान् यशस्वी गौतम—दोनो बैठे हुए चन्द्र और सूर्य की तरह सुशोभित हो रहे थे।

१९. समागया
पासण्डा कोउगा मिगा ।
गिहत्थाण अणेगाओ
साहस्सीओ समागया ॥

कौतूहल की अबोध दृष्टि से वहाँ दूसरे सम्प्रदायो के बहुत से पाषण्ड—परिव्राजक आए और अनेक सहस्र गृहस्थ भी।

६. लोगपईवस्स
आसि सीसे महायसे ।
गोयमे
विज्जा — चरणपारगे ॥

उन लोक-प्रदीप भगवान् वर्द्धमान के विद्या और चारित्र के पारगामी, महान् यशस्वी भगवान् गौतम शिष्य थे ।

७ बारसंगविऊ
सीस -समाउले ।
गामाणुगाम रीयन्ते
से वि सावत्थिमागए ॥

बारह अंगो के वेत्ता, प्रबुद्ध गौतम भी शिष्य-संघ से परिवृत -नुग्राम विहार करते हुए श्रावस्ती नगरी मे आए ।

८. कोट्ठग
तम्मी नयरमण्डले ।
सिज्जसंथारे
वासमुवागए ॥

नगर के निकट कोष्ठक-उद्यान मे, जहाँ प्रासुक शय्या, एवं रक सुलभ थे, ठहर गए ।

९. केसीकुमार —
गोयमे य महायसे ।
उभओ वि विहरिसु
अल्लीणा सुसमाहिया ॥

कुमारश्रमण केशी और महान् यशस्वी गौतम—दोनो वहाँ विचरते थे । दोनो ही आलीन—आत्म-लीन और सुसमाहित—सम्यक् समाधि से युक्त थे ।

१०. उभओ सीससंघाण
तवस्सिण ।
चिन्ता समुप्पन्ना
गुणवन्ताण ॥

, तपस्वी, गुणवान् और षट्-काय के दोनो शिष्य-संघो मे यह चिन्तन उत्पन्न हुआ—

११ केरिसो वा इमो धम्मो ?
इमो धम्मो व केरिसो ? ।
आयारधम्मपणिही
वा सा व केरिसी ? ॥

—"यह कैसा धर्म है ? और यह कैसा धर्म है ? आचार धर्म की प्रणिधि— यह कैसी है और यह कैसी है ?"

१२. चाउज्जामो य जो धम्मो
जो इमो पंचसिक्खिओ ।

पासेण य महामुणी ॥

—"यह चातुर्याम धर्म है, इसका प्रतिपादन महामुनि पार्श्वनाथ ने किया है । और यह पंच-शिक्षात्मक धर्म है, महामुनि वर्द्धमान ने प्रतिपादन किया है ।"

१३. अचेलगो य जो धम्मो
जो इमो सन्तरुत्तरो ।
एगकज्ज — ण
विसेसे किं नु कारण ? ॥

—"यह अचेलक ( ) धर्म वर्द्ध-मान ने बताया है, और यह सान्तरोत्तर (सान्तर—वर्ण आदि से विशिष्ट तथा उत्तर—मूल्यवान् वस्त्र वाला) धर्म पार्श्वनाथ ने प्ररूपित किया है। एक ही कार्य—लक्ष्य से प्रवृत्त दोनों में इस विशेष भेद का क्या कारण है ?"

१४ अह ते तत्थ सीसाण
विन्नाय पवितक्किय ।
समागमे कयमई
उभओ केसि-गोयमा ॥

केशी और गौतम दोनो ने ही शिष्यों के प्रवितर्कित—शकायुक्त विचार विमर्श को जानकर परस्पर मिलने का विचार किया।

१५ गोयमे पडि
सीससघ — समाउले ।
जेट्ठ कुलमवेक्खन्तो
तिन्दुय वणमागओ ॥

केशी श्रमण के कुल को जेष्ठ कुल जानकर प्रतिरूपज्ञ—यथोचित विनय व्यवहार के ज्ञाता गौतम शिष्य-सघ के साथ तिन्दुक वन मे आए।

१६ केसीकुमार —
गोयम विस्समागय ।
पडिरूव पडिवत्ति
सपडिवज्जई ॥

गौतम को आते हुए देखकर केशी कुमार श्रमण ने उनकी सम्यक् प्रकार से प्रतिरूप प्रतिपत्ति—योग्य आदर-सत्कार किया।

१७ फासुय तत्थ
पचम कुसतणाणि य ।
गोयमस्स निसेज्जाए
खिप्प सपणामए ॥

गौतम को बैठने के लिए शीघ्र ही उन्होने प्रासुक पयाल (व्रीहि आदि चार प्रकार के धानो के पयाल-डठल) और पाँचवाँ कुश-तृण समर्पित किया।

१८. केसीकुमार —
गोयमे य महायसे ।
उभओ निसण्णा सोहन्ति
चन्द-सूर-समप्पभा ॥

श्रमण केशीकुमार और महान् यशस्वी गौतम—दोनो बैठे हुए चन्द्र और सूर्य की तरह सुशोभित हो रहे थे।

१९ समागया
पासण्डा कोउगा मिगा ।
गिहत्थाण अणेगाओ
साहस्सीओ समागया ॥

कौतूहल की अबोध दृष्टि से वहाँ दूसरे सम्प्रदायो के बहुत से पाषण्ड—परिव्राजक आए और अनेक सहस्र गृहस्थ भी।

२०. देव -गन्धव्वा
- -किन्नरा ।
अदिस्साण च
आसी ॥

देव, , गन्धर्व, यक्ष, , किन्नर और अदृश्य भूतो का वहाँ एक तरह से —मेला सा हो गया था।

२१. पुच्छामि ते महाभाग !
गोयममब्बवी ।
तओ त तु
गोयमो ॥

केशी ने गौतम से कहा—"महाभाग ! मैं तुमसे पूछना चाहता हूँ।" केशीके यह कहने पर गौतम ने कहा—

२२. पुच्छ भन्ते ! जहिच्छं ते
केसिं गोयममब्बवी ।
केसी अणुन्नाए
गोयम ॥

—"भन्ते ! जैसी भी इच्छा हो।, पूछिए।
तदनन्तर अनुज्ञा पाकर केशी ने गौतम को इस प्रकार कहा—

२३ चाउज्जामो य जो धम्मो
जो पंचसिक्खिओ ।
देसिओ
पासेण य महामुणी ॥

—"यह चतुर्याम धर्म है। इसका महामुनि पार्श्वनाथ ने प्रतिपादन किया है। यह जो पंच-शिक्षात्मक धर्म है, प्रतिपादन महामुनि वर्द्धमान ने किया है।"

२४. एगकज्जपवन्नाण
वि किं नु ? ।
धम्मे दुविहे मेहावि !
विप्पच्चओ न ते ? ॥

—"मेधाविन् ! एक ही उद्देश्य को लेकर प्रवृत्त हुए हैं, तो फिर इस भेद का क्या कारण है ? इन दो प्रकार के धर्मो मे तुम्हे विप्रत्यय—सन्देह कैसे नही होता ?"

२५ तओ बुवंत तु
गोयमो इणमब्बवी ।
समिक्खए
तत्तविणिच्छयं ॥

केशी के कहने पर गौतम ने इस कहा—
—"तत्त्व का निर्णय जिसमे होता है, ऐसे धर्मतत्त्व की समीक्षा प्रज्ञा करती है।"

२६ पुरिमा उज्जुजडा उ
य पच्छिमा ।
मज्झिमा उज्जुपन्ना य
तेण धम्मे दुहा कए ॥

—"प्रथम तीर्थंकर के साधु और जड होते है। अन्तिम तीर्थंकर के साधु वक्र और जड होते हैं। बीच के तीर्थंकरो के साधु ऋजु और प्राज्ञ होते है। अत धर्म दो से कहा है।"

२७ पुरिमाण दुव्विसोज्झो उ
चरिमाण दुरणुपालओ।
कप्पो मज्झिमगाण तु
सुविसोज्झो सुपालओ ॥

—"प्रथम तीर्थंकर के मुनियों द्वारा कल्प—आचार को यथावत् ग्रहण कर लेना कठिन है। अन्तिम तीर्थंकर के मुनियों द्वारा कल्प को यथावत् ग्रहण करना और पालन करना कठिन है। मध्यवर्ती तीर्थ करो के मुनियो कल्प को यथावत् ग्रहण करना और उसका पालन करना सरल है।"

२८. साहु गोयम ! ते
छिन्नो मे ो इमो।
अन्नो वि ो
त मे कहसु गोयमा ! ॥

केशीकुमार श्रमण—

—"गौतम ! तुम्हारी प्रज्ञा श्रेष्ठ है। तुमने मेरा यह सन्देह दूर कर दिया। मेरा एक और भी सदेह है। गौतम ! उसके विषय मे भी मुझे कहे।"

२९ अचेलगो य जो ो
जो इमो सन्तरुत्तरो।
देसिओ वद्धमाणेण
पासेण य महाजसा।

—"यह अचेलक धर्म वर्द्धमान ने बताया है, और यह सान्तरोत्तर (वर्णादि से विशिष्ट एव मूल्यवान् वस्त्र वाला) धर्म महायशस्वी पार्श्व ने प्रतिपादन किया है।"

३०. एगकज्जपवन्नाण
विसेसे किं नु ?।
लिंगे दुविहे मेहावि !
कह विप्पच्चओ न ते ? ॥

—'एक ही कार्य—उद्देश्य से प्रवृत्त दोनो मे भेद का कारण क्या है ? मेधावी! लिंग के इन दो प्रकारो मे तुम्हे कैसे सशय नही होता है ?"

३१ केसिमेव बुवाण तु
गोयमो इणमब्बवी।
विन्नाणेण समागम्म
धम्मसाहणमिच्छियं ॥

केशी के यह कहने पर गौतम ने इस प्रकार कहा—"विज्ञान से—विशिष्ट ज्ञान से अच्छी तरह धर्म के साधनो—उपकरणो को जानकर ही उनकी अनुमति दी गई है।"

गणधर गौतम—

३२ पच्चयत्थं च लोगस्स
नाणाविहविगप्पण।
जत्तत्थं गहणत्थं च
लोगे लिंगप्पओयण ॥

—"नाना प्रकार के उपकरणो की परिकल्पना लोगो की प्रतीति के लिए है। सयमयात्रा के निर्वाह के लिए, और 'मै साधु हूँ,'—यथाप्रसग इसका बोध रहने के लिए ही लोक मे लिंग का प्रयोजन है।"

३३. अह भवे उ
मोक्खसब्भूयसाहणे ।
नाण च चेव
चरित्त चेव निच्छए ॥

—"वास्तव मे दोनो तीर्थंकरो का एक ही सिद्धान्त है कि मोक्ष के वास्तविक साधन ज्ञान, दर्शन, और चारित्र ही है।"

केशीकुमार श्रमण—

३४. साहु गोयम ! ा ते
ि ो मे ससओ इमो ।
ो वि ससओ
त मे कहसु गोयमा ! ॥

—"गौतम ! तुम्हारी प्रज्ञा श्रेष्ठ है। तुमने मेरा यह सदेह तो दूर कर दिया। मेरा एक और भी सदेह है। गौतम ! उस विषय मे भी मुझे कहे।"

३५ ण सहस्साण
मज्झे चिट्ठसि गोयमा ! ।
ते य ते अहिगच्छन्ति
ते निि तुमे ? ॥

—"गौतम ! अनेक सहस्र शत्रुओ के बीच मे तुम खडे हो। वे तुम्हे जीतना चाहते हैं। तुमने उन्हे कैसे जीता ?"

गणधर गौतम—

३६. एगे जिए जिया पच
पच जिए जिया दस।
दसहा उ जिणित्ताण
जिणामह ॥

—"एक को जीतने से पाँच जीत लिए गए और पाँच को जीत लेने से दस जीत लिए गए। दसो को जीतकर मैंने सब शत्रुओ को जीत लिया।"

केशी कुमार —

३७. य इइ के वुत्ते ?
केसी गोयममब्बवी ।
तओ वु
गोयमो इणमब्बवी ॥

—"गौतम ! वे शत्रु कौन होते हैं?" केशी ने गौतम को कहा।

केशी के यह पूछने पर गौतमने इस कहा—

गणधर गौतम—

३८. ए अजिए
इन्दियाणि य ।
ते जिणित्तु जहानाय
विहरामि अह मुणी ! ॥

—"मुने ! न जीता हुआ एक अपना आत्मा ही शत्रु है। और इन्द्रियाँ भी शत्रु हैं। उन्हे जीतकर नीति के अनुसार मैं विचरण हूँ।"

केशीकुमार —

३९ साहु गोयम ! ते
छिन्नो मे ससओ इमो ।
अन्नो वि ससओ
त मे गोयमा ! ॥

—"गौतम ! तुम्हारी प्रज्ञा श्रेष्ठ है। तुमने मेरा यह सदेह दूर किया। मेरा एक और भी सदेह है। गौतम ! उस विषय मे भी मुझे कहे।"

४०. दीसन्ति बहवे लोए
सरीरिणो ।
मुक्कपासो लहुब्भूओ
त विहरसी मुणी ।।

—"इस ससार मे बहुत से जीव पाश से बद्ध है। मुने! तुम बन्धन से मुक्त और लघुभूत—प्रतिबन्धरहित हल्के होकर कैसे विचरण करते हो?"

गणधर गौतम—

४१. ते पासे सव्वसो छित्ता
निहन्तूण उवायओ ।
मुक्कपासो भूओ
विहरामि अह मुणी ! ।।

"मुने! उन बन्धनो को सब प्रकार से काट कर, उपायो से विनष्ट कर मै बन्धन-मुक्त और हलका होकर विचरण करता हूँ।"

केशी कुमार श्रमण—

४२. य के वुत्ता ?
केसी गोयममब्बवी ।
केसिमेव तु
गोयमो इणमब्बवी ।।

—"गौतम! वे बन्धन कौनसे है?" केशी ने गौतम को पूछा। केशी के पूछने पर गौतम ने इस प्रकार कहा—

गणधर गौतम—

४३. रागद्दोसादओ तिव्वा
नेहपासा ।
ते छिन्दित्तु जहानाय
विहरामि ज ।

—"तीव्र षादि और स्नेह हैं। उन्हे काट कर धर्म-नीति एव आचार के अनुसार मैं विचरण हूँ।"

केशी कुमार —

४४. साहु गोयम! पन्ना ते
छिन्नो मे ससओ इमो ।
अन्नो वि ससओ
तं मे गोयमा ! ।।

—"गौतम! तुम्हारी प्रज्ञा श्रेष्ठ है। तुमने मेरा यह सदेह दूर किया। मेरा एक और भी सदेह है, गौतम! उसके विषय मे भी मुझे कहे।"

४५ अन्तोहियय—सभूया
चिट्ठइ गोयमा ! ।
फलेइ विसभक्खीणि
सा उ उद्धरिया ? ।।

—"गौतम! हृदय के भीतर एक लता है। उसको विष-तुल्य फल लगते हैं। उसे तुमने कैसे ?"

गणधर गौतम—

४६. त सव्वसो छित्ता
उद्धरित्ता समूलिय ।
विहरामि जहानाय
मुक्को मि विसभक्खण ॥

—"उस लता को काट कर एव जड से कर नीति के अनुसार मैं विचरण करता हूँ। अत मैं विष-फल खाने से मुक्त हूँ।"

केशी कुमार श्रमण—

४७ य का वुत्ता ?
केसी गोयममब्बवी ।
केसिमेव तु
गोयमो इणमब्बवी ॥

—"वह लता कौनसी है?" केशी ने गौतम को कहा ।

केशी के पूछने पर गौतम ने इस प्रकार कहा—

गणधर गौतम—

४८. भवतण्हा वुत्ता
भीमा भीमफलोदया ।
तमुद्धरित्तु जहानाय
विहरामि महामुणी ! ॥

—"भवतृष्णा ही भयकर लता है। उसके भयकर परिपाक वाले फल लगते है। हे महामुने ! उसे जड से उखाडकर मैं नीति के अनुसार विचरण करता हूँ।"

केशीकुमार श्रमण—

४९. साहु गोयम ! ते
छिन्नो मे ससओ इमो ।
ो वि ससओ
त मे गोयमा ! ॥

—"गौतम ! तुम्हारी प्रज्ञा श्रेष्ठ है। तुमने मेरा यह सदेह दूर किया। मेरा एक और सदेह है। गौतम ! उसके विषय मे भी मुझे कहे।"

५०. सपज्जलिया घोरा
अग्गी ि गोयमा ! ।
जे डहन्ति सरीरत्था
विज्झाविया ? ॥

—"घोर प्रचण्ड अग्नियाँ प्रज्वलित हैं। वे शरीरस्थो—जीवो को जलाती हैं। उन्हे तुमने कैसे बुझाया ?"

गणधर गौतम—

५१ महामेहप्पसूयाओ
गिज्झ वारि जलुत्तम ।
सिंचामि सयय देह
सित्ता नो व न्ति मे ॥

—"महामेघ से प्रसूत पवित्र-जल को लेकर मैं उन अग्नियो का निरन्तर सिंचन हूँ। अत सिंचन की गई अग्निया मुझे नही जलाती हैं।"

५२. अग्गी य के वुत्ता ?
केसी गोयममब्बवी ।
केसिमेव तु
गोयमो इणमब्बवी ॥

केशीकुमार श्रमण—

—"वे कौन-सी अग्नियाँ है ?" केशी ने गौतम को कहा । केशी के पूछने पर गौतम ने इस प्रकार कहा—

५३. अग्गिणो वुत्ता
सुय-सील-तवो ॥
सुयधाराभिहया
भिन्ना हु न डहन्ति मे ॥

गणधर गौतम—

—"कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ) अग्नियाँ है। श्रुत, शील और तप जल है । श्रुत-शील-तप-रूप जल-धारा से बुझी हुई और नष्ट हुई अग्नियाँ मुझे नही जलाती है ।"

५४. साहु गोयम ! पन्ना ते
छिन्नो मे ससओ इमो ॥
अन्नो वि ससओ
त मे गोयमा ! ॥

केशीकुमार श्रमण—

—"गौतम ! तुम्हारी प्रज्ञा श्रेष्ठ है । तुमने मेरा सदेह दूर किया है । मेरा एक और भी सदेह है । गौतम ! उसके विषय मे भी मुझे कहे ।"

५५. अय साहसिओ भीमो
दुट्ठस्सो परिधावई ।
जसि गोयम ! ाे
कह तेण न हीरसि ? ॥

—"यह साहसिक, भयकर, दुष्ट दौड रहा है । गौतम ! तुम उस पर चढे हुए हो । वह तुम्हे उन्मार्ग पर कैसे नही ले जाता है ?"

५६ पधावन्त निगिण्हामि
रस्सीसमाहिय ।
न मे गच्छइ उम्मग्ग
मग्ग च पडिवज्जई ॥

गणधर गौतम—

—"दौडते हुए को मैं श्रुत-रश्मि से—श्रुतज्ञान की लगाम से वश मे करता हूँ । मेरे अधीन हुआ उन्मार्ग पर नही जाता है, अपितु सन्मार्ग पर ही चलता है ।"

५७ अस्से य के वुत्ते ?
केसी गोयममब्बवी ।
केसिमेवं तु
गोयमो इणमब्बवी ॥

केशी कुमार श्रमण—

—"अश्व किसे कहा गया है ?" केशी ने गौतम को कहा ।

केशी के पूछने पर गोतम ने इस प्रकार कहा—

गणधर गौतम—

५८ मणो साहसिओ भीमो
दुट्ठस्सो परिधावई ।
त निगिण्हामि
धम्मसिक्खाए ॥

—"मन ही साहसिक, , दुष्ट है, जो चारो दौडता है। उसे मैं अच्छी तरह वश मे हूँ। धर्म-शिक्षा से वह —उत्तम जाति का हो गया है।"

केशीकुमार —

५९ साहु गोयम ! पन्ना ते
छिन्नो मे ससओ इमो ।
अन्नो वि ससओ
त मे कहसु गोयमा ! ॥

—"गौतम ! तुम्हारी प्रज्ञा श्रेष्ठ है। तुमने मेरा यह सदेह दूर किया। मेरा एक और भी सदेह है। गौतम ! उसके विषय मे भी मुझे कहे।"

६०. कुप्पहा बहवो लोए
ज हि नासन्ति जतवो !
अद्धाणे कह वट्टन्ते
त न नस्ससि ? गोयमा ! ॥

—"गौतम ! लोक मे कुमार्ग बहुत हैं, जिससे लोग जाते हैं। मार्ग पर पर चलते हुए तुम क्यो नही भटकते हो ?"

गणधर गौतम—

६१. जे य मग्गेण गच्छन्ति
जे य उम्मग्गपट्ठिया ।
ते सव्वे विइया
तो न नस्सामह मुणी ! ॥

—"जो सन्मार्ग से चलते है और जो उन्मार्ग से चलते हैं, उन सबको मैं जानता हूँ। अत हे मुने ! मैं नही भट-कता हूँ।

केशी कुमार श्रमण—

६२. मग्गे य के वुत्त ?
केसी गोयममब्बवी ।
केसिमेव तु
गोयमो इणमब्बवी ॥

—"मार्ग किसे कहते है ?" केशी ने गौतम को कहा।

के पूछने पर गौतम ने यह —

गौतम—

६३. कुप्पवयण—पासण्डी
सव्वे उम्मग्गपट्ठिया ।
सम्मग्ग तु जिणक्खायं
एस मग्गे हि उत्तमे ॥

—"मिथ्या को मानने वाले सभी पाषण्डी—व्रती लोग पर चलते हैं। सन्मार्ग तो जिनोपदिष्ट है, और यही मार्ग है।"

केशी कुमार श्रमण—

६४. साहु गोयम ! ते
छिन्नो मे ससओ इमो।
अन्नो वि ससओ
त मे गोयमा ! ॥

—"गौतम ! तुम्हारी प्रज्ञा है। तुमने मेरा यह सदेह दूर किया। मेरा एक और भी सदेह है। गौतम ! उसके विपय मे भी मुझे कहे।"

६५. महाउदग—वेगेण
वुज्झमाणाण पाणिण।
गई पइट्ठा य
दीव क मन्नसी मुणी ?

—"मुने ! महान् जल-प्रवाह के वेग से बहते-डूबते हुए प्राणियो के लिए शरण, गति, प्रतिष्ठा और द्वीप तुम किसे मानते हो ?"

गणधर गौतम—

६६. अत्थि एगो महादीवो
वारिमज्झे महालओ।
महाउदगवेगस्स
गई तत्थ न विज्जई ॥

—"जल के बीच एक विशाल महाद्वीप है। वहाँ महान् जल-प्रवाह के वेग की गति नही है।"

केशी कुमार श्रमण—

६७. दीवे य के वुत्ते ?
गोयममब्बवी।
केसिमेव तु
गोयमो इणमब्बवी ॥

—"वह महाद्वीप कौन सा है ?" केशी ने गौतम को कहा।

केशी के पूछने पर गौतम ने यह कहा—

गौतम—

६८ —मरणवेगेण
वुज्झमाणाण पाणिण।
धम्मो दीवो पइट्ठा य
गई सरणमुत्तम ॥

—"जरा-मरण के वेग से बहते-डूबते हुए प्राणियो के लिए धर्म ही द्वीप, प्रतिष्ठा, गति और उत्तम है।"

केशीकुमार श्रमण—

६९ साहु गोयम ! ते
छिन्नो मे ससओ इमो।
अन्नो वि ससओ
त मे कहसु गोयमा ! ॥

—"गौतम ! तुम्हारी प्रज्ञा श्रेष्ठ है। तुमने मेरा यह सदेह दूर किया, मेरा एक और भी सदेह है। गौतम ! उसके विषय मे भी मुझे कहे।"

७० वसि महोहसि
विपरिधावई ।
जसि गोयममारूढो
कह पार गमिस्ससि ? ॥

—"गौतम ! महाप्रवाह वाले समुद्र मे नौका रही है। तुम उस पर कैसे पार जा सकोगे ?"

गणधर गौतम—

७१ जा उ अस्साविणी
न सा गामिणी ।
जा निरस्साविणी
सा उ गामिणी ॥

—"जो नौका छिद्रयुक्त है, वह पार नही जा सकती है । जो छिद्ररहित है, वही नौका पार जाती है ।"

केशी कुमार —

७२ य का वुत्ता ?
केसी गोयममब्बवी ।
केसिमेवं बुवंतं तु
गोयमो इणमब्बवी ॥

—"वह नौका कौन सी है ?" केशी ने गौतम को कहा ।

केशी के पूछने पर गौतम ने यह —

गौतम—

७३ सरीरमाहु त्ति
जीवो वुच्चइ नाविओ ।
संसारो अण्णवो वुत्तो
ज तरन्ति महेसिणो ॥

—"शरीर नौका है, जीव नाविक —मल्लाह है और समुद्र है, जिसे महर्षि तैर जाते हैं ।"

केशी कुमार श्रमण—

७४ साहु गोयम ! ते
छिन्नो मे ो इमो ।
अन्नो वि ससओ
त मे गोयमा ! ॥

—"गौतम ! तुम्हारी प्रज्ञा श्रेष्ठ है । तुमने मेरा यह सदेह दूर किया । मेरा एक और भी सदेह है । गौतम ! उसके विषय मे भी मुझे कहे ।"

७५ अन्धयारे तमे घोरे
चिट्ठन्ति पाणिणो ।
को करिस्सइ उज्जोय
सव्वलोगम्मि पाणिण ? ॥

—"भयकर गाढ अन्धकार मे बहुत से प्राणी रह रहे हैं । सम्पूर्ण लोक मे प्राणियो के लिए कौन करेगा ?"

गणधर गौतम—

७६ उग्गओ विमलो भाणू
सव्वलोगप्पभकरो ।
सो करिस्सइ उज्जोय
लोगम्मि पाणिण ॥

—'सम्पूर्ण जगत् मे करने वाला निर्मल सूर्य उदित हो चुका है। वह सब प्राणियो के लिए करेगा।"

केशी कुमार श्रमण—

७७. भाणू य के वुत्ते ?
केसी गोयममब्बवी ।
केसिमेव तु
गोयमो इणमब्बवी ॥

—"वह सूर्य कौन है ?" केशी ने गौतम को कहा ।

केशी के पूछने पर गौतम ने यह कहा—

गणधर गौतम—

७८ उग्गओ खीणससारो
जिणभक्खरो ।
सो करिस्सइ उज्जोयं
सव्वलोयम्मि पाणिण ॥

—"जिसका ससार क्षीण हो गया है, जो सर्वज्ञ है, ऐसा जिन-भास्कर उदित हो चुका है। वह सब प्राणियो के लिए करेगा।"

केशी कुमार श्रमण—

७९. साहु गोयम ! ते
छिन्नो मे ससओ इमो ।
अन्नो वि ससओ म
त मे कहसु गोयमा ! ॥

—"गौतम ! तुम्हारी प्रज्ञा श्रेष्ठ है। तुमने मेरा यह सदेह दूर किया। मेरा एक और भी सदेह है। गौतम ! उसके विषय मे भी मुझे कहे।"

८०. सारीर-माणसे दुक्खे
पाणिण ।
खेम सिवमणाबाहं
किं मन्नसी मुणी ? ॥

—"मुने ! शारीरिक और मानसिक दुःखो से पीड़ित प्राणियो के लिए तुम क्षेम, शिव और अनाबाध—बाधारहित कौन-सा स्थान मानते हो ?"

गणधर गौतम—

८१. अत्थि एग
लोगग्गम्मि दुरारुह ।
नत्थि मच्चू
वाहिणो वेयणा तहा ॥

—"लोक के अग्र-भाग मे एक ऐसा है, जहाँ जरा नही है, नही है, व्याधि और नही है। परन्तु वहाँ पहुँचना बहुत कठिन है।"

केशीकुमार —

८२. ठाणे य के वुत्ते ?
केसी गोयममब्बवी ।
केसिमेव बुवंत तु
गोयमो इणमब्बवी ॥

—"वह कौन सा है ।" केशी ने गौतम को कहा ।

केशी के पूछने पर गौतम ने इस कहा—

गणधर गौतम

८३. निव्वाण ति अबाहं ति
सिद्धी लोगग्गमेव य ।
खेम सिवं अणाबाह
ज चरन्ति महेसिणो ॥

—"जिस स्थान को महर्षि प्राप्त करते है, वह स्थान निर्वाण है, है, सिद्धि है, लोकाग्र है । क्षेम, शिव और अनाबाध है ।"

८४ त
लोगग्गमि दुरारुह ।
ज सपत्ता न सोयन्ति
भवोहन्तकरा मुणी ॥

—"भव-प्रवाह का अन्त करने वाले मुनि जिसे प्राप्त कर शोक से मुक्त हो जाते हैं, वह लोक के अग्रभाग मे रूप से अवस्थित है, जहाँ पहुँच पाना कठिन है ।"

केशी कुमार —

८५ साहु गोयम ! ते
छिन्नो मे ससओ इमो ।
नमो ते ससयाईय
सव्वसुत्तमहोयही ! ॥

—"गौतम ! तुम्हारी प्रज्ञा श्रेष्ठ है । तुमने मेरा यह सन्देह भी दूर किया । हे ीत ! सर्व श्रुत के महोदधि ! तुम्हे मेरा नमस्कार है ।"

उपसहार—

८६. एवं तु ससए छिन्ने
केसी घोरपरक्कमे ।
अभिवन्दित्ता सिरसा
गोयम तु महायसं ॥

इस प्रकार के दूर होने पर घोर पराक्रमी केशीकुमार, महान् यशस्वी गौतम को शिर से कर—

८७ पचमहव्वयधम्म
पडिवज्जइ भावओ ।
पुरि पच्छिममी
मग्गे सुहावहे ॥

प्रथम और अन्तिम जिनो के द्वारा उपदिष्ट एव सुखावह पचमहाव्रतरूप धर्म के मार्ग मे भाव से प्रविष्ट हुए ।

८८. गोयमओ निच्चं
तम्मि आसि समागमे।
सुयसीलसमुक्करिसो
महत्थऽत्थविणिच्छओ ॥

वहाँ तिन्दुक उद्यान मे केशी और गौतम दोनो का जो यह समागम हुआ, उसमे श्रुत तथा शील का उत्कर्ष और महान् तत्त्वो के अर्थों का विनिश्चय हुआ।

८९. तोसिया परिसा
सम्मग्गं समुवट्ठिया।
संथुया ते पसीयन्तु
केसिगोयमे ॥

समग्र सभा धर्मचर्चा से सतुष्ट हुई। अत सन्मार्ग मे समुपस्थित उसने भगवान् केशी और गौतम की स्तुति की कि वे दोनो प्रसन्न रहे।

—त्ति बेमि

—ऐसा मैं कहता हूँ।

२४

- ।

‘समिति’ का है—‘ प्रवृत्ति।’
‘गुप्ति’ का अभिप्राय है—‘अशुभ से निवृत्ति।’

माँ क्या करती है ? और क्या चाहती है ? वह अपने बेटे को सतत सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा देती है। वह गलत मार्ग पर कभी न चले, इसका ध्यान रखती है।

पाँच समिति और तीन गुप्ति को ‘अष्ट प्रवचन-माता’ कहा गया है। वह माँ की तरह की देखभाल करती है। साधक विवेकपूर्वक गमनागमन करे। विवेक और सयम से बोले। मर्यादा के अनुसार आहार ग्रहण करे। अपने उपकरणो का सावधानी से उपयोग करे। उन्हे अहिंसक और व्यवस्थित रीति से रखे। मूल-मूत्र आदि के उत्सर्ग के लिए उचित स्थान की खोज करे। ये पाँच समितियाँ है।

मन से असत् विचार न करे, असत् चिन्तन न करे। वचन से असत्य तथा कटु भाषा न बोले। काया से असत् व्यवहार एव आचरण न करे।

चलने के समय, बोलने के अन्य किसी भी कार्य को करते समय उसकी ओर ही उन्मुख रहे, एकनिष्ठ रहे, और उस इधर-उधर के अन्य सब विकल्प छोड दे।

ये पाँच समितियाँ और तीन गुप्तियाँ पाँच महाव्रतो को सुरक्षित रखने के लिए है। इनका पालन साधु के लिए नितान्त है। और भी न करे, केवल पाँच समिति और तीन गुप्ति का विशुद्ध रूप से पालन करे, तो भी अपने को प्राप्त कर है।

२४

-   ।

'समिति' का ' है—' ,प्रवृत्ति।'
'गुप्ति' का अभिप्राय है—'अशुभ से निवृत्ति।'

माँ क्या करती है? और क्या चाहती है? वह अपने बेटे को सतत सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा देती है। वह गलत मार्ग पर कभी न चले, इसका ध्यान रखती है।

पाँच समिति और तीन गुप्ति को 'अष्ट प्रवचन-माता' कहा गया है। वह माँ की तरह की देखभाल करती है। साधक विवेकपूर्वक गमनागमन करे। विवेक और संयम से बोले। मर्यादा के अनुसार आहार ग्रहण करे। अपने उपकरणो का सावधानी से उपयोग करे। उन्हे अहिंसक और व्यवस्थित रीति से रखे। मूल-मूत्र आदि के उत्सर्ग के लिए उचित स्थान की खोज करे। ये पाँच समितियाँ है।

मन से असत् विचार न करे, असत् चिन्तन न करे। वचन से असत्य तथा कटु भाषा न बोले। काया से असत् व्यवहार एव आचरण न करे।

चलने के , बोलने के समय अन्य किसी भी कार्य को करते समय उसकी ओर ही उन्मुख रहे, एकनिष्ठ रहे, और उस समय इधर-उधर के अन्य सब विकल्प छोड दे।

ये पाँच समितियाँ और तीन गुप्तियाँ पाँच महाव्रतो को सुरक्षित रखने के लिए हैं। इनका पालन साधु के लिए नितान्त आवश्यक है। और भी न करे, केवल पाँच समिति और तीन गुप्ति का विशुद्ध रूप से पालन करे, तो भी अपने को प्राप्त कर है।

चउविसइमं अज्झयणं : च विश अ

ण- : -माता

मूल	हिन्दी अनुवाद
१ अट्ठ पवयणमायाओ समिई गुत्ती तहेव य । पचेव य समिईओ तओ गुत्तीओ आहिया ॥	समिति और गुप्ति-रूप आठ प्रवचन-माताएँ है । समितियाँ पाँच हैं । गुप्तियाँ तीन है ।
२. इरियाभासेसणादाणे उच्चारे समिई इय । मणगुत्ती वयगुत्ती कायगुत्ती य अट्ठमा ॥	ईर्या समिति, भाषा समिति, एषणा समिति, आदान समिति और समिति । मनो-गुप्ति, वचन गुप्ति और आठवी माता काय-गुप्ति है ।
३. एयाओ समिईओ समासेण वियाहिया । दुवालसगं जिणक्खायं उ ॥	ये आठ समितियाँ सक्षेप मे कही गई है । इनमे जिनेन्द्र—कथित द्वादशाग—रूप अन्तर्भूत है ।
	ईर्या समिति—
४ आलम्बणेण कालेण मग्गेण य । चउकारणपरिसुद्ध सजए इरियं रिए ॥	सयती , काल, मार्ग और यतना—इन चार कारणो से परिशुद्ध ईर्या समिति से विचरण करे ।
५. आलंबणं दंसणं तहा । काले य दिवसे वुत्ते मग्गे उप्पहवज्जिए ॥	ईर्या समिति का —ज्ञान, दर्शन और चारित्र है । काल दिवस है । और मार्ग का वर्जन है ।

६. दव्वओ खेत्तओ चेव
कालओ ओ तहा।
जयणा चउव्विहा वुत्ता
तं मे कित्तयओ सुण॥

द्रव्य, क्षेत्र और भा
अपेक्षा से यतना चार प्रकार की
उसको मैं कहता हूँ। सुनो।

७. दव्वओ चक्खुसा पेहे
जुगं य खेत्तओ।
कालओ रीएज्जा
उवउत्ते य भावओ॥

द्रव्य से—आँखों से देखे।
क्षेत्र से—युगमात्र भूमि को देखे
से—जब तक चलता र
तक देखे।
भाव से —उपयोगपूर्वक गमन

८ इन्दियत्थे विवज्जित्ता
चेव पंचहा।
तम्मुत्ती तप्पुरक्कारे
उवउत्ते इरियं रिए॥

इन्द्रियों के विषय और
प्रकार के स्वाध्याय का कार्य छ
मात्र गमन-क्रिया मे ही तन्मय हो,
को प्रमुख महत्त्व देकर उपयोग
चले।

समिति—

९. कोहे माणे य मायाए
लोभे य उवउत्तया।
हासे भए मोहरिए
विगहासु तहेव य॥

क्रोध, मान, माया, लोभ, ह
भय, वाचालता और विकथा के प्रति
उपयोगयुक्त रहे।

१०. एयाइं अट्ठ ठाणाइं
परिवज्जित्तु संजए।
सिय काले
भासं भासेज्ज ॥

प्रज्ञावान्- सयती इन आठ स
को छोड़कर यथासमय निरवद्य—दोषर
और परिमित भाषा बोले।

समिति—

११. गवेसणाए गहणे य
परिभोगेसणा य जा।
आहारोवहि-सेज्जाए
एए तिन्नि विसोहए॥

गवेषणा, ग्रहणैषणा और प
भोगैषणा से आहार, उपधि और श
का परिशोधन करे।

१२. उग्गमुप्पायण पढमे
बीए सोहेज्ज एसणं।
परिभोयम्मि
विसोहेज्ज जई ॥

यतनापूर्वक प्रवृत्ति करने यति एषणा (आहारादि की गवेषणा) मे उद्‌गम और उत्पादन दोषो का शोधन करे। दूसरी एषणा (ग्रहणैषणा) मे आहारादि ग्रहण करने से सम्बन्धित दोषो का शोधन करे। परिभोगैषणा मे दोष-चतुष्क का शोधन करे।

निक्षेप समिति—

१३. ओहोवहोवग्गहिय
बुविहं मुणी।
गिण्हन्तो निक्खिवन्तो य
पउजेज्ज विहिं ॥

मुनि ओघ-उपधि (सामान्य उपकरण) और औपग्रहिक उपधि (विशेष उपकरण) दोनो के उपकरणो को लेने और रखने मे इस विधि का प्रयोग करे।

१४. चक्खुसा पडिलेहित्ता
पमज्जेज्ज जई।
निक्खिवेज्जा वा
दुहओ वि समिए ॥

यतनापूर्वक प्रवृत्ति करने यति दोनो के उपकरणो को आंखो से प्रतिलेखन एव प्रमार्जन करके ले और रखे।

पारिष्ठापना समिति—

१५
खेल सिंघाण-जल्लिय।
आहारं उवहिं देहं
वावि तहाविहं ॥

उच्चार— मल, — मूत्र, श्लेष्म—कफ, सिंघानक—नाक का मैल, —शरीर का मैल, आहार, उपधि—उपकरण, शरीर तथा अन्य कोई विसर्जन-योग्य वस्तु का विवेकपूर्वक स्थण्डिल भूमि मे उत्सर्ग करे।

१६ ोए
अणावाए होइ सलोए।
आवायमसंलोए
आवाए चेय संलोए ॥

(१) असलोक—जहाँ लोगो का न हो, और वे दूर से भी न दीखते हो।

(२) व सलोक—लोगो का न हो, किन्तु लोग दूर से दीखते हो।

(३) असलोक—लोगो का हो, किन्तु वे दीखते न हो।

(४) सलोक—लोगों का आवागमन हो और वे दिखाई भी देते हों।

इस प्रकार स्थण्डिल भूमि चार से होती है।

१७. अणावायमसंलोए
परस्सऽणुवघाइए ।
समे अज्झुसिरे यावि
अचिरकालकयम्मि य ।।

जो भूमि -असलोक हो, परोपघात से रहित हो, सम हो, अशुषिर हो—पोली न हो, तथा समय पहले निर्जीव हो—

१८. विस्थिण्णे दूरमोगाढे
बिलवज्जिए ।
-बीयरहिए
उच्चाराईणि ।।

विस्तृत हो, गाँव से दूर हो, बहुत नीचे तक अचित्त हो, बिल से रहित हो, तथा त्रस प्राणी और बीजो से रहित हो, ऐसी भूमि मे उच्चार (मल) आदि का करना चाहिए।

१९. एयाओ समिईओ
समासेण वियाहिया ।
एत्तो य तओ गुत्तीओ
वोच्छामि अणुपुव्वसो ।।

ये पाँच समितियाँ सक्षेप से कही गई हैं। अब यहाँ से तीन गुप्तियाँ कहूँगा।

मनोगुप्ति—

२०. तहेव मोसा य
सच्चामोसा तहेव य ।
चउत्थी असच्चमोसा
मणगुत्ती चउव्विहा ।।

मनोगुप्ति के चार हैं—
(सच)
मृषा (झूठ)
सत्यामृषा (सच और झूठ से मिश्र)
चौथी असत्यमृषा है, जो न सच है, न झूठ। अर्थात् केवल लोक-व्यवहार है।

२१. —समारम्भे
आरम्भे य तहेव य ।
तु
नियत्तेज्ज जई ।।

यति सरम्भ, समारम्भ और मे प्रवृत्त मन का निर्वतन करे।

२२. तहेव मोसा य
सच्चामोसा तहेव य।
चउत्थी असच्चमोसा
वइगुत्ती चउव्विहा ॥

गुप्ति—
वचन गुप्ति के चार प्रकार है—
मृषा
सत्यामृषा
चौथी असत्यामृषा

२३. -समारम्भे
आरम्भे य तहेव य।
वय पवत्तमाण तु
नियत्तेज्ज जई ॥

यतना-सपन्न यति सरम्भ, समारम्भ और आरम्भ मे प्रवर्तमान वचन का निवर्तन करे।

२४. ठाणे निसीयणे चेव
तहेव य तुयट्टणे।
उल्लघण-पल्लघणे
इन्दियाण य जु ॥

गुप्ति—
खडे होने मे, बैठने मे, त्वग्वर्तन मे—लेटने मे, मे—गर्त आदि के लाघने मे, मे—सामान्यतया चलने-फिरने मे, शब्दादि विषयो मे, इन्द्रियो के प्रयोग मे—

२५. -समारम्भे
आरम्भम्मि तहेव य।
तु
नियत्तेज्ज जई ॥

सरम्भ मे, समारम्भ मे और आरम्भ मे प्रवृत्त का निवर्तन करे।

२६. एयाओ पंच समिईओ
य ।
गुत्ती नियत्तणे वुत्ता
असुभत्थेसु सव्वसो ॥

गुप्ति का —
ये पाँच समितियाँ चारित्र की प्रवृत्ति के लिए है। और तीन गुप्तियाँ सभी अशुभ विषयो से निवृत्ति के लिए हैं।

२७. एया
जे आयरे मुणी।
से खिप्प
विप्पमुच्चइ पण्डिए ॥

—त्ति

उपसहार—
जो पण्डित मुनि इन प्रवचन-माताओ का सम्यक् करता है, वह शीघ्र ही सर्व से मुक्त हो है।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

२५

यज्ञीय

वस्तुत जाति का • हमारे आचरित ' से है।
जाति की परिकल्पना केवल हमारी जिक था है।

भारतवर्ष के धार्मिक इतिहास का अध्याय यज्ञ और पूजा से प्रारम्भ होता है। भगवान् महावीर के समय तक इस विचारधारा का सर्वव्यापक और गहरा प्रभुत्व छा गया था। विद्वान् ब्राह्मण प्राय इसी कार्य मे लगे रहते थे। भगवान् महावीर और उनके साधुओ ने जनता को वास्तविक यज्ञ क्या है, सच्चा ब्राह्मण कौन होता है, इस विषय मे ठीक तरह समझाया था। इस अध्ययन मे ऐसे ही एक प्रसग का उल्लेख है।

वाराणसी नगरी मे जयघोष और विजयघोप दो भाई थे। वे काश्यपगोत्रीय ब्राह्मण थे, वेदो के थे। एक बार जयघोष गगा नदी मे स्नान के लिए गया। वहाँ उसने एक सर्प को मेढक निगलते हुए देखा। इतने मे एक कुरर पक्षी आया, उसने साँप को पकडा। साप मेढक को निगल रहा है और कुरर साँप को। इस दृश्य को देखकर जयघोष विरक्त हो गया। वह जैन साधु बन गया।

एक बार जयघोष वाराणसी मे भिक्षा की खोज मे निकले। वे भ्रमण करते हुए उसी यज्ञ-मण्डप मे पहुँच गए, जहाँ विजयघोष अनेक ब्राह्मणो के साथ यज्ञ कर रहा था। उग्र तप के कारण जयघोष का शरीर बहुत -क्षीण हो गया था। विजयघोष ने उसे बिल्कुल भी नही पहचाना। जयघोष ने भिक्षा की याचना की, किन्तु विजयघोष ने इन्कार कर दिया। जयघोष को इन्कार से दु ख नही हुआ। वह पूर्णरूप से रहा। परिबोध के भाव से उसने

विजयघोष को कहा—"भिक्षा दो, इसलिए मैं तुम्हे कुछ नही कह रहा हूँ। मुझे तुम्हारी भिक्षा से कोई प्रयोजन नही है। किन्तु तुम्हे जानना चाहिए कि जो यज्ञ तुम कर रहे हो, वह वास्तविक यज्ञ नही है। सच्चा यज्ञ भावयज्ञ है। कपाय, विषय, वासनाओ को ज्ञानाग्नि मे जलाना ही सच्चा यज्ञ है। सच्चारित्र से ही सच्चा ब्राह्मण होता है। जाति से कोई मानव ब्राह्मण नही होता है। न जाति से कोई क्षत्रिय है, न वैश्य है, और न शूद्र है। अपने-अपने समाचरित कार्यो से ही व्यक्ति ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र होता है।"

मुनि के उपदेश से विजयघोष को यथार्थ हुआ। वह भी विरक्त हुए और अन्त मे सम्यक् आचरण से मुक्त भी।

प्रस्तुत अध्ययन मे 'ब्राह्मण' की बडी ही मार्मिक है। यह वह सत्य है, जो शाश्वत है, अजर-अमर है। यह सत्य ही मानव को जाति और कुल की श्रेष्ठता के मिथ्या दर्प से मुक्त करता है।

पंचविसइमं अज्झयणं : पंचविंश अध्ययन

जन्नइज्जं : यज्ञीय

मूल	हिन्दी अनुवाद
१. माहणकुलसंभूओ आसि विप्पो महायसो । जायाई मि जयघोसे त्ति नामओ ॥	ब्राह्मण कुल मे उत्पन्न, महान् यशस्वी जयघोष नाम का ब्राह्मण था, जो हिंसक यमरूप यज्ञ मे अनुरक्त यायाजी था ।
२ इन्दियग्गामनिग्गाही मग्गगामी महामुणी । गामाणुगाम रीयन्ते पत्तो सिं पुरिं ॥	वह इन्द्रिय-समूह का निग्रह करने वाला, मार्गगामी महामुनि हो गया था । एक दिन ग्रामानुग्राम विहार करता हुआ वाराणसी पहुँच गया ।
३. वाणारसीए बहिया उज्जाणम्मि मणोरमे । फासुए सेज्जसथारे वासमुवागए ॥	वाराणसी के बाहर मनोरम उद्यान मे प्रासुक शय्या—वसति और सस्तारक—पीठ, आदि आसन लेकर ठहर गया ।
४ अह तेणेव कालेण पुरीए माहणे । विजयघोसे त्ति नामेण जयइ वेयवी ॥	उसी समय उस पुरी मे वेदो का ज्ञाता, विजयघोष नाम का ब्राह्मण यज्ञ कर रहा था ।
५ अह से अणगारे मासक्खमणपारणे । विजयघोसस्स मि भिक्खस्सऽट्ठा उवट्ठिए ॥	एक मास की तपश्चर्या के पारणा के समय भिक्षा के लिए वह जयघोष मुनि विजय घोष के यज्ञ मे उपस्थित हुआ ।

६ समुवट्ठियं तहिं जायगो पडिसेहए। न हु दाहामि ते भिक्खं भिक्खू ! हि अन्नओ ॥	यज्ञकर्त्ता ब्राह्मण भिक्षा के लिए उपस्थित हुए मुनि को इन्कार करता है—"मैं तुम्हे भिक्षा नही दूंगा। भिक्षु ! याचना करो।"
७ जे य वेयविऊ विप्पा जन्नट्ठा य जे दिया। जोइसंगविऊ जे य जे य ॥	जो वेदो के विप्र-ब्राह्मण है, यज्ञ करने वाले द्विज हैं, और ज्योतिष के अगो के है एव धर्मशास्त्रो के पारगामी है—
८ जे स समुद्धत्तु पर मेव य। तेसिं अन्नमिण देय भो भिक्खू ! सव्वकामिय ॥	—"जो अपना और दूसरो का उद्धार करने मे समर्थ है, भिक्षु ! यह सर्वकामिक—सर्वरसयुक्त एव सब को अभीष्ट अन्न उन्ही को देना है।"
९ सो एव पडिसिद्धो जायगेण महामुणी। न वि रुट्ठो न वि तुट्ठो उत्तमट्ठ—गवेसओ ॥	वहाँ इस प्रकार याजक के द्वारा किए जाने पर उत्तम अर्थ की खोज करने वह महामुनि न क्रुद्ध हुआ, न हुआ।
१० न ठ पाणहेउ वा न वि निव्वाहणाय वा। तेसिं विमोक्खणट्ठाए वयणमब्बवी ॥	न अन्न के लिए, न जल के लिए, न जीवन-निर्वाह के लिए, किन्तु उनके विमोक्षण (मुक्ति) के लिए मुनि ने इस प्रकार कहा—
	जयघोष मुनि—
११ न वि जाणासि वेयमुहं न वि ज । मुहं ज च ज च ण वा ॥	—"तू वेद के मुख को नही जानता है, और न यज्ञो का जो मुख है, नक्षत्रो का जो मुख है और धर्मो का जो मुख है, उसे ही जानता है।"
१२ जे त्था समुद्धत्तु पर अप्पाणमेव य। न ते तुम वियाणासि अह जाणासि तो ॥	—"जो अपना और दूसरो का उद्धार करने मे समर्थ है, उन्हे भी तू नही जानता है। यदि जानता है, तो बता।"

१३ ऽक्खेवपमोक्खं च
अचयन्तो तहिं दिओ।
सपरिसो पंजली होउ
पुच्छई त महामुणिं॥

उसके आक्षेपो का—प्रश्नो का प्रमोक्ष अर्थात् उत्तर देने मे असमर्थ ब्राह्मण ने अपनी परिषदा के साथ हाथ जोडकर उस महामुनि से पूछा—

विजय घोष ब्राह्मण—

१४. वेयाण च बूहि
बूहि ज ।
मुह बूहि
बूहि ण वा ॥

—"तुम कहो—वेदो का मुख क्या है ? यज्ञो का जो मुख है, वह बतलाओ। नक्षत्रो का मुख बताइए और धर्मो का जो मुख है, उसे भी कहिए।"

१५. जे समुद्धत्तुं
परं व य।
एयं मे
साहू ! कहसु पुच्छिओ ॥

—"और अपना तथा दूसरो का उद्धार करने मे जो समर्थ है, वे भी बतलाओ। मुझे यह सब सशय है। साधु ! मैं पूछता हूँ, आप बताइए।"

जयघोष मुनि—

१६. अग्गिहोत्तमुहा वेया
जन्नट्ठी वेयसां ।
चन्दो
कासवो मुहं ॥

—"वेदो का मुख अग्नि-होत्र है, यज्ञो का मुख यज्ञार्थी है, नक्षत्रो का मुख चन्द्र है और धर्मो का मुख काश्यप (ऋषभदेव) है।"

१७ गहाईया
चिट्ठन्ती पजलीउडा।
नमसन्ता
मणहारिणो ॥

—"जैसे उत्तम एव मनोहारी ग्रह आदि हाथ जोडकर चन्द्र की वन्दना तथा नमस्कार करते हुए स्थित है, वैसे ही भगवान् ऋषभदेव हैं,—उनके समक्ष भी जनता विनयावनत है।"

१८ जन्नवाई
विज्जा माहणसपया।
गूढा
भासच्छन्ना इवऽग्गिणो ॥

—"विद्या ब्राह्मण की सम्पदा है, यज्ञवादी इससे अनभिज्ञ हैं, वे बाहर मे स्वाध्याय और तप से वैसे ही आच्छादित हैं, जैसे कि अग्नि राख से ढँकी हुई होती है।"

१९. जे लोए बम्भणो वुत्तो
अग्गी वा महिओ जहा।
कुसलसंदिट्ठं
तं वय माहण ॥

—"जिसे लोक मे कुशल पुरुषो ने ब्राह्मण कहा है, जो अग्नि के समान सदा पूजनीय है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।"

६ समुवट्ठिय तहिं जायगो पडिसेहए । न हु दाहामि ते भिक्खं भिक्खू ! जायाहि अन्नओ ॥	यज्ञकर्ता ब्राह्मण भिक्षा के लिए उपस्थित हुए मुनि को इन्कार करता है—"मैं तुम्हे भिक्षा नही दूंगा । भिक्षु ! याचना करो ।"
७ जे य वेयविऊ विप्पा जन्नट्ठा य जे दिया । जोइसंगविऊ जे य जे य ॥	जो वेदो के विप्र-ब्राह्मण हैं, यज्ञ करने वाले द्विज हैं, और ज्योतिष के अगो के हैं एव धर्मशास्त्रो के पारगामी है—
८ जे स समुद्धत्तुं पर मेव य । तेसिं अन्नमिण भो भिक्खू ! सव्वकामियं ॥	—"जो अपना और दूसरो का उद्धार करने मे समर्थ है, भिक्षु ! यह सर्वकामिक—सर्वरसयुक्त एव सब को अभीष्ट अन्न उन्ही को देना है ।"
९ सो एव पडिसिद्धो जायगेण महामुणी । न वि रुट्ठो न वि तुट्ठो उत्तमट्ठ—गवेसओ ॥	वहाँ इस प्रकार याजक के द्वारा किए जाने पर अर्थ की खोज करने वह महामुनि न क्रुद्ध हुआ, न हुआ ।
१० पाणहेउ वा न वि निव्वाहणाय वा । तेसिं विमोक्खणट्ठाए वयणमब्बवी ॥	न अन्न के लिए, न जल के लिए, न जीवन-निर्वाह के लिए, किन्तु उनके विमोक्षण (मुक्ति) के लिए मुनि ने इस कहा—
	जयघोष मुनि—
११ न वि जाणासि वेयमुहं न वि ज मुहं । ज च ज च ण वा ॥	—"तू वेद के मुख को नही जानता है, और न यज्ञो का जो मुख है, नक्षत्रो का जो मुख है और धर्मों का जो मुख है, उसे ही जानता है ।"
१२ जे समत्था समुद्धत्तुं पर अप्पाणमेव य । न ते तुमं वियाणासि अह जाणासि तो भण ॥	—"जो अपना और दूसरो का करने मे समर्थ है, उन्हे भी तू नही जानता है । यदि जानता है, तो बता ।"

१३ अक्खेवपमोक्खं च
अचयन्तो तहिं दिओ।
सपरिसो पंजली होउ
पुच्छई तं महामुणिं॥

उसके आक्षेपो का—प्रश्नो का प्रमोक्ष अर्थात् उत्तर देने मे असमर्थ ब्राह्मण ने अपनी समग्र परिषदा के साथ हाथ जोडकर उस महामुनि से पूछा—

विजय घोष ब्राह्मण—

१४. वेयाणं च मुहं बूहि
बूहि जन्नाण जं मुहं।
नक्खत्ताण मुहं बूहि
बूहि धम्माण वा मुहं॥

—"तुम कहो—वेदो का मुख क्या है ? यज्ञो का जो मुख है, वह वतलाओ। नक्षत्रो का मुख बताइए और धर्मो का जो मुख है, उसे भी कहिए।"

१५. जे समत्था समुद्धत्तुं
परं अप्पाणमेव य।
एयं मे संसयं सव्वं
साहू! कहसु पुच्छिओ॥

—"और अपना तथा दूसरो का उद्धार करने मे जो समर्थ हैं, वे भी वतलाओ। मुझे यह सब सशय है। साधु ! मैं पूछता हूँ, आप बताइए।"

जयघोष मुनि—

१६ अग्गिहोत्तमुहा वेया
जन्नट्ठी वेयसा मुहं।
नक्खत्ताण मुहं चन्दो
धम्माणं कासवो मुहं॥

—"वेदो का मुख अग्नि-होत्र है, यज्ञो का मुख यज्ञार्थी है, नक्षत्रो का मुख चन्द्र है और धर्मों का मुख काश्यप (ऋषभदेव) है।"

१७. जहा चन्दं गहाईया
चिट्ठन्ती पंजलीउडा।
वन्दमाणा नमंसन्ता
उत्तमं मणहारिणो॥

—"जैसे उत्तम एव मनोहारी ग्रह आदि हाथ जोडकर चन्द्र की वन्दना तथा नमस्कार करते हुए स्थित है, वैसे ही भगवान् ऋषभदेव है,—उनके समक्ष भी जनता विनयावनत है।"

१८. अजाणगा जन्नवाई
विज्जा माहणसंपया।
गूढा सज्झायतवसा
भासच्छन्ना इवऽग्गिणो॥

—"विद्या ब्राह्मण की सम्पदा है, यज्ञवादी इससे अनभिज्ञ है, वे बाहर मे स्वाध्याय और तप से वैसे ही आच्छादित हैं, जैसे कि अग्नि राख से ढँकी हुई होती है।"

१९. जे लोए बम्भणो वुत्तो
अग्गी वा महिओ जहा।
सया कुसलसंदिट्ठं
तं वयं बूम माहणं॥

—"जिसे लोक मे कुशल पुरुषो ने ब्राह्मण कहा है, जो अग्नि के समान सदा पूजनीय है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।"

२० जो न सज्जइ आगन्तुं
पव्वयन्तो न सोयई ।
रमए अज्जवयणंमि
तं वयं बूम माहणं ॥

—"जो प्रिय स्वजनादि के आने पर नही होता और न जाने पर शोक करता है । जो आर्य-वचन मे—अर्हद्वाणी मे रमण है, उसे हम ब्राह्मण कहते है ।"

२१ जहामट्ठं
निद्धन्तमलपावगं ।
राग-द्दोस-भयाईयं
तं वयं बूम माहणं ॥

—"कसौटी पर कसे हुए और अग्नि के द्वारा दग्धमल हुए—शुद्ध किए गए जातरूप—सोने की तरह जो विशुद्ध है, जो राग से, द्वेष से और भय से मुक्त है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं ।"

२२ तवस्सियं किसं
अवचियमंस-सोणियं ।
सुव्वयं पत्तनिव्वाणं
तं वयं बूम माहणं ॥

—"जो तपस्वी है, कृश है, दान्त है, जिसका मांस और रक्त अपचित (कम) हो गया है । जो सुव्रत है, शांत है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं ।"

२३ तसपाणे वियाणेत्ता
संगहेण य थावरे ।
जो न हिंसइ तिविहेण
तं वयं माहणं ॥

—"जो त्रस और स्थावर जीवो को सम्यक् प्रकार से जानकर उनकी मन, वचन और काया से हिंसा नही है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं ।"

२४ कोहा वा वा हासा
लोहा वा वा ।
मुसं न वयई जो उ
तं वयं बूम माहणं ॥

—"जो क्रोध, हास्य, लोभ अथवा भय से झूठ नही बोलता है, उसे हम ब्राह्मण कहते है ।"

२५ चित्तमन्तमचित्तं वा
वा जइ वा ।
न गेण्हइ जे
तं वयं बूम माहणं ॥

—"जो सचित्त या अचित्त, थोडा या अधिक अदत्त नही लेता है, उसे हम ब्राह्मण कहते है ।"

२६ दिव्व-माणुस-तेरिच्छं
जो न सेवइ मेहुणं ।
मणसा -वक्केण
तं वयं बूम माहणं ॥

—"जो देव, मनुष्य और तिर्यञ्च-सम्बन्धी मैथुन का मन, वचन और शरीर से सेवन नही करता है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं ।"

२७ जहा पोम जले
नोवलिप्पइ वारिणा ।
एव अलित्तो कामेहि
त वय बूम माहण ॥

—"जिस प्रकार जल मे उत्पन्न हुआ कमल जल से लिप्त नही होता, उसी प्रकार जो कामभोगो से अलिप्त रहता है, उसे हम ब्राह्मण कहते है।"

२८ अलोलुय मुहाजीवी
अणगार अकिंचण ।
गिहत्थेसु
त वय माहण ॥

—"जो रसादि मे लोलुप नही है, जो निर्दोष भिक्षा से जीवन का निर्वाह करता है, जो गृह-त्यागी है, जो अकिंचन है, जो गृहस्थो मे है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।"

२९ जहित्ता पुव्वसजोग
नाइसगे य बन्धवे ।
जो न सज्जइ एएहि
त वय बूम माहण ॥

—"जो पूर्व सयोगो को, ज्ञातिजनो की आसक्ति और बान्धवो को छोडकर फिर उनमे नही होता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।"

३० पसुबन्धा सव्ववेया
च पावकम्मुणा ।
न त तायन्ति दुस्सील
कम्माणि बलवन्ति ह ॥

—"उस दु शील को पशुबध (यज्ञ मे वध के लिए पशुओ को बाँधना) के हेतु सर्व वेद और पाप-कर्मो से किए गए यज्ञ बचा नही सकते, क्योकि कर्म बलवान् है।"

३१ न वि मुण्डिएण समणो
न ओकारेण बम्भणो ।
न मुणी रण्णवासेणं
कुसचीरेण न ो ॥

—"केवल सिर मुंडाने से कोई श्रमण नही होता है, ओम् का जप करने से ब्राह्मण नही होता है, अरण्य मे रहने से मुनि नही होता है, कुश का बना चीवर पहनने मात्र से कोई तपस्वी नही होता है।"

३२ ाए समणो होइ
बम्भचेरेण बम्भणो ।
नाणेण य मुणी होइ
तवेण होइ तावसो ॥

—"समभाव से श्रमण होता है। ब्रह्मचर्य से ब्राह्मण होता है। ज्ञान से मुनि होता है। तप से तपस्वी होता है।"

३३ कम्मुणा बम्भणो होइ
कम्मुणा होइ खत्तिओ ।
वइस्से कम्मुणा होइ
सुद्दो हवइ कम्मुणा ॥

—"कर्म से ब्राह्मण होता है। कर्म से क्षत्रिय होता है। कर्म से वैश्य होता है। कर्म से ही शूद्र होता है।"

३४ एए पाउकरे
जेहिं होइ सिणायओ।
सव्वकम्मविनिम्मुक्क
त वयं माहणं॥

—"अर्हत् ने इन तत्त्वों का किया है। इनके द्वारा जो स्नातक—पूर्ण होता है, सब कर्मों से मुक्त होता है, उसे हम ब्राह्मण कहते है।"

३५ एवं गु
जे भवन्ति दिउत्तमा।
ते ा उ ं
पर य॥

—"इस प्रकार जो गुण-सम्पन्न द्विजोत्तम होते है, वे ही अपना और दूसरो का उद्धार करने मे समर्थ है।"

३६ एव तु ससए छिन्ने
विजयघोसे य माहणे।
समुदाय तय त तु
जयघोस महामुणि॥

इस प्रकार मिट जाने पर विजयघोष ब्राह्मण ने महामुनि जयघोष की वाणी को सम्यक्रूप से स्वीकार किया।

३७. तुट्ठे य विजयघोसे
इणमुदाहु कयजली।
माहणत्त जहाभूयं
सुट्ठु मे उवदसिय॥

सतुष्ट हुए विजयघोष ने हाथ जोड़कर इस कहा—

—"तुमने मुझे यथार्थ ब्राह्मणत्व का बहुत ही उपदेश दिया है।"

ोष ब्राह्मण—

३८ तुब्मे ा
तुब्मे वेयविऊ विऊ।
जोइसगविऊ तुब्मे
तुब्मे पारगा॥

—"तुम यज्ञो के यष्टा—यज्ञ-कर्ता हो, तुम वेदो को जानने वाले विद्वान् हो, तुम ज्योतिष के अगो के हो, तुम्ही धर्मो के पारगामी हो।"

३९. तुब्मे ा ं
परं अप्पाणमेव य।
तमणुग्गह करेहऽम्ह
भिक्खेण भिक्खु उ ा॥

—"तुम और दूसरो का करने मे समर्थ हो। अत भिक्षु-श्रेष्ठ! भिक्षा स्वीकार कर हम पर करो।"

जयघोष मुनि—

४०. न भिक्खेण
खिप्पं निक्खमसू दिया।
मा भमिहिसि भयावट्टे
घोरे ससारसागरे॥

—"मुझे भिक्षा से कोई प्रयोजन नही है। हे द्विज! शीघ्र ही अभिनिष्क्रमण कर अर्थात् स्वीकार कर। ताकि भय के आवर्तों वाले सागर मे तुझे न पडे।"

उवलेवो होइ भोगेसु
अभोग. नोवलिप्पई।
भोगी संसारे
ोगी विप्पमुच्चई॥

—"भोगो मे कर्मका उपलेप होता है। अभोगी कर्मो से लिप्त नही होता है। भोगी ससार मे करता है। अभोगी उससे विप्रमुक्त हो जाता है।"

उल्लो सुक्को य दो
गोलया मट्टियामया।
दो वि आवडिया कुड्डे
जो उल्लो सो लग्गई॥

—"एक गीला और एक सूखा, ऐसे दो मिट्टी के गोले फेंके गये। वे दोनो दिवार पर गिरे। जो गीला था, वह वही चिपक गया।"

लग्गन्ति दुम्मेहा
जे नरा ।
विरत्ता उ न लग्गन्ति
जहा सुक्को उ गोलओ॥

—"इसी जो मनुष्य दुर्बुद्धि और काम-भोगो मे है, वे विषयो मे चिपक जाते है। विरक्त सूखे गोले की भाँति नही लगते है।"

. एव से विजयघोसे
घोसस्स अन्तिए।
निक्खन्तो
सोच्चा अणुत्तर॥

उपसहार—

इस प्रकार विजयघोष, जयघोष अनगार के समीप, अनुत्तर धर्म को सुनकर दीक्षित हो गया।

खवित्ता पुव्वकम्माइ
तवेण य।
जयघोस—विजयघोसा
सिद्धि अणुत्तर॥

जयघोष और विजयघोष ने और तप के द्वारा पूर्वसचित कर्मों को क्षीण कर अनुत्तर सिद्धि प्राप्त की।

—त्ति

—ऐसा मैं कहता हूं।

२६

सामाचारी

सम्यक् और -विभाजन से जीवन मे नियमितता आती है और कार्य व्यवस्थित होता है।

प्रस्तुत अध्ययन मे सामाचारी का विवेचन है। समाचारी का अर्थ है—
न्यक् ।' अर्थात् इसमे जीवन की उस व्यवस्था का निरूपण है,
मे साधक के परस्पर के व्यवहारो और उसके कर्त्तव्यो का सकेत है।
साधु बाहर कही जाए, तो गुरुजनो को सूचना देकर जाए।
र्य-पूर्ति के बाद वापिस लौटकर आए, तो आगमन की सूचना दे। अपने
द्ध व्यवहार के प्रति सजग रहे। श्रमशील बने। दूसरो के अनुग्रह
सहर्ष स्वीकार करे। गुरुजनो का योग्य सम्मान करे। नम्र और अनाग्रही
।

'पर' से उपरति और 'स्व' की उपलब्धि के लिए -जीवन
। स्वीकार करता है। उसका बाह्य आचार वस्तुत अन्तरग की सम्यक्
ाधना का सहज परिणाम है। पारिवारिक अथवा सामाजिक बन्धनो की
रह सामाचारी नही है। वह कोई विवशता नही है, जो कुण्ठा को जन्म
ती है, प्रगति के पथ का रोडा बन जाती है। वह तो अन्तर्जगत् का
हज उत्स होने से साधक जीवन की प्रगति के लिए सहायक है। अत.
जीवन का स्वय निर्धारित-व्यवस्थित रूप साधक का है, मजबूरी
नही है।

इस अध्ययन मे साधक जीवन की कालचर्या का विभागश विधान
किया है। दिन और रात के कुल मिलाकर आठ प्रहर होते हैं। उनमे चार

प्रहर स्वाध्याय के है, दो प्रहर के है। दिन के एक प्रहर मे भिक्षा और रात के एक प्रहर मे निद्रा। आवश्यक कार्यो के लिए थोडा समय और भी दिया जा सकता है, किन्तु प्रमुखता स्वाध्याय और ध्यान की है। नीद केवल एक प्रहर है। स्वाध्याय और ध्यान से निद्रा स्वाभाविक ही कम होती जाती है। यह जागृत साधक का एक दिव्य साधना-चित्र है, जो भी जन-मन को रचनात्मक प्रेरणा देता है।

छबीसइमं अज्झयणं : षड्विंश अध्ययन
सामायारी : सामाचारी

मूल	हिन्दी अनुवाद
१. सामायारिं पवक्खामि सव्वदुक्खविमोक्खणिं । जं चरित्ताण निग्गन्था तिण्णा ॥	सामाचारी सब दुःखों से मुक्त कराने वाली है, जिसका कर के निर्ग्रन्थ सागर को तैर गए हैं। उस सामाचारी का मैं प्रतिपादन हूं—
	दश समाचारी—
२ आवस्सिया बिइया य निसीहिया । आपुच्छणा य चउत्थी पडिपुच्छणा ॥	पहली आवश्यकी, दूसरी नैषेधिकी, तीसरी आपृच्छना, चौथी प्रतिपृच्छना है—
३. इच्छाकारो य छट्ठओ । सत्तमो मिच्छकारो य तहक्कारो य अट्ठमो ॥	पांचवी , छठी इच्छाकार, सातवी मिथ्याकार, आठवी है—
४ अब्भुट्ठाणं । एसा साहूण सामायारी पवेइया ॥	नौवी अभ्युत्थान और दसवी उप- है। इस ये दस अंगो वाली साधुओ की सामाचारी प्रतिपादन की गई है।

५. गमणे आवस्सियं कुज्जा
ठाणे कुज्जा निसीहियं।
आपुच्छणा सयकरणे
परकरणे पडिपुच्छणा ॥

(१) अपने ठहरने के स्थान से बाहर निकलते "आवस्सिय" का उच्चारण करना, 'आवश्यकी' सामाचारी है।

(२) अपने मे प्रवेश करते समय "निस्सिहिय" का उच्चारण , 'नैषेधिकी' सामाचारी है।

(३) अपने कार्य के लिए गुरु से अनुमति लेना, 'आपृच्छना' सामाचारी है।

(४) दूसरो के कार्य के लिए गुरु से अनुमति लेना 'प्रतिपृच्छना' सामाचारी है।

६. ॰ एण
इच्छाकारो य ।
मिच्छाकारो य निन्दाए
तहक्कारो य पडिस्सुए ॥

(५) पूर्वगृहीत द्रव्यो के लिए गुरु आदि को आमन्त्रित , 'छन्दना' सामाचारी है।

(६) दूसरो का कार्य अपनी सहज अभिरुचि से करना और कार्य करने के लिए दूसरो को उनकी ानुकूल विनम्र निवेदन , 'इ '
सामाचारी है।

(७) दोष की निवृत्ति के लिए आत्मनिन्दा करना, 'मिथ्याकार' सामाचारी है।

(८) गुरुजनो के उपदेश को स्वीकार करना, ' ' सामाचारी है।

७. अब्भुट्ठाण गुरुपूया
अच्छणे ।
एव दु-पच—सजुत्ता
सामायारी पवेइया ॥

(९) गुरुजनो की पूजा अर्थात् सत्कार के लिए से खडा होना, 'अभ्युत्थान' सामाचारी है।

(१०) किसी विशिष्ट प्रयोजन से दूसरे आचार्य के पास रहना, 'उपसम्पदा' सामाचारी है।

इस -समाचारी का निरूपण किया गया है।

औत्सर्गिक दिनकृत्य—

८. पुव्विल्लमि चउब्भाए
आइच्चमि समुट्ठिए ।
पडिलेहित्ता
वन्दित्ता य तओ ॥

सूर्योदय होने पर दिन के प्रथम प्रहर के चतुर्थ भाग मे —उपकरणो का प्रतिलेखन कर गुरु को वन्दना कर—

९. पुच्छेज्जा पजलिउडो
कि मए ? ।
निओइउं भन्ते !
वेयावच्चे व सज्झाए ॥

हाथ जोडकर पूछे कि—"अब मुझे क्या करना चाहिए ? भन्ते ! मै चाहता हूँ, मुझे आप आज स्वाध्याय मे नियुक्त करते हैं, अथवा वैयावृत्य—सेवा मे।"

१०. वेयावच्चे निउत्तेणं
अगिलायओ ।
सज्झाए वा निउत्तेणं
सव्वदुक्खविमोक्खणे ॥

वैयावृत्य मे नियुक्त किए जाने पर ग्लानि से रहित होकर सेवा करे। अथवा सभी दु खो से मुक्त करने वाले स्वाध्याय मे नियुक्त किए जाने पर ग्लानि से रहित होकर न करे।

११ दिवसस्स चउरो भागे
कुज्जा भिक्खू वियक्खणो ।
ओ उत्तरगुणे कुज्जा
दिणभागेसु चउसु वि ॥

विचक्षण भिक्षु दिन के चार भाग करे। उन चारो भागो मे स्वाध्याय आदि गुणो की आराधना करे।

१२. पोरिसिं
बीय झियायई ।
तइयाए भिक्खायरियं
पुणो चउत्थीए ॥

प्रहर मे स्वाध्याय करे, दूसरे मे करे, तीसरे मे भिक्षाचरी और चौथे मे पुन स्वाध्याय करे।

पौरुषी परिज्ञान—

१३ आसाढे मासे दुपया
पोसे मासे चउप्पया ।
चित्तासोएसु मासेसु
तिपया पोरिसी ॥

महीने मे द्विपदा (दो पैर की) पौरुषी होती है। पौष महीने मे चतुष्पदा और चैत्र एव आश्विन महीने मे त्रिपदा पौरुषी होती है।

१४. अंगुलं सत्तरत्तेण पक्खेण य दुअंगुलं । वड्ढए हायए वावी मासेण चउरंगुलं ॥	सात रात मे एक अंगुल, पक्ष मे दो अंगुल और एक मास मे चार अंगुल की वृद्धि और हानि होती है। (से पौष मास तक वृद्धि होती है और माघ से तक हानि होती है।)
१५. आसाढबहुलपक्खे भद्दवए कत्तिए य पोसे य । फग्गुण—वइसाहेसु य ओमरत्ताओ ॥	, भाद्रपद, कार्तिक, पौष, फाल्गुन, और वैशाख के पक्ष मे एक-एक अहो रात्रि (तिथि) का क्षय होता है।
१६ जेट्ठामूले -सावणे छहिं अंगुलेहिं पडिलेहा । अट्ठहिं बीय-तियमी दस अट्ठहिं चउत्थे ॥	ज्येष्ठ, और श्रावण—इस त्रिक मे छह अंगुल, भाद्रपद, आश्विन और कार्तिक—इस द्वितीय त्रिक मे आठ अंगुल, तथा मृगशिर, पौष और माघ—इस तृतीय त्रिक मे दस अंगुल, और फाल्गुन, चैत्र, वैसाख—इस चतुर्थ त्रिक मे आठ अंगुल की वृद्धि करने से प्रतिलेखन का पौरुषी होता है।
	औत्सर्गिक रात्रिकृत्य—
१७ रत्तिं पि चउरो भागे भिक्खू कु वियक्खणो । तओ उत्तरगुणे कुज्जा राइभाएसु चउसु वि ॥	विचक्षण भिक्षु रात्रि के भी चार भाग करे। उन चारो भागो मे उत्तर-गुणो की आराधना करे।
१८ पोरिसिं य बीयं झियायई । तइयाए निद्दमोक्खं तु चउत्थी भुज्जो वि ॥	प्रथम प्रहर मे स्वाध्याय, दूसरे मे , तीसरे मे नीद और चौथे मे पुन करे।
१९. जं नेइ रत्तिं तम्मि नहचउब्भाए । विरमेज्जा पओसकालम्मि ॥	जो जिस रात्रि की पूर्ति करता हो, वह जब के प्रथम चतुर्थ भाग मे आ जाता है, अर्थात् रात्रि का प्रथम प्रहर होता है, तब वह 'प्रदोप-काल' होता है, उस काल मे स्वाध्याय से निवृत्त हो जाना चाहिए।

२०. तम्मेव य गयणचउब्भागसावसेसम्मि । वेरत्तियं पि कालं पडिलेहित्ता मुणी कुज्जा ॥	वही जब के अन्तिम चतुर्थ भाग मे है, अर्थात् रात्रि का अन्तिम चौथा प्रहर आ है, तब उसे 'वैरात्रिक काल' समझकर मुनि स्वाध्याय मे प्रवृत्त हो ।
	दिनकृत्य—
२१. पुव्विल्लम्मि चउब्भाए । पडिलेहित्ताण । गुरु वन्दित्तु कुज्जा दुक्खविमोक्खणं ॥	दिन के प्रहर के चतुर्थ भाग मे पात्रादि उपकरणो का प्रतिलेखन कर, गुरु को वन्दना कर, दुःख से मुक्त करने वाला करे ।
२२ पोरिसीए चउब्भाए वन्दित्ताण तओ गुरुं । अपडिक्कमित्ता भायणं पडिलेहए ॥	पौरुषी के चतुर्थ भाग मे, अर्थात् पौन पौरुषी बीत जाने पर गुरु को वन्दना कर, का प्रतिक्रमण (कायोत्सर्ग) किए बिना ही भाजन का प्रतिलेखन करे ।
	प्रतिलेखना की विधि—
२३. मुहपोत्तियं पडिलेहित्ता पडिलेहिज्ज गोच्छगं । गोच्छगलइयंगुलिओ पडिलेहए ॥	मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन कर गोच्छग का प्रतिलेखन करे । अंगुलियो से गोच्छग को पकड़कर वस्त्र का प्रतिलेखन करे ।
२४. थिरं अतुरियं पुव्वं ता वत्थमेव पडिलेहे । तो बिइयं पप्फोडे च पुणो पमज्जेज्जा ॥	सर्वप्रथम उकडू आसन से बैठे, फिर वस्त्र को ऊँचा रखे, स्थिर रखे और शीघ्रता किए बिना प्रतिलेखन करे—चक्षु से देखे । दूसरे मे वस्त्र को धीरे से झटकाए और तीसरे मे वस्त्र का प्रमार्जन करे ।
	प्रतिलेखन के —
२५. अणच्चावियं रि अणाणुबन्धि अमोसलिं ॥ छप्पुरिमा नव खोडा पाणीपाणविसोहणं ॥	प्रतिलेखन के वस्त्र या शरीर को न नचाए, न मोडे, वस्त्र को दृष्टि से अलक्षित न करे, वस्त्र का दिवार आदि से स्पर्श न होने दे । वस्त्र के पूर्व और नौ खोटक करे । जो कोई प्राणी हो, विशोधन करे ।

प्रतिलेखन के —

२६. सम्मद्दा
वज्जेयव्वा य मोसली ।
पप्फोडणा चउत्थी
वेइया ॥

(१) —निर्दिष्ट विधि से विपरीत प्रतिलेखन करना, एक वस्त्र का पूरी तरह प्रतिलेखन किए बिना ही बीच मे दूसरे वस्त्र की प्रतिलेखना मे लग जाना ।

(२) सम्मर्दा—प्रतिलेखन करते समय वस्त्र को इस तरह पकडना कि उसके कोने हवा मे हिलते रहे, उसमे सलवटें पडती रहे, उस पर बैठ हुए प्रति-लेखन करना ।

(३) मोसली—प्रतिलेखन करते हुए वस्त्र को ऊपर-नीचे, इधर-उधर किसी अन्य वस्त्र या से सघट्टित करते रहना ।

(४) प्रस्फोटना—धूलिधूसरित वस्त्र को जोर से ।

(५) विक्षिप्ता—प्रतिलेखित वस्त्र को अप्रतिलेखित वस्त्रो मे रख देना । वस्त्र को इतना अधिक ऊँचा उठा लेना कि ठीक तरह प्रतिलेखना न हो सके ।

(६) वेदिका—प्रतिलेखना करते हुए घुटनो के ऊपर-नीचे या बीच मे दोनो हाथ रखना, अथवा दोनो भुजाओ के बीच घुटनो को रखना, या एक घुटना भुजाओ मे और दूसरा बाहर रखना ।

२७. पसिढिल-पलम्ब-लोला
एगामोसा अणेगरूवधुणा ।
कुणइ पमाणि
सकिए गणणोवग कुज्जा ॥

(७) प्रशिथिल—वस्त्र को ढीला पकडना ।

(८) प्र —वस्त्र को इस तरह कि उसके कोने नीचे लटकते रहे ।

(६) लोल—प्रतिलेख्यमान वस्त्र का भूमि से या हाथ से संघर्षण करना।

(१०) एकामर्शा—वस्त्र को बीच मे से कर एक दृष्टि मे ही समूचे वस्त्र को देख जाना।

(११) अनेकरूपधूनना — वस्त्र को अनेक बार (तीन बार से अधिक) झटकना अथवा अनेक वस्त्रो को एक साथ एक बार मे ही झटकना।

(१२) प्रमाणप्रमाद — प्रस्फोटन (झटकना) और प्रमार्जन का जो प्रमाण (नौ-नौ बार) बताया है, उसमे प्रमाद करना।

(१३) गणनोपगणना—प्रस्फोटन और प्रमार्जन के निर्दिष्ट प्रमाण मे शका के कारण हाथ की अगुलियों की पर्व रेखाओ से गिनती करना।

२८. अणूणाइरित्तपडिलेहा
अविवच्चासा तहेव य।
पय प
सेसाणि उ अप्पसत्थाइ ॥

प्रस्फोटन और प्रमार्जन के प्रमाण से अन्यून, अनतिरिक्त (न कम और न अधिक) तथा अविपरीत प्रतिलेखना ही होती है। उक्त तीन विकल्पो के आठ विकल्प होते हैं, उनमे प्रथम विकल्प—भेद ही है, शेष अशुद्ध हैं।

२९ पडिलेहण कुणन्तो
मिहोकह वा।
देइ व पच्चक्खाण
वाएइ सय पडिच्छइ वा ॥

प्रतिलेखन करते समय जो परस्पर वार्तालाप करता है, जनपद की कथा करता है, प्रत्याख्यान कराता है, दूसरो को पढाता है अथवा स्वय पढता है—

३० पुढवीआउक्काए
तेऊवाऊवणस्सइतसाण ।
पडिलेहणापमत्तो
छण्ह पि विराहओ होइ ॥

वह प्रतिलेखना मे प्रमत्त मुनि पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय—छहो कायो का विराधक—हिंसक होता है।

३१ पुढवी ए-
तेऊ-वाऊ—वणस्सइ ।
पडिलेहणआउत्तो
छण्ह आराहओ होइ ॥

प्रतिलेखन मे मुनि पृथ्वीकाय, , तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, तथा त्रस काय—छहो कायो का आराधक— होता है ।

तृतीय पौरुषी—

३२. तइयाए पोरिसीए
गवेसए ।
छण्ह अन्नयरागम्मि
कारणम्मि समुट्ठिए ॥

छह कारणो मे से किसी एक कारण के उपस्थित होने पर तीसरे प्रहर मे भक्त-पान की गवेषणा करे ।

३३. वेयण—वेयावच्चे
इरियट्ठाए य सजमट्ठाए ।
तह वत्तियाए
पुण धम्मचिन्ताए ॥

क्षुधा-वेदना की शान्ति के लिए, वैयावृत्य के लिए, ईर्यासमिति के पालन के लिए, के लिए, प्राणो की रक्षा के लिए और धर्मचिंतन के लिए की गवेषणा करे ।

३४. निग्गन्थो धिइमन्तो
निग्गन्थी वि न करेज्ज छहिं ।
ठाणेहिं उ इमेहिं
य से होइ ॥

धृति-सम्पन्न साधु और साध्वी इन छह कारणो से भक्त-पान की गवेषणा न करे, जिससे सयम का अतिक्रमण न हो ।

३५ आयके उवसग्गे
तितिक्खया बम्भचेरगुत्तीसु ।
पाणिदया तवहेउ
सरीर — वोच्छेयणट्ठाए ॥

रोग होने पर, उपसर्ग आने पर, ब्रह्मचर्य गुप्ति की सुरक्षा के लिए, प्राणियो की दया के लिए, तप के लिए और शरीर-विच्छेद के लिए मुनि भक्त-पान की गवेषणा न करे ।

३६ अवसेस मिक्खा
चक्खुसा पडिलेहए ।
परमद्धजोयणाओ
विहार विहरए मुणी ॥

सब उपकरणो का आँखो से प्रतिलेखन करे, और उन्हे लेकर आवश्यक हो, तो दूसरे गाँव मे मुनि आधे योजन की दूरी तक भिक्षा के लिए जाए ।

३७ चउत्थीए पोरिसीए
निक्खिवित्ताण भायणं ।
तओ कुज्जा
सव्वभावविभावणं ॥

चतुर्थ पौरुषी—

चतुर्थ प्रहर मे प्रतिलेखना कर सभी पात्रो को बाँध कर रख दे । उसके बाद जीवादि सब भावो का स्वाध्याय करे ।

३८. पोरिसीए चउब्भाए
वन्दित्ताण तओ गुरुं ।
पडिक्कमित्ता
सेज्जं तु पडिलेहए ॥

पौरुषी के चौथे भाग मे गुरु को वन्दना कर, का प्रतिक्रमण (कायोत्सर्ग) कर शय्या का प्रतिलेखन करे।

३९. उच्चारभूमिं च
पडिलेहिज्ज जयं जई ।
काउस्सग्गं तओ कुज्जा
सव्वदुक्खविमोक्खणं ॥

दैवसिक-प्रतिक्रमण—

यतना मे प्रयत्नशील मुनि फिर प्रस्रवण और उच्चार-भूमिका प्रतिलेखन करे। उसके बाद सर्व दुःखो से मुक्त करने वाला कायोत्सर्ग करे।

४०. देसियं च अईयारं
चिन्तिज्ज अणुपुव्वसो ।
य चेव
चरित्तम्मि तहेव य ॥

ज्ञान, और चारित्र से सम्बन्धित दिवस-सम्बन्धी अतिचारो का अनुक्रम से चिन्तन करे।

४१. पारियकाउस्सग्गो
वन्दित्ताण तओ ।
देसियं तु अईयारं
आलोएज्ज जहक्कमं ॥

कायोत्सर्ग को पूर्ण करके गुरु को वन्दना करे। तदनन्तर अनुक्रम से दिवस-सम्बन्धी अतिचारो की आलोचना करे।

४२ पडिक्कमित्तु निस्सल्लो
वन्दित्ताण तओ गुरुं ।
काउस्सग्गं तओ
सव्वदुक्खविमोक्खणं ॥

प्रतिक्रमण कर, नि होकर गुरु को वन्दना करे। उसके बाद सब दुःखो से मुक्त करने वाला कायोत्सर्ग करे।

४३. पारियकाउस्सग्गो
वन्दित्ताण तओ ।
थुइमंगलं च
कालं संपडिलेहए ॥

कायोत्सर्ग पूरा करके गुरु को वन्दना करे। फिर स्तुतिमंगल (सिद्धस्तव) करके काल का प्रतिलेखन करे।

रात्रिक एवं प्रतिक्रमण—

४४ पोरिसिं
बीयं झियायई ।
तइयाए निद्दमोक्खं तु
सज्झायं तु चउत्थिए ॥

प्रथम पहर मे स्वाध्याय, दूसरे मे , तीसरे मे नींद और चौथे मे पुनः स्वाध्याय करे।

४५ पोरिसीए चउत्थीए काल तु प हिया । तओ कुज्जा अबोहेन्तो असजए ॥	चौथे प्रहर मे प्रतिलेखन कर, असयत व्यक्तियो को न हुआ करे ।
४६. पोरिसीए चउब्भाए वन्दिऊण तओ गुरु । पडिक्कमित्तु तु पडिलेहए ॥	चतुर्थ प्रहर के चौथे भाग मे गुरु को वन्दना कर, काल का प्रतिक्रमण कर, काल का प्रतिलेखन करे ।
४७ आगए कायवोस्सग्गे सव्वदुक्खविमोक्खणे । तओ कुज्जा सव्वदुक्खविमोक्खणं ॥	सब दु खो से मुक्त करने वाले कायोत्सर्ग का होने पर सब दु खो से मुक्त करने कायोत्सर्ग करे ।
४८ च अईयारं चिन्तिज्ज अणुपुव्वसो । नाणमि दसणंमी चरित्त मि तवमि य ॥	ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप से सम्बन्धित रात्रि-सम्बन्धी अतिचारो का अनुक्रम से चिन्तन करे ।
४९. पारियकाउस्सग्गो वन्दित्ताण तओ । तु अईयारं आलोएज्ज जहक्कम ॥	कायोत्सर्ग को पूरा कर, गुरु को को करे । फिर अनुक्रम से रात्रि-सम्बन्धी अतिचारो की आलोचना करे ।
५० पडिक्कमित्तु निस्सल्लो वन्दित्ताण तओ । तओ कुज्जा सव्वदुक्खविमोक्खण ॥	प्रतिक्रमण कर, नि शल्य होकर गुरु को करे । तदनन्तर सब दु खो से मुक्त करने कायोत्सर्ग करे ।
५१ किं तव पडिवज्जामि एव विचिन्तए । तु पारित्ता वन्दई य तओ गुरुं ॥	कायोत्सर्ग मे चिन्तन करे कि "मैं आज किस तप को स्वीकार करू" । कायोत्सर्ग को कर गुरु को करे ।

५२. पारियकाउस्सग्गो वन्दित्ताण तओ गुरुं । सपडिवज्जेत्ता करेज्ज सिद्धाण सं ॥	कायोत्सर्ग पूरा होने पर गुरु को वन्दना करे। उसके बाद यथोचित तप को स्वीकार कर सिद्धो की स्तुति करे।
५३. एसा सामायारी समासेण वियाहिया । ज चरित्ता जीवा तिण्णा ॥	सक्षेप मे यह सामाचारी कही है। इसका आचरण कर बहुत से जीव ससार-सागर को तैर गये है।
—त्ति ।	—ऐसा मै कहता हूँ।

२७

खलु'कीय

अनुशासन है—सब के लिए।

गर्ग गोत्रीय 'गार्ग्य' मुनि अपने के योग्य आचार्य थे। -साधना मे निपुण थे। स्वाध्यायशील थे और योग्य गुरु थे। किन्तु उनके शिष्य उद्दण्ड, दी और अविनीत थे। शिष्यो के अनुशासनहीन व्यवहार से ी साधना मे विघ्न आता देखकर गार्ग्य ने उन्हे छोड दिया और अकेले हो गए। आचार्य के और कोई मार्ग नही था, क्योकि समाधि और मे सहायक होना ही साधक के लिए साथी की उपयोगिता है।

अध्ययन की तरह ही इसमे विनय और अविनय की व्याख्या दी है। वस्तुत अनुशासन और अनुशासनहीनता विनय और अविनय का ही अ ग है। जो अनुशासन की उपेक्षा करता है, वह अपने समुज्ज्वल वर्तमान और भविष्य को खो देता है।

अनुशासनहीन अविनीत शिष्य उस खलु क (दुष्ट) बैल की तरह होता है, जो मार्ग मे गाडी को तोड देता है और मालिक को पहुँचाता है। वह बात-बात पर आचार्य के लडने-झगडने वाला और उनकी निंदा करने वाला होता है।

अविनीत शिष्य के लिए उत्तराध्ययन निर्यु'क्ति मे , जलौका, वृश्चिक आदि की उपमाए' दी है, जो उसके उच्छृ, एव पीडक-भाव को सूचित करती है।

सत्तावीसइमं : सप्तविंश
खलु किज्जं : कीय

मूल	हिन्दी अनुवाद
१ थेरे गणहरे गग्गे मुणी आसि विसारए । आइण्णे गणिभावम्मि समाहिं पडिसघए ॥	गर्ग कुल मे 'गार्ग्य' मुनि स्थविर, और विशारद था, गुणो से युक्त था। गणि-भाव मे स्थित था और समाधि मे अपने को जोडे हुए था ।
२ वहणे वहमाणस्स अइवत्तई । जोए वहमाणस्स रो अइवत्तई ॥	शकटादि वाहन को ठीक तरह वहन करने बैल जैसे — को सुखपूर्वक पार है, उसी तरह योग—सयम मे मुनि को पार कर है।
३ के ओ उ जोएइ विहम्माणो किलिस्सई । हिं च वेएइ तोत्तओ य से भज्जई ॥	जो क (दुष्ट) बैलो को जोतता है, वह उन्हे क्लेश पाता है, असमाधि का अनुभव है और चाबुक भी टूट है।
४. एग पुच्छमि एग विन्धइऽभिक्खण । एगो समिल एगो उप्पहपट्ठिओ ॥	वह क्षुब्ध हुआ वाहक किसी की पूँछ काट देता है, तो किसी को बार-बार बींधता है। और उन बैलो मे से कोई एक समिला—जुए की कील को तोड देता है, तो दूसरा उन्मार्ग पर चल है।

५. एगो पडइ पासेण
निवेसइ निवज्जई।
उक्कुद् उप्फिडई
बालगवी वए॥

कोई मार्ग के एक ओर पार्श्व (बगल) मे गिर पडता है, कोई बैठ जाता है, कोई लेट जाता है। कोई कूदता है, कोई है, तो कोई शठ बालगवी—तरुण गाय के पीछे भाग है।

६. माई ेण पडई
पडिप्पह।
मयलक्खेण चिट्ठई
वेगेण य पहावई।

कोई धूर्त बैल शिर को निढाल बनाकर भूमि पर गिर है। कोई क्रोधित होकर प्रतिपथ-उन्मार्ग मे चला है। कोई मृतक-सा पडा रहता है, तो कोई वेग से दौडने है।

७. छिन्नाले छिन्दई सेल्लिं
दुद्दन्तो भंजए।
से वि य
उज्जाहित्ता पलायए॥

कोई छिन्नाल—दुष्ट बैल रास को छिन्न-भिन्न कर देता है। दुर्दान्त होकर जुए को तोड देता है। और सू-सू करके वाहन को छोडकर भाग है।

८. का जारिसा जोज्जा
दुस्सीसा वि हु तारिसा।
जोइया धम्मजाणम्मि
भज्जन्ति धिइदुब्बला॥

अयोग्य बैल वाहन को तोड देते हैं, वैसे ही धैर्य मे कमजोर शिष्यो को धर्म-यान मे जोतने पर वे भी उसे तोड देते हैं।

९. इड्ढीगारविए एगे
एगेऽत्थ रसगारवे।
सायागारविए एगे
एगे सुचिरकोहणे॥

कोई ऋद्धि—ऐश्वर्य का गौरव (अहकार) है, कोई रस का गौरव है, कोई सात—सुख का गौरव करता है, तो कोई चिरकाल तक क्रोध है।

१० भिक्खालसिए एगे
एगे ओमाणभीरुए।
एगं च अणुसासम्मी
हेऊहिं कारणेहि य॥

कोई भिक्षाचरी मे करता है, कोई अपमान से है, तो कोई है—धीठ है। हेतु और कारणो से गुरु कभी किसी को अनुशासित है तो—

११ सो वि अन्तरभासिल्लो दोसमेव पकुव्वई । आयरियाणं त पडिकूलेइ अभिक्खणं ॥	वह बीच मे ही बोलने है, आचार्य के मे दोष निकालता है। तथा बार-बार उनके वचनो के प्रतिकूल आचरण करता है।
१२. न सा ममं वियाणाइ न वि सा वाहिई । निग्गया होहिई मन्ने अन्नोऽस्थ ॥	भिक्षा लाने के कोई शिष्य गृहस्वामिनी के सम्बन्ध मे कहता है—वह मुझे नही जानती है, वह मुझे नही देगी। मैं मानता हूँ—वह घर से बाहर गई होगी, अत इसके लिए कोई दूसरा साधु चला जाए।
१३. पेसिया पलिउं चन्ति ते परियन्ति समन्तओ । रायवेट्ठिं व मन्नन्ता करेन्ति भिउडिं मुहे ॥	किसी प्रयोजनविशेष से भेजने पर वे बिना कार्य किए लौट आते है और करते हैं। इधर-उधर घूमते हैं। गुरु की को राजा के द्वारा ली जाने वाली वेष्टि—बेगार की तरह मानकर पर भृकुटि तान लेते है।
१४. सगहिया चेव य पोसिया । जहा हसा पक्कमन्ति दिसोदिसिं ॥	जैसे पख आने पर हस विभिन्न दिशाओ मे उड जाते है, वैसे ही शिक्षित एव दीक्षित किए गए, भक्त-पान से पोषित किए गए कुशिष्य भी चले जाते हैं।
१५. अह सारही विचिन्तेइ केहिं समागओ । किं दुट्ठसीसेहिं मे अवसीयई ॥	अविनीत शिष्यो से खिन्न होकर धर्मयान के सारथी आचार्य सोचते हैं—"मुझे इन दुष्ट शिष्यो से क्या लाभ ? इनसे तो मेरी आत्मा अवसन्न—व्याकुल ही होती है।"
१६. जारिसा मम सीसाउ तारिसा गलिगद्दहा । गलिगद्दहे चइत्ताणं दढ परिगिण्हइ तव	जैसे गलिगर्दभ अर्थात् आलसी निकम्मे गधे होते हैं, वैसे ही ये मेरे शिष्य हैं।" यह विचार कर गर्गाचार्य गलिगर्दभ-रूप शिष्यो को छोडकर से तप-मे लग गए।

१७. मिउ — मद्दवसपन्ने गम्भीरे सुसमाहिए। विहरइ महिं महप्पा सीलभूएण ॥	वह मृदु और मार्दव से सम्पन्न, गम्भीर, सुसमाहित और शील-सम्पन्न महान् आत्मा गर्ग पृथ्वी पर विचरने लगे।
—त्ति ।	—ऐसा मैं कहता हूं।

२८

मो   र्ग-गति

की   ˙,   , चारित्र और तप से प्रारम्भ होकर
˙,   , चारित्र और तप की पूर्णता मे   ाप्त होती है।

दर्शन,   , चारित्र और तप मोक्षगति के साधन है और इन साधनो की पूर्णता ही मोक्ष है।

जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, सवर, बन्ध, निर्जरा और मोक्ष—इन नव तत्त्वो के यथार्थ स्वरूप की सम्यक्   'दर्शन' है। नव तत्त्वो का सम्यक् बोध 'ज्ञान' है। रागादि आश्रवो का निग्रह—सवरण होना 'चारित्र' है, और आत्मोन्मुख तपनक्रियारूप विशिष्ट जीवनशुद्धि तप है, जिससे पूर्व सचित कर्मो का   क्षय होता है।   के पाँच प्रकार है, दर्शन की दस रुचियाँ है, चारित्र के पाँच प्रकार है   बाह्य और आभ्यन्तर के भेद से तप के दो भेद है।

यह निरूपण व्यवहार की अपेक्षा से है। निश्चय नय की अपेक्षा से तो आत्मस्वरूप की प्रतीति दर्शन है। स्वरूप-बोध ज्ञान है। स्वय मे स्वय की सलीनता चारित्र है। इच्छा-निरोध तप है।

प्रथम दर्शन होता है, उसके बाद   होता है तथा दर्शन और ज्ञान के बाद ही चारित्र एव तप आता है। चारित्र और तप के बाद मोक्ष होता है। मात्र ज्ञान से अथवा केवल आचार से मुक्ति नही होती है, किन्तु ज्ञान और आचार के सम्यक् समन्वय से मुक्ति होती है। कही-कही प्रथम ज्ञान का उल्लेख है, किन्तु विशुद्ध दार्शनिक मीमासा के अनुसार प्रथम दर्शन का ही उल्लेख है, क्योकि सम्यग् दर्शन से ही अज्ञान सम्यग् ज्ञान होता है।

अट्ठावीसइमं ७ : अष्टाविंश
मोक्खमग्गगई : मो - र्ग-गति

मूल	हिन्दी अनुवाद
१. मोक्खमग्गगइ सुणेह जिणभासियं । चउकारणसजुत्त ॥	ज्ञानादि चार कारणो से युक्त, ज्ञान-दर्शन स्वरूप, जिनभाषित, सत्य—सम्यक् मोक्ष-मार्ग की गति को सुनो ।
२. च चेव चरित्त च तवो तहा । एस मग्गो त्ति पन्नत्तो जिणेहि वरदंसिहि ॥	वरदर्शी—सत्य के सम्यग् द्रष्टा जिन-वरो ने ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप को मोक्ष का मार्ग है ।
३ च चरित्त च तवो तहा । एय मग्गमणुप्पत्ता जीवा गच्छन्ति सोग्गइ ॥	ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप के मार्ग पर आरूढ हुए जीव सद्गति को—पवित्र स्थिति को प्राप्त करते हैं ।
४. पचविह सुय आभिनिबोहियं । ओहीनाणं च केवलं ॥	उन चारो मे ज्ञान पाच प्रकार का है—श्रुत ज्ञान, आभिनिबोधिक (मति) ज्ञान, अवधि ज्ञान, मनोज्ञान (मन पर्याय ज्ञान) और केवल ज्ञान ।
५. एय पचविहं य गुणाण य । च सव्वेसि नाणीहि देसियं ॥	यह पाँच प्रकार का ज्ञान सब द्रव्य, गुण और पर्यायो का ज्ञान (अवबोधक) है, जानने है—ऐसा ज्ञानियो ने कहा है ।

६ गुणाणमासओ
एगदव्वस्सिया गुणा ।
पज्जवाणं तु ।
ो अस्सिया भवे ॥

द्रव्य गुणो का आश्रय है, आधार है। जो प्रत्येक द्रव्य के आश्रित रहते है, वे गुण होते है। पर्यव अर्थात् पर्यायो का लक्षण दोनो के अर्थात् द्रव्य और गुणो के आश्रित रहना है ।

७ धम्मो अहम्मो
कालो पुग्गल-जन्तवो ।
एस लोगो त्ति पन्नत्तो
जिणेहि वरदंसिहि ॥

वरदर्शी जिनवरो ने धर्म, अधर्म, , काल, पुद्गल और जीव-यह छह लोक कहा है।

८. ो अहम्मो
इक्किक्कमाहियं ।
अणन्ताणि य दव्वाणि
कालो पुग्गल-जन्तवो ॥

धर्म, अधर्म और आकाश-ये तीनो द्रव्य सख्या मे एक-एक है। काल, पुद्गल और जीव—ये तीनो द्रव्य अनन्त-अनन्त है।

९ गइलक्खणो उ धम्मो
अहम्मो ठाणलक्खणो ।

नह ओगाहलक्खण ॥

गति (गति मे हेतुता) धर्म का लक्षण है, स्थिति (स्थिति होने मे हेतु) का है, सभी द्रव्यो का भाजन ( ) हलक्षण है।

१०. वत्तणालक्खणो कालो
जीवो उवओगलक्खणो ।
नाणेण दसणेण च
सुहेण य दुहेण य ॥

वर्तना (परिवर्तन) काल का है। उपयोग (चेतनाव्यापार) जीव का लक्षण है, जो ज्ञान (विशेष बोध), दर्शन (सामान्य बोध), सुख और दुःख से पहचाना जाता है।

११ नाण च चेव
चरित्त च तवो तहा ॥
वीरियं उवओगो य
एय जीवस्स ॥

ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य और उपयोग—ये जीव के लक्षण हैं।

१२ सद्दऽन्धयार-उज्जोओ
पहा छायाऽऽतवे इ वा ।
-रस-गन्ध-
पुग्गलाण तु ॥

शब्द, अन्धकार, उद्योत, प्रभा, , आतप, वर्ण, रस, गन्ध और स्पर्श—ये पुद्गल के है।

१३ एगत्त च　　त्त च
　　　　　　　य ।
　सजोगा य विभागा य
　　　　तु　　　　॥

एकत्व, पृथक्त्व—भिन्नत्व,　　, सस्थान-आकार, सयोग और विभाग—ये पर्यायो के　　है ।

१४. जीवाजीवा य बन्धो य
　पुण्ण पावासवो तहा ।
　सवरो निज्जरा मोक्खो
　　ए　तहिया　नव ॥

जीव, अजीव, बन्ध (जीव और कर्म का सश्लेष), पुण्य (शुभभाव), पाप (अशुभ भाव)　　(शुभाशुभकर्म वन्ध के हेतु रागादि), सवर (आश्रव-निरोध), निर्जरा (पूर्वबद्ध कर्मो का देशक्षय) और मोक्ष (पूर्णरूप से कर्मक्षय)—ये नौ तत्त्व हैं ।

१५ तहियाण तु
　सब्भावे　　उवएसण ।
　भावेण　　सद्दह
　स　　त वियाहिय ॥

इन　　प भावो के सद्भाव (अस्तित्व) के निरूपण मे जो भावपूवक श्रद्धा है, उसे सम्यक्त्व कहते हैं ।

१६ निसग्गुवएसरुई
　　रुई सुत्त-बीयरुइमेव ।
　अभिगम-वित्थाररुई
　किरिया-सखेव-धम्मरुई ॥

सम्यक्त्व के दस　　है—निसर्ग-रुचि, उपदेश-रुचि,　-रुचि, सूत्र-रुचि, बीज-रुचि, अभिगम-रुचि, विस्तार-रुचि, क्रिया-रुचि, सक्षेप-रुचि और धर्म रुचि ।

१७ भूयत्थेणाहिगया
　जीवाजीवा य पुण्णपाव च ।
　सहसम्मुइयासवसवरो य
　रोएइ　उ　निसग्गो ॥

(१) परोपदेश के बिना सहसमति से अर्थात् स्वय के ही यथार्थ वोध से अवगत जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव और सवर आदि तत्त्वो की जो रुचि (श्रद्धा) है वह 'निसर्ग रुचि' है ।

१८ जो　जिणदिट्ठे भावे
　चउव्विहे सद्दहाइ सयमेव ।
　एमेव नऽन्नह त्ति य
　निसग्गरुइ त्ति नायव्वो ॥

जिन भगवान् द्वारा दृष्ट एव उप-दृष्ट भावो मे, तथा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से विशिष्ट पदार्थों के विषय मे—'यह ऐसा ही है,　　नही है'—ऐसी जो स्वत स्फूर्त श्रद्धा है, वह 'निसर्ग रुचि' है ।

१९. एए चेव उ भावे जो परेण सद्दहई । छउमत्थेण जिणेण व उवएसरुइ नायव्वो ॥	(२) जो अन्य अर्हन् के उपदेश से जीवादि भावो मे करता है, वह 'उपदेशरुचि' जानना चाहिए ।
२०. रागो दोसो मोहो होइ । आणाए रोयंतो सो आणारुई ॥	(३) राग, द्वेष, मोह और अज्ञान जिसके दूर हो गये है, उसकी मे रुचि ,' रुचि' है ।
२१. जो सुत्तमहिज्जन्तो सुएण ओगाहई उ सम्मत्तं । अगेण बाहिरेण व सो सुत्तरुइ त्ति नायव्वो ॥	(४) जो अगप्रविष्ट और अगबाह्य श्रुत का अवगाहन हुआ श्रुत से की प्राप्ति है, वह 'सूत्र रुचि' जानना चाहिए ।
२२. एगेण अणेगाइ पयाइ जो पसरई उ । उदए व्व तेल्लबिन्दू सो बीयरुइ त्ति नायव्वो ॥	(५) जैसे जल मे तेल की बूँद फैल जाती है, वैसे ही जो सम्यक्त्व एक पद (तत्त्व बोध) से अनेक पदो मे फैलता है, वह 'बीज रुचि' है ।
२३ सो होइ अभिगमरुई सुयनाण जेण अत्थओ दिट्ठं । एक्कारस इ दिट्ठिवाओ य ॥	(६) जिसने ग्यारह अग, प्रकीर्णक, दृष्टिवाद आदि श्रुतज्ञान अर्थ-सहित प्राप्त किया है, वह 'अभिगम रुचि' है ।
२४. सव स हि ।। सव्वाहि नयविहीहि य वित्थाररुइ त्ति नायव्वो ॥	(७) प्रमाणो और नयो से जो द्रव्यो के सभी भावो को है, वह 'विस्तार रुचि' है ।
२५ -नाण-चरित्ते तव-विणए -समिइ-गुत्तीसु । जो किरियाभावरुई सो किरियारुई ॥	(८) , ज्ञान, चारित्र, तप, विनय, सत्य, समिति और गुप्ति आदि क्रियाओ मे जो भाव से रुचि है, वह 'क्रिया रुचि' है ।

२६. अणभिग्गहिय —कुदिट्ठी
सखेवरुइ त्ति होइ नायव्वो।
अविसारओ
अणभिग्गहिओ य सेसेसु ॥

(९) जो निर्ग्रन्थ- मे अकुशल है, साथ ही मिथ्या प्रवचनो से भी अनभिज्ञ है, किन्तु कुदृष्टि का आग्रह न होने के कारण अल्प-बोध से ही जो तत्त्व है, वह 'सक्षेप रुचि', है।

२७ जो अत्थिकायधम्म
सुयधम्म चरित्तधम्म च।
सद्दहइ जिणाभिहिय
सो त्ति नायव्वो ॥

(१०) जिन-कथित अस्तिकाय धर्म (धर्मास्तिकाय आदि अस्तिकायो के गुण-स्वाभावादि धर्म) मे, श्रुत-धर्म मे और चारित्र-धर्म मे श्रद्धा करता है, वह 'धर्म-रुचि' है।

२८ थवो वा
सुदिट्ठपरमत्थसेवणा वा वि।
वावण्णकुदसणवज्जणा
य सम्मत्तसद्दहणा ॥

परमार्थ को जानना, परमार्थ के तत्त्वद्रष्टाओ की सेवा करना, व्यापन्नदर्शन (भ्रष्ट) और कुदर्शन (मिथ्यात्वी-जनो) से दूर रहना, का है।

२९. नत्थि चरित्त सम्मत्तविहूण
उ ।
-चरित्ताइ
जुगव पुव्व व ॥

चारित्र के बिना नही होता है, किन्तु चारित्र के बिना हो है। और चारित्र युगपद्-एक साथ भी होते है। चारित्र से पूर्व का होना है।

३० नादसणिस्स
विणा न हुन्ति चरणगुणा।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो
नत्थि अमोक्खस्स निव्वाण ॥

के बिना ज्ञान नही होता है, ज्ञान के बिना चारित्र-गुण नही होता है। चारित्र-गुण के बिना मोक्ष (कर्मक्षय) नही होता है। और मोक्ष के बिना निर्वाण (चिदानन्द) नही होता है।

३१ निस्सकिय निक्कखिय
निव्वितिगिच्छा अमूढदिट्ठी य।
उववूह थिरीकरणे
वणे ॥

नि शका, निष्काक्षा, निर्विचिकित्सा (धर्म के फल के प्रति सन्देह), अमूढ-दृष्टि (देव, गुरु, और लोक मूढता आदि से रहित) उपबृहण (गुणीजनो की प्रशसा से गुणो का परिवर्धन), स्थिरीकरण, और —ये आठ सम्यक्त्व के अग हैं।

३२. पढमं छेओवट्ठावण भवे बीयं । परिहारविसुद्धीयं तह च ॥	चारित्र के पाँच हैं—पहला सामायिक, दूसरा छेदोपस्थापनीय, तीसरा परिहारविशुद्धि, चौथा सूक्ष्मसम्पराय और—
३३. अहक्खायं जिणस्स वा । एयं चयरित्तकरं चारित्तं होइ आहियं ॥	पाँचवाँ चारित्र है, जो सर्वथा कषायरहित होता है। वह छद्मस्थ और केवली—दोनो को होता है। ये चारित्र कर्म के चय ( ) को रिक्त करते है, अत इन्हे चारित्र कहते है।
३४. तवो य दुविहो वुत्तो बाहिरऽब्भन्तरो तहा । बाहिरो छव्विहो वुत्तो एवमब्भन्तरो तवो ॥	तप के दो हैं—बाह्य और आभ्यन्तर। बाह्य तप छह प्रकार का है, इसी आभ्यन्तर तप भी छह प्रकार का है।
३५. जाणई भावे य सद्दहे । चरित्तेण निगिण्हाइ तवेण परिसुज्झई ॥	ज्ञान से जीवादि भावो को जानता है, से करता है, चारित्र से कर्म-आश्रव का निरोध है, और तप से विशुद्ध होता है।
३६. खवेत्ता पुव्वकम्माइं संजमेण तवेण य । सव्वदुक्खप्पहीणट्ठा पक्कमन्ति महेसिणो ॥	सर्व दु खो से मुक्त होने के लिए महर्षि और तप के द्वारा पूर्व कर्मों का क्षय करके मोक्ष प्राप्त करते है।
—त्ति ।	—ऐसा मैं कहता हूँ।

२६

सम्यक्त्व-पराक्रम

है, किस बिन्दु से करें—सवेग से ? -श्रद्धा से ? से ? है, किसी भी बिन्दु से प्रारम्भ की की परम ई को कराती है। क्योकि भीतर मे ा की प्रत्येक महानता से जुडी हुई हैं।

एक सहज जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि सयम, स्वाध्याय, त्याग, सवेग, धर्म श्रद्धा, आलोचना आदि से जीव को क्या प्राप्त होता है ? इनके उद्देश्य क्या है ? प्रस्तुत अध्ययन मे विषयो से सम्बन्धित ७१ और उनके दिए गए है। प्राय उत्तराध्ययन मे चर्चित सभी विषयो पर प्रश्न है। कहा जा सकता है कि उत्तराध्ययन मे प्ररूपित सम्पूर्ण विपयो का सकलन एक तरह से इस अध्ययन मे समाहित है। प्रत्येक विषय की सूक्ष्म चिन्तन के गभीर चर्चा की गई है। प्रत्येक प्रश्न और उसका समाधान ात्मिक भाव की दिशा मे एक स्वतन्त्र विषय है। छोटे है, सूत्रात्मक है। उत्तर भी छोटे है, किन्तु गभीर है, वैज्ञानिक है। जैसे कि है—

सवेग से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

सवेग का साक्षात् सीधा मे कोई फल नही बताया है, किन्तु उसके फल की परम्परा का एक दीर्घ चक्र वर्णित है। पूर्व के प्रति उत्तर काय और उत्तर के प्रति पूर्व कारण बनता है। इस प्रकार दोनो मे कार्य-कारण भाव है। इस प्रकार सवेग की फलश्रुति बहुत गहराई मे जाकर स्पष्ट होती है। जैसे—

- सवेग से धर्मश्रद्धा आती है।

धर्मश्रद्धा से जीव तीव्र ो से मुक्त होता है।

तीव्र कषायो के अभाव मे जीव मिथ्यात्व का बन्ध नही करता है।

और मे उसी जन्म मे अथवा तीसरे जन्म मे मुक्त होता है।

यही निर्वेद के सम्बन्ध मे है—

● निर्वेद से अनासक्ति आती है।

इन्द्रियो के विषयो मे विरक्ति आती है।

और उससे आरम्भ एव परिग्रह का सहज परित्याग होता है।

अन्त मे संसार परिभ्रमण के चक्र से आत्मा मुक्त होता है।

● धर्मश्रद्धा से जीव सुख-सुविधाओ के प्रति उपेक्षा-भाव प्राप्त करता है।

सुख-सुविधाओ की उपेक्षा से अनगार धर्म को प्राप्त होता है।

अनगार धर्म को स्वीकार करने से मानसिक दु खो से मुक्त होता है।

अन्त मे निर्बाध सुख को प्राप्त होता है।

● गुरु और सार्धमिको की सेवा से कर्तव्यो का पालन होता है।

गुणग्राहकता आती है।

गुणग्राहकता से सुगति प्राप्त होती है।

● आलोचना से जीव मिथ्यादर्शन-शल्य को दूर करता है।

उससे सरलता आती है।

सरलता से विकारी भावो का विलय होता है।

● आत्म-निन्दा से जीव को पश्चात्ताप होता है।

पश्चात्ताप से जीव को विशुद्धभाव प्राप्त होता है।

विशुद्धभाव से मोह नष्ट होता है।

यह प्रश्नोत्तरमाला उत्तराध्ययन सूत्र का सार है। इन ७१ बातो की केवल श्रद्धा, रुचि, प्रतीति ही पर्याप्त नही है। इन सब को जीवन के - तक गहराई मे उतारने की अपेक्षा है। अध्यात्मभाव की अत्यन्त गहराई को करने वाली ये बाते है। अत पूर्णरूप से सम्यक्तया उन्हे जानकर और उनका अपने 'स्व' के प्रगाढ स्पर्श करके ही साधक पूर्णता को प्राप्त हो है।

एगुणतीसइमं अज्झयणं : एकोनत्रिंश अध्ययन
सम्मत्तपरक्कमे : त्व-पराक्रम

मूल	हिन्दी अनुवाद
सू० १—सुय मे । तेण - -इहखलु अज्झयणे महावीरेण कासवेण पवेइए, ज सद्द-हित्ता, पत्तियाइत्ता, रोयइत्ता, , , तीरइत्ता, किट्टइत्ता, सोहइत्ता, आराह-, आणाए अणुपालइत्ता बहवे जीवा सिज्झन्ति, बुज्झन्ति, मुच्चन्ति, परिनिव्वायन्ति, - दुक्खाणमन्त करेन्ति । ण अयमट्ठे एवमाहिज्जइ, त जहा—	आयुष्मन् । भगवान ने जो कहा है, वह मैंने सुना है। इस ' पराक्रम' अध्ययन मे गोत्रीय श्रमण भगवान् महावीर ने जो प्ररूपणा की है, उसकी सम्यक् श्रद्धा से, प्रतीति से, रुचि से, स्पर्श से, पालन करने से, गहराई पूर्वक जानने से, कीर्तन से, करने से, आराधना करने से, आज्ञानुसार अनुपालन करने से बहुत से जीव सिद्ध होते है, बुद्ध होते है, मुक्त होते है, परिनिर्वाण को प्राप्त होते है, सब दु खो का अन्त करते हैं । उसका यह अर्थ है, जो इस प्रकार कहा जाता है। जैसे कि—
१ सवेगे	सवेग
२ निव्वेए	निर्वेद
३ धम्मसद्धा	धर्म
४ गुरुसाहम्मियसुस्सूसणया	गुरु और साधार्मिक की शुश्रूषा
५ आलोयणया	आलोचना
६ निन्दणया	निन्दा

७ गरहणया	गर्हा
८ सामाइए	सामायिक
९ चउव्वीसत्थए	चतुर्विंशति-स्तव
१० वन्दणए	वन्दना
११ पडिक्कमणे	प्रति
१२ काउस्सग्गे	कायोत्सर्ग
१३ प णे	
१४ थवथुइमगले	स्तव-स्तुति मगल
१५ कालपडिलेहणया	कालप्रतिलेखना
१६ पायच्छित्तकरणे	प्रायश्चित्त
१७ या	क्षामणा—क्षमापना
१८ ए	स्वाध्याय
१९ वायणया	वाचना
२० पडिपुच्छणया	प्रतिप्रच्छना
२१ परि	परावर्तना—पुनरावृत्ति
२२ अणुप्पेहा	अनुप्रेक्षा—अनुचिन्तन
२३ धम्मकहा	धर्मकथा
२४ सुयस्स आराहणया	श्रुत
२५ एगग्गमणसनिवेसणया	मन की एकाग्रता
२६ सजमे	
२७ तवे	तप
२८ वोदाणे	—विशुद्धि
२९ सुहसाए	सुखशात
३० अप्पडिबद्धया	अप्रतिबद्धता
३१ विवित्तसयणासणसे ा	विविक्त शयनासन सेवन
३२ विणियट्टणया	विनिवर्तना
३३ समोगपच्चक्खाणे	समोगप्रत्याख्यान
३४ उवहिपच्चक्खाणे	उपधि-प्रत्याख्यान
३५ आह	आहार-प्रत्याख्यान
३६	-
३७ जोगपच्च	योग-
३८ सरीरपच्चक्खाणे	शरीर-
३९ सहा	सहाय-प्रत्याख्यान

४० भत्तपच्चक्खाणे	भक्त-प्रत्याख्यान
४१	सद्भाव-प्रत्याख्यान
४२ पडिरूवया	प्रतिरूपता
४३ वेयावच्चे	वैयावृत्य
४४ सव्वगुण या	सर्वगुण-सपन्नता
४५ वीयरागया	वीतरागता
४६ खन्ती	क्षान्ति
४७ मुत्ती	निर्लोभता
४८ अज्जवे	आर्जव-ऋजुता
४९ मद्दवे	मार्दव-मृदुता
५० भावसच्चे	भाव-सत्य
५१ करणसच्चे	करण-सत्य
५२ जोगसच्चे	योग-सत्य
५३ मणगुत्तया	मनोगुप्ति
५४ वयगुत्तया	वचन गुप्ति
५५ कायगुत्तया	काय गुप्ति
५६ मणसमाधारणया	मन -समाधारणा
५७ रणया	वाक्-समाधारणा
५८ कायसमाधारणया	काय-समाधारणा
५९ सपन्नया	ज्ञानसपन्नता
६० दसणसपन्नया	दर्शनसपन्नता
६१ चरित्तस या	चारित्रसपन्नता
६२ सोइन्दियनिग्गहे	श्रोत्र-इन्द्रिय-निग्रह
६३ चक्खिन्दियनिग्गहे	चक्षुष्-इन्द्रिय-निग्रह
६४ घाणिन्दियनिग्गहे	घ्राण-इन्द्रिय-निग्रह
६५ जिब्भिन्दियनिग्गहे	जिह्वा-इन्द्रिय-निग्रह
६६ फासिन्दियनिग्गहे	स्पर्शन-इन्द्रिय-निग्रह
६७ कोहविजए	क्रोधविजय
६८ माणविजए	मानविजय
६९ ाविजए	मायाविजय
७० लोहविजए	लोभविजय
७१ पेज्जदोसमिच्छादसणविजए	प्रेय-द्वेष-मिथ्यादर्शन विजय

७२ सेलेसी	शैलेशी
७३	अकर्मता

सू० २—सवेगेणं भन्ते ! जीवे यइ ?

भन्ते ! सवेग (मोक्षाभिरुचि) से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

सवेगेणं । अणुत्तराए द्धाए सवेग हृव्वमागच्छइ । न्धिकोह- -लोभे खवेइ । नव च न । तप्पच्चइयं च ण मिच्छत्त- विसोहिं दसणाराहए । दसणविसोहीए य ण विसुद्धाए अत्थेगइए भवग्गह सिज्झइ । सोहीए य ण विसुद्धाए पुणो भ हणं ॥

सवेग से जीव अनुत्तर-परम धर्म-श्रद्धा को प्राप्त होता है । परम धर्म श्रद्धा से शीघ्र ही सवेग आता है । अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ का क्षय करता है । नए कर्मों का बन्ध नही करता है । अनन्तानुबन्धी-रूप तीव्र कषाय के क्षीण होने से मिथ्यात्वविशुद्धि कर दर्शन का होता है । दर्शनविशोधि के द्वारा विशुद्ध होकर कई एक जीव उसी जन्म से सिद्ध होते हैं । और कुछ है, जो दर्शन-विशोधि-से विशुद्ध होने पर तीसरे अति नही करते हैं ।

सू० ३—निव्वेएण भन्ते ! जीवे किं ?

भन्ते ! निर्वेद (विषयविरक्ति) से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

निव्वेएणं दिव्व-माणुस-तेरिच्छि- कामभोगेसु निव्वेय हृव्व- । सव्वविसएसु विरज्जइ । सव्वविसएसु विरज्जमाणे आरम्भ- परिच्चाय करेइ । आरम्भपरिच्चाय करेमाणे वोच्छिन्दइ, सिद्धिमग्गे पडिवन्ने य ॥

निर्वेद से जीव देव, मनुष्य और तिर्यंच-सम्बन्धी काम-भोगो मे शीघ्र निर्वेद को प्राप्त होता है । सभी विषयो मे विरक्त होता है । सभी विषयो मे विरक्त होकर आरम्भ का परित्याग करता है । आरम्भ का परित्याग कर ससार-मार्ग का विच्छेद है और सिद्धि मार्ग को प्राप्त होता है ।

सू० ४—धम्मसद्धाए णं भन्ते ! किं ?

भन्ते ! धर्म-श्रद्धा से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

ध णं सायासोक्खेसु रज्जमाणे विरज्जइ ।

धर्मश्रद्धा से जीव सात-सुख अर्थात् सात वेदनीय कर्मजन्य वैषयिक सुखो की

ण चयइ । अणगारे ण जीवे सारीर- ाण दुक्खाणं छेयण- - ोगाईण वोच्छेयं करेइ, अव्वाबाहं च सुहं निव्वे ॥

आसक्ति से विरक्त होता है। अगार-धर्म को छोडता है। वह अनगार होकर छेदन, भेदन आदि शारीरिक तथा सयोगादि मानसिक दुःखों का विच्छेद करता है, अव्याबाध सुख को प्राप्त होता है।

सू० ५—गुरु-साहम्मियसुस्सूसणयाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

भन्ते ! गुरु और साधर्मिक की शुश्रूषा से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

गुरु-साहम्मियसुस्सूसणयाए णं विणयपडिवत्तिं जणयइ । ि पडि- ेय णं जीवे अणच्च ासीले नेरइय-तिरि जोणिय-म -देव-दोग्गईओ निरुम्भइ । वण्ण-स - भत्ति-ब ाए मणुस्स-देवसोग्ग-ईओ निबन्धइ, सिद्धिं सोग्गइं च विसोहेइ ।

पसत्थाइं च णं विणयमूलाइं सव्वकज्जाइं साहेइ । अन्ने य बहवे जीवे विणइत्ता भवइ ॥

गुरु और साधर्मिक की शुश्रूषा से जीव विनयप्रतिपत्ति को प्राप्त होता है। विनयप्रतिपन्न व्यक्ति गुरु की परिवादादि-रूप आशातना नहीं करता है। उससे वह नैरयिक, तिर्यग्, मनुष्य और देव सम्बन्धी दुर्गति का निरोध करता है। वर्ण (श्लाघा), सज्वलन (गुणो का प्रकाशन), भक्ति और बहुमान से मनुष्य और देव-सम्बन्धी सुगति का बन्ध करता है। और श्रेष्ठगतिस्वरूप सिद्धि को विशुद्ध करता है। विनयमूलक सभी प्रशस्त कार्यों को साधता है। बहुत से अन्य जीवो को भी विनयी बनाने वाला होता है।

सू० ६—आलोयणाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

भन्ते ! आलोचना (गुरुजनो के समक्ष अपने दोषो का प्रकाशन) से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

आलोयणाए णं -नि - मिच्छादंसणसल्लाणं मोक्खमग्ग-विग्घाणं अणन्तसंसारवद्धणाणं उद्धरणं करेइ । उज्जुभावं च जणयइ । उज्जु-भावपडिवन्ने य णं जीवे अमाई इत्थीवेय-नपुंसगवेयं च न बन्धइ । पुव्वबद्धं च णं निज्जरेइ ॥

आलोचना से मोक्ष-मार्ग में विघ्न डालने वाले और अनन्त ससार को बढाने वाले माया, निदान (तप आदि की वैष-यिक फलाकाक्षा) और मिथ्यादर्शन रूप शल्यो को निकाल फेंकता है। ऋजु-भाव को प्राप्त होता है। ऋजु-भाव को प्राप्त जीव माया-रहित होता है। अतः वह स्त्री-वेद, नपुंसक-वेद का बन्ध नहीं करता है और पूर्वबद्ध की निर्जरा करता है।

सू० ७—निन्दणयाए ण ` । जीवे ?

भन्ते । निन्दा (स्वय के द्वारा स्वय के दोषो का तिरस्कार) से जीव को क्या होता है ?

निन्दणयाए णं इ । तावेण विरज्जमाणे गुण पडिवज्जइ गु-णसेढिं पडिवन्ने य ण अणगारे मोहणिज्ज उग्घाएइ ॥

निन्दा से पश्चात्ताप प्राप्त होता है । से होने वाली विरक्ति से करण-गुण-श्रेणि प्राप्त होती है । करण-गुण-श्रेणि को प्राप्त अनगार मोहनीय कर्म को नष्ट करता है ।

सू० ८—गरहणयाए ण भन्ते । जीवे किं ?

भन्ते । गर्हा (दूसरो के अपने दोषो को प्रकट करना) से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

गरहणयाए णं अपुरक्कार - यइ । अपुरक्कारगए णं जीवे - सत्थेहितो जोगेहितो ि `इ । ोग-पडिवन्ने य ण अणगारे अणन्तघाइपज्जवे खवेइ ॥

गर्हा से जीव को अपुरस्कार (।) प्राप्त होता है । अपुरस्कृत होने से वह अ कार्यो से निवृत्त होता है । प्रशस्त कार्यों से युक्त होता है । ऐसा अनगार ज्ञान-दर्शनादि अनन्त गुणो का घात करने वाले ज्ञाना वरणादि कर्मों की पर्यायो का क्षय करता है ।

सू० ९—सामाइए णं ` । जीवे किं इ ?

भन्ते । सामायिक (समभाव) से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

सामाइएणं सावज्जजोगविरइ यइ ॥

सामायिक से जीव सावद्य योगो से—असत्प्रवृत्तियो से विरति को प्राप्त होता है ।

सू० १०—चउव्वीसत्थएण भन्ते । जीवे किं ?

भन्ते । चतुर्विशतिस्तव से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

चउव्वीसत्थएण दसणविसोहि ॥

चतुर्विशति स्तव से—चौबीस वीतराग तीर्थङ्करो की स्तुति से जीव दर्शन-विशोधि को प्राप्त होता है ।

सू० ११—वन्दणएण भन्ते !
?

वन्दणएण नीयागोय
` । ोय निवन्धइ । सोहग्ग
च ण अप्पडिहय निव्वत्तेइ,
दाहिणभाव च णं ॥

भन्ते ! वन्दना से जीव को क्या प्राप्त होता है ? वन्दना से जोव नीचगोत्र कर्म का क्षय करता है। उच्च गोत्र का वन्ध करता है। वह अप्रतिहत सौभाग्य को प्राप्त कर सर्वजनप्रिय होता है। उसकी आज्ञा सर्वत्र मानी जाती है। वह जनता से दाक्षिण्य-अनुकूलता को प्राप्त होता है।

सू० १२—पडिक्कमणेण भन्ते !
जीवे ?

पडिक्कमणेण वयछिद्दाइ पिहेइ । पिहियवयछिद्दे पुण जीवे निरुद्धासवे, असबलचरित्ते, अट्ठसु सु
` अपुहत्ते सुप्पणिहिए
विहरइ ॥

भन्ते ! प्रतिक्रमण (दोपो के प्रति-निवर्तन) से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

प्रति से जीव स्वीकृत व्रतो के छिद्रो को वद करता है। ऐसे व्रतो के छिद्रो को वद कर देने जीव आश्रवो का निरोध है, शुद्ध चारित्र का पालन है, समिति-गुप्ति रूप आठ प्रवचन-माताओ के आराधन मे उपयुक्त रहता है, स यम-योग मे अपृथक्त्व (एक रस, तल्लीन) होता है और सन्मार्ग मे समाविस्थ होकर विचरण करता है।

सू० १३—काउस्सग्गेण भन्ते !
कि यइ ?

स्सग्गेण त्तीय -
च्छित्त विसोहेइ । विसुद्धपायच्छित्ते य जीवे निव्वुयहियए ओहरियभारो व्व भारवहे, पसत्थज्झाणोवगए, सुहसुहेण विहरइ ॥

भन्ते ! कायोत्सर्ग (कुछ समय के लिए देहोत्साग—देह-भाव के विसर्जन) से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

कायोत्मर्ग से जीव अतीत और वर्त-मान के प्रायश्चित्तयोग्य अतिचारो का विशोधन करता है। प्रायश्चित्त से विशुद्ध हुआ जीव अपने भार को हटा देने वाले भार-वाहक की तरह निर्वृ तहृदय ( ) हो जाता है और ध्यान मे लीन होकर सुखपूर्वक विचरण करता है।

सू० १४—पच्चक्खाणेण भन्ते !
जीवे किं जणयइ ?

भन्ते ! प्रत्याख्यान (ससारी विषयो के परित्याग) से जोव को क्या प्राप्त होता है ?

सू० ७—निन्दणयाए ण ` । जीवे ?

भन्ते ! निन्दा (स्वय के द्वारा स्वय के दोषो का तिरस्कार) से जीव को क्या होता है ?

निन्दणयाए ण । तावेण विरज्जमाणे गुण पडिवज्जइ करणगुढि पडिवन्ने य ण अणगारे मोहणिज्ज उग्घाएइ ॥

निन्दा से पश्चात्ताप प्राप्त होता है । से होने वाली विरक्ति से करण-गुण-श्रेणि प्राप्त होती है । करण-गुण-श्रेणि को प्राप्त अनगार मोहनीय कर्म को नष्ट है ।

सू० ८—गरहणयाए णं ` । जीवे किं ?

भन्ते ! गर्हा (दूसरो के अपने दोषो को प्रकट करना) से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

गरहणयाए णं अपुरक्कार - यइ । अपुरक्कारगए ण जीवे - सत्थेहितो जोगेहितो नियत्तेइ । पसत्थजोग-पडिवन्ने य ण अणगारे अणन्तघाइपज्जवे खवेइ ॥

गर्हा से जीव को अपुरस्कार (।) प्राप्त होता है । अपुरस्कृत होने से वह कार्यो से निवृत्त होता है । प्रशस्त कार्यों से युक्त होता है । ऐसा अनगार ज्ञान-दर्शनादि अनन्त गुणो का घात करने वाले ज्ञाना वरणादि कर्मों की पर्यायो का क्षय करता है ।

सू० ९—सामाइए ण भन्ते ! जीवे किं इ ?

भन्ते ! सामायिक (समभाव) से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

सामाइएण सावज्जजोगविरइ ॥

सामायिक से जीव योगो से—असत्प्रवृत्तियो से विरति को प्राप्त होता है ।

सू० १०—चउव्वीसत्थएण भन्ते ! जीवे किं ?

भन्ते ! चतुर्विंशतिस्तव से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

चउव्वीसत्थएण दसणविसोहिं ॥

चतुर्विंशति स्तव से—चौबीस वीतराग तीर्थङ्करो की स्तुति से जीव दर्शन-विशोधि को प्राप्त होता है ।

सू० ११—वन्दणएण भन्ते ! जीवे कि जणयइ ?

वन्दणएण नीयागोय ` । ोय निबन्धइ । सोहग्ग च ण अप्पडिहय आणाफल निव्वत्तेइ, दाहिणभाव च ण जणयइ ।।

भन्ते ! वन्दना से जीव को क्या प्राप्त होता है ? वन्दना से जीव नीचगोत्र कर्म का क्षय करता है । उच्च गोत्र का वन्ध करता है । वह अप्रतिहत सौभाग्य को प्राप्त कर सर्वजनप्रिय होता है । उसकी आज्ञा मानी जाती है । वह जनता से दाक्षिण्य-अनुकूलता को प्राप्त होता है ।

सू० १२—पडिक्कमणेण भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

पडिक्कमणेण वयछिद्दाइ पिहेइ । पिहियवयछिद्दे पुण जीवे निरुद्धासवे, 'बलचरित्ते, अट्ठसु पवयणमायासु ` अपुहत्ते सुप्पणिहिए विहरइ ।।

भन्ते ! प्रतिक्रमण (दोषो के प्रति-निवर्तन) से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

प्रतिक्रमण से जीव स्वीकृत व्रतो के छिद्रो को वद करता है । ऐसे व्रतो के छिद्रो को वद कर देने वाला जीव आश्रवो का निरोध करता है, शुद्ध चारित्र का पालन करता है, समिति-गुप्ति रूप आठ प्रवचन-माताओ के आराधन मे सतत उपयुक्त रहता है, सयम-योगा मे अपृथक्त्व (एक रस, तल्लीन) होता है और सन्मार्ग मे सम्यक् समाविस्थ होकर विचरण करता है ।

सू० १३—काउस्सग्गेण भन्ते ! जीवे कि यइ ?

स्सग्गेण ऽतीय-पडुप्पन्न - च्छित्त विसोहेइ । विसुद्धपायच्छित्ते य जीवे निव्वुयहियए ओहरियभारो व्व भारवहे, पसत्थज्झाणोवगए, हेण विहरइ ।।

भन्ते ! कायोत्सर्ग (कुछ समय के लिए देहोत्सग—देह-भाव के विसर्जन) से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

कायोत्सर्ग से जीव अतीत और वर्त-मान के प्रायश्चित्तयोग्य अतिचारो का विशोधन करता है । प्रायश्चित्त से विशुद्ध हुआ जीव अपने भार को हटा देने वाले भार-वाहक की तरह निर्वृतहृदय (शान्त) हो जाता है और प्रशस्त ध्यान मे लीन होकर सुखपूर्वक विचरण करता है ।

सू०. १४—पच्चक्खाणेण भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

भन्ते ! प्रत्याख्यान (सभारी विषयो के परित्याग) से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

पच्चक्खाणेणं
निरुम्भइ ।

प्रत्याख्यानसे जीव आश्रवद्वारो का—कर्मबन्ध के रागादि हेतुओ का निरोध करता है ।

सू० १५—थव-थुइमगलेण भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

भन्ते ! स्तवस्तुति मगल से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

थवथुइमगलेण -चरित्त बोहिलाभ जणयइ । -चरित्तबोहिलाभसपन्ने य ण अन्तकिरिय कप्पविमाणोववत्तिगं आराहण आराहेइ ॥

स्तव-स्तुति मगल से जीव को ज्ञान-दर्शन चारित्र-स्वरूप वोधि का लाभ होता है। ज्ञान-दर्शन—चारित्र वोधि के लाभ से जीव अन्तक्रिया (मोक्ष) के योग्य वैमानिक देवो मे होने के योग्य आराधना करता है ।

सू० १६—कालपडिलेहणयाए ण भन्ते ! जीवे कि यइ ?

भन्ते ! काल की प्रतिलेखना से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

कालपडिलेहणयाए ण -वरणिज्ज खवेइ ॥

काल की प्रतिलेखना से (स्वाध्याय आदि धर्म-क्रिया के लिए उपयुक्त समय का रखने से) जीव ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय है ।

सू० १७—पायच्छित्तकरणेण भन्ते ! किं ?

भन्ते ! प्रायश्चित्त (पापकर्मों की तप आदि के द्वारा विशुद्धि) से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

पायच्छित्तकरणेण पा- विसोहिं , निरइयारे यावि । च ण पायच्छित्त पडिवज्जमाणे च च विसोहेइ । अ च च आराहेइ ॥

प्रायश्चित्त से जीव पापकर्मों को दूर है और धर्म-साधना को निरतिचार है। सम्यक् प्रकार से प्रायश्चित्त करने वाला साधक मार्ग ( ) और मार्ग-फल (ज्ञान) को निर्मल है । आचार और -फल (मुक्ति) की । करता है ।

सू० १८—खमावणयाए ण ` ।
जीवे ˜ जणयइ ?

खमावणयाए ण पल्हायणभाव जणयइ। पल्हायणभावमुवगए य सव्वपाण-भूय-जीवसत्त सु मित्तीभाव-मुप्पाएइ। मित्तीभावमुवगए यावि जीवे भावविसोहिं निब्भए भवइ ॥

भन्ते ! क्षामणा (क्षमापना) करने से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

क्षमापना करने से जीव प्रह्लाद भाव (चित्तप्रसत्तिरूप मानसिक प्रसन्नता) को प्राप्त होता है। प्रह्लाद भाव से सम्पन्न साधक सभी प्राण, भूत, जीव और सत्त्वो के साथ मैत्री भाव को प्राप्त होता है। मैत्रीभाव को प्राप्त जीव भाव-विशुद्धि कर निर्भय होता है।

सू० १९—सज्झाएण भन्ते !
जीवे जणयइ ?

सज्झाएण नाणावरणिज्ज
॥

भन्ते ! स्वाध्याय से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

स्वाध्याय से जीव ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय करता है।

सू० २०—वायणाए ण भन्ते !
कि जणयइ ?

वायणाए ण निज्जर जणयइ। सुयस्स य अणासायणाए वट्टए। सुयस्स अणासायणाए वट्टमाणे तित्थ अवलम्बइ। तित्थधम्म अवलम्बमाणे महानिज्जरे महापज्ज-वसाणे भवइ ॥

भन्ते ! वाचना (अध्यापन-पढाना) से जीव को क्या प्राप्त होता ?

वाचना से जीव कर्मो की निर्जरा करता है, श्रुत ज्ञान की आशातना के दोष से दूर रहता है। श्रुत ज्ञान की आशातना के दोष से दूर रहने वाला तीर्थ धर्म का अवलम्बन करता है—गणधरो के समान जिज्ञासु शिष्यो को श्रुत प्रदान करता है। तीर्थ धर्म का अवलम्बन लेकर कर्मो की महानिर्जरा करता है। और महापर्यवसान (ससार का अन्त) करता है।

सू० २१—पडिपुच्छणयाए ण भन्ते !
जीवे कि जणयइ ?

पडिपुच्छणयाए ण सुत्तऽत्थ-तदुभयाइ विसोहेइ। कखामोहणिज्ज वोच्छिन्दइ ॥

भन्ते ! प्रतिप्रच्छना से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

प्रतिप्रच्छना (पूर्वपठित शास्त्र के सम्बन्ध मे शकानिवृत्ति के लिए प्रश्न करना) से जीव सूत्र, अर्थ और तदुभय-दोनो से सम्बन्धित काक्षामोहनीय (सशय) का निराकरण करता है।

सू० २२—परियट्टणाए ण भन्ते ! जीवे कि जणयइ ?

भन्ते ! परावर्तना से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

परियट्टणाए ण इ यइ, वजणलद्धिं च उप्पाएइ ॥

परावर्तना से अर्थात् पठित पाठ के पुनरावर्तन से व्य जन (शब्द पाठ) स्थिर होता है। और जीव पदानुसारिता आदि व्यजन-लब्धि को प्राप्त होता है।

सू० २३—अणुप्पेहाए ण भन्ते ! जीवे कि ?

भन्ते ! अनुप्रेक्षा से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

अणुप्पेहाए ण ाओ सत्तकम्मप्पगडीओ घणियबन्धण- ओ सिढिलबन्ध ाओ पकरेइ। दीहकालट्ठिइयाओ हस्स- कालट्ठिइयाओ पकरेइ। तिव्वाणु- भावाओ मन्दाणुभावाओ पकरेइ। बहुपएसग्गाओ अप्पपएसग्गाओ पकरेइ। च ण सिय बन्धइ, सिय नो । - णिज्ज च ण नो भुज्जो भुज्जो उवचिणाइ। च ण दीहमद्ध ससारकन्तार खिप्पामेव वीइवयइ ॥

अनुप्रेक्षा से—सूत्रार्थ के चिन्तन मनन से जीव आयुष् कर्म को छोडकर शेष ज्ञाना- वरणादि सात कर्मों की प्रकृतियो के प्रगाढ बन्धन को शिथिल करता है। उनकी दीर्घकालीन स्थिति को अल्पकालीन करता है। उनके तीव्र रसानुभाव को मन्द करता है। बहुकर्म प्रदेशो को अल्प-प्रदेशो मे परिवर्तित है। आयुष् कर्म का बन्ध कदाचित् करता है, कदाचित् नही भी करता है। असातवेदनीय कर्म का पुन पुन उपचय नही है। जो ससार अटवी अनादि एव अनवदग्र—अनन्त है, दीर्घ मार्ग से युक्त है, जिसके नरकादि गति- रूप चार अन्त ( ) हैं, उसे शीघ्र ही पार है।

सू० २४— कहाए ण ! जीवे कि ?

भन्ते ! धर्मकथा (धर्मोपदेश) से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

धम्मकहाए ण निज्जर । धम्मकहाए ण पभावेइ। पभावे ण आगमिसस्स भद्दत्ताए निबन्धइ ॥

धर्म कथा से जीव कर्मो की निर्जरा है और (एव सिद्धान्त) को करता है। प्रवचन की करने वाला जीव भविष्य मे शुभ फल देने वाले कर्मो का बन्ध करता है।

सू० २५—सुयस्स आराहणयाए ण भन्ते ! जीवे कि जणयइ ?

भन्ते ! श्रुत की आराधना से जीव को क्या होता है ?

सुयस्स आराहणयाएण सवेइ, न य संकिलिस्सइ ॥

श्रुत की आराधना से जीव अज्ञान का क्षय करता है और क्लेश को प्राप्त नही होता है ।

सू० २६—एगग्गमणसंनिवेसणयाए ण ! जीवे कि ?

भन्ते ! मन को एकाग्रता मे संनिवेशन —स्थापित करने से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

एगग्गमणसंनिवेसणाए ण चित्त-निरोह करेइ ॥

मन को एकाग्रता मे स्थापित करने से चित्त का निरोध होता है ।

सू० २७—सजमेण भन्ते ! जीवे जणयइ ?

भन्ते ! सयम से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

सजमेण अणण्हयत्त ज ॥

सयम से अनहस्कत्व अर्थात् अना-को—आश्रव के निरोध को प्राप्त होता है ।

सू० २८—तवेण भन्ते ! जीवे कि ?

भन्ते ! तप से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

वोदाण जणयइ ॥

तप से जीव पूर्व सचित कर्मो का क्षय करके व्यवदान—विशुद्धि को प्राप्त होता है ।

सू० २९—वोदाणेण भन्ते ! जीवे कि ?

भन्ते ! व्यवदान से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

वोदाणेण अकिरियं ज । अकिरियाए भवित्ता तओ सिज्झइ, , मुच्चइ, परिनिव्वाएइ, सव्वदुक्खाणमन्त करेइ ॥

व्यवदान से जीव को अक्रिया (मन वचन, काय की प्रवृत्ति की निवृत्ति) प्राप्त होती है । अक्रिय होने के बाद वह सिद्ध होता है, बुद्ध होता है, मुक्त होता है, परिनिर्वाण को प्राप्त होता है और सब दु खो का अन्त करता है ।

सू० ३०—सुहसाएण भन्ते !
जीवे कि ?

भन्ते ! सुखशात से अर्थात् वैषयिक सुखो की स्पृहा के शातन—निवारण से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

सुहसाएण अणुस्सुयत्त । अणुस्सुयाए ण जीवे अणुकम्पए, अणुब्भडे, विगयसोगे, चरित्तमोह-णिज्ज ख ॥

सुख-शात से विषयो के प्रति अनुत्सुकता होती है। अनुत्सुकता से जीव अनुकम्पा करने , अनुद्भट (प्रशान्त), शोकरहित होकर चारित्रमोहनीय कर्म का क्षय करता है।

सू० ३१—अप्पडिबद्धयाए ण भन्ते !
जीवे कि ?

भन्ते ! अप्रतिबद्धता (अनासक्ति) से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

अप्पडिबद्धयाए ण निस्सगत्त । निस्सगत्तेण जीवे एगे, एगग्गचित्ते, दिया य राओ य असज्जमाणे, अप्पडिबद्धे यावि विहरइ ॥

अप्रतिबद्धता से जीव निस्सग होता है। निस्सग होने से जीव एकाकी (आत्म-निष्ठ) होता है, एकाग्रचित्त होता है। दिन और रात सदा सर्वत्र विरक्त और अप्रतिबद्ध होकर विचरण करता है।

सू० ३२—विवित्तसयणासणयाए ण
भन्ते ! जीवे कि ?

भन्ते ! विविक्त शयनासन से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

विवित्तसयणासणयाए ण चरित्त-गुत्ति जणयइ। चरित्तगुत्ते य ण जीवे विवित्ताहारे, दढचरित्ते, एगन्तरए, मोक्खभावपडिवन्ने अट्ठविहकम्मग ठि निज्जरेइ ॥

विविक्त शयनासन से—अर्थात् जन-समर्द से रहित एकान्त स्थान मे निवास करने से जीव चारित्र की रक्षा करता है। चारित्र की रक्षा करने वाला विविक्ताहारी (वासना-वर्धक पौष्टिक आहार का त्यागी), दृढ चारित्री, एकान्तप्रिय, मोक्ष भाव से सपन्न जीव आठ प्रकार के कर्मों की ग्रन्थि का निर्जरण—क्षय करता है।

सू० ३३—विणियट्टणयाए ण भन्ते ! जीवे इ ?

भन्ते ! विनिवर्तना से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

विणियट्टणयाए ण अकरणयाए अब्भुट्ठेइ। पुव्वबद्धाण य निज्जरणयाए त नि इ, तओ कन्तार वीइवयइ।

विनिवर्तना से—मन और इन्द्रियों को विषयो से अलग रखने की सावना मे जीव पाप कर्म न करने के लिए उद्यत रहता है, पू कर्मों की निर्जरा से कर्मों को निवृत्त करता है। तदनन्तर जिसके चार अन्त है, ऐसे ससार कान्तार को शीघ्र ही पार कर जाता है।

सू० ३४—सभोगपच्चक्खाणेण भन्ते ! जीवे कि जणयइ ?

भन्ते ! सम्भोग के प्रत्याख्यान से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

सभोग पच्चक्खाणेण आलम्बणाइ । निरालम्बणस्स य आययट्ठिया जोगा भवन्ति। सएण सतुस्सइ, म नो आसाएइ, नो तक्केइ, नो पीहेइ, नो पत्थेइ, नो अभिलसइ। सायमाणे, हेमाणे, अपीहेमाणे, अपत्थेमाणे, अणभिलसमाणे दुच्च सुहसेज्ज उवसपज्जित्ताण विहरइ।

सम्भोग (एक-दूसरे के साथ सह-भोजन आदि के सपर्क) के प्रत्याख्यान से परावलम्बन से निरालम्ब होता है। निरालम्ब होने से उसके सारे प्रयत्न आयतार्थ (मोक्षार्थ) हो जाते है। स्वय के उपार्जित लाभ से सन्तुष्ट होता है। दूसरो के लाभ का आस्वादन (उपभोग) नही करता है। उसकी कल्पना नही करता है, स्पृहा नही करता है, प्रार्थना नही करता है, अभिलाषा नही करता है। दूसरो के लाभ का आस्वादन, कल्पना, स्पृहा, प्रार्थना और अभिलाषा न करता हुआ दूसरी सुख-शय्या को प्राप्त होकर विहार करता है।

सू० ३५—उवहिपच्च भन्ते ! जीवे कि जणयइ ?

भन्ते ! उपधि के प्रत्याख्यान से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

उवहिपच्चक्खाणेण अपलिमन्थ जणयइ। निरुवहिए ण जीवे निक्कखे, उवहिमन्तरेण य न सकिलिस्सई।

उपधि (उपकरण) के प्रत्याख्यान से जीव निर्विघ्न स्वाध्याय को प्राप्त होता है। उपधिरहित जीव आकाक्षा से मुक्त होकर उपधि के अभाव मे क्लेश को प्राप्त नही होता है।

सू० ३०—सुहसाएण भन्ते ! जीवे कि ?

भन्ते ! सुखशात से अर्थात् वैषयिक सुखो की स्पृहा के —निवारण से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

सुहसाएण अणुस्सुयत्त । अणुस्सुयाए ण जीवे अणुकम्पए, अणुब्भडे, विगयसोगे, चरित्तमोह-णिज्ज ख ॥

सुख-शात से विपयो के प्रति अनुत्सुकता होती है। अनुत्सुकता से जीव अनुकम्पा करने वाला, अनुद्भट (प्रशान्त), शोकरहित होकर चारित्रमोहनीय कर्म का क्षय करता है।

सू० ३१—अप्पडिबद्धयाए ण भन्ते ! जीवे किं ?

भन्ते ! अप्रतिवद्धता (अनासक्ति) से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

अप्पडिबद्धयाए ण निस्सगत्त । निस्सगत्तेण जीवे एगे, एगग्गचित्ते, दिया य राओ य असज्जमाणे, अप्पडिबद्धेयावि विहरइ ॥

अप्रतिवद्धता से जीव निस्सग होता है। निस्सग होने से जीव एकाकी (आत्म-निष्ठ) होता है, एकाग्रचित्त होता है। दिन और रात सदा सर्वत्र विरक्त और अप्रतिबद्ध होकर विचरण करता है।

सू० ३२—विवित्तसयणासणयाए ण भन्ते ! जीवे किं ?

भन्ते ! विविक्त शयनासन से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

विवित्तसयणासणयाए ण चरित्त-गुत्ति । चरित्तगुत्ते य ण जीवे विवित्ताहारे, दढचरित्ते, एगन्तरए, मोक्खभावपडिवन्ने अट्ठविहकम्मग ठि निज्जरेइ ॥

विविक्त शयनासन से—अर्थात् जन-समर्द से रहित एकान्त स्थान मे निवास करने से जीव चारित्र की रक्षा करता है। चारित्र की रक्षा करने वाला विविक्ताहारी (वासना-वर्धक पौष्टिक आहार का त्यागी), दृढ चारित्री, एकान्तप्रिय, मोक्ष भाव से सपन्न जीव आठ प्रकार के कर्मों की ग्रन्थि का निर्जरण—क्षय करता है।

सू० ३३--विणियट्टणयाए ण भन्ते ! जीवे किं इ?

विणियट्टणयाए ण
अकरणयाए अब्भुट्ठेइ। पुव्वबद्धाण य निज्जरणयाए त नियत्तेइ, तओ
कन्तार
वीइवयइ।

भन्ते ! विनिवर्तना से जीव को क्या होता है ?

विनिवर्तना से--मन और इन्द्रियों को विषयो से अलग रखने की साधना मे जीव पाप कर्म न करने के लिए उद्यत रहता है, पूर्वबद्ध कर्मो की निर्जरा मे कर्मो को निवृत्त करता है। तदनन्तर जिसके चार अन्त है, ऐसे ससार कान्तार को शीघ्र ही पार कर जाता है।

सू० ३४--सभोगपच्चक्खाणेण भन्ते ! जीवे किं ज ?

सभोग पच्चक्खाणेण आलम्बणाइ
। निरालम्बणस्स य
ट्ठिया जोगा भवन्ति। सएण लाभेण सतुस्सइ, परलाभ नो आसाएइ, नो तक्केइ, नो पीहेइ, नो पत्थेइ, नो अभिलसइ। अणास ,
केमाणे, अपीहेमाणे, अपत्थेमाणे,
भिलसमाणे दुच्च सुहसेज्ज उवसपज्जित्ताण वि ।

भन्ते ! सम्भोग के प्रत्याख्यान से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

सम्भोग (एक-दूसरे के साथ सह-भोजन आदि के सपर्क) के प्रत्याख्यान से परावलम्बन से निरालम्ब होता है। निरालम्ब होने से उसके सारे प्रयत्न आयतार्थ (मोक्षार्थ) हो जाते है। स्वय के उपार्जित लाभ से सन्तुष्ट होता है। दूसरो के लाभ का आस्वादन (उपभोग) नही करता है। उसकी कल्पना नही करता है, स्पृहा नही
है, प्रार्थना नही करता है, अभिलाषा नही करता है। दूसरो के लाभ का आस्वादन, कल्पना, स्पृहा, प्रार्थना और अभिलाषा न हुआ दूसरी सुख-शय्या को प्राप्त होकर विहार करता है।

सू० ३५--उवहिपच्चक्ख भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

उवहिपच्चक्खाणेण अपलिमन्थ जणयइ। निरुवहिए ण जीवे निक्कखे, उवहिमन्तरेण य न सकिलिस्सई।

भन्ते ! उपधि के प्रत्याख्यान से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

उपधि (उपकरण) के प्रत्याख्यान से जीव निर्विघ्न स्वाध्याय को प्राप्त होता है। उपधिरहित जीव आकाक्षा से मुक्त होकर उपधि के अभाव मे क्लेश को प्राप्त नही होता है।

सू० ३६—आहारपच्चक्खाणेण भन्ते ! कि ?

भन्ते ! आहार के से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

आहारपच्चक्खाणेण जीवियासंसप्पओगं वोच्छिन्दइ । जीवियाससप्पओगं वोच्छिन्दित्ता जीवे आहारमन्तरेण न संकिलिस्सइ ।

आहार के प्रत्याख्यान से जीव जीवन की आशसा—कामना के प्रयत्नो को विच्छिन्न कर देता है । जीवन की कामना के प्रयत्नो को छोडकर वह आहार के मे भी क्लेश को प्राप्त नही होता है ।

सू० ३७—कसायपच्चक्खाणेण भन्ते ! जीवे ?

भन्ते ! के से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

कसायपच्चक्खाणेण वीयराग- । वीयरागभावपडि- ेवि य ण समसुहदुक्खे ॥

कषाय के से वीतराग-भाव को प्राप्त होता है । वीतरागभाव को प्राप्त जीव सुख-दु ख मे सम होजाता है ।

सू० ३८—जोगपच्चक्खाणेण भन्ते ! जीवे ?

भन्ते ! योग के प्रत्याख्यान से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

जोगपच्चक्खाणेणं अजोगत्तं जणयइ । ोगी ण जीवे नव म , पुव्वबद्धं च निज्जरेइ ।

मन, वचन, काय से सम्बन्धित योगो—व्यापारो के प्रत्याख्यान से अयोगत्व को प्राप्त होता है । अयोगी जीव नए कर्मों का बन्ध नही करता है, पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा करता है ।

सू० ३९—सरीरपच्चक्खाणेणं भन्ते ! जीवे किं ?

भन्ते ! शरीर के प्रत्य से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

सरीरपच्चक्खाणेण सिद्धा - गुणत्तण निव्वत्तेइ । सिद्धाइसयगुणसपन्ने य ण जीवे लोगग्गमुवगए परमसुही ।

शरीर के प्रत्याख्यान से जीव सिद्धो के विशिष्ट गुणो को प्राप्त होता है । सिद्धो के विशिष्ट गुणो से सम्पन्न जीव लोकाग्र मे पहुँचकर परम सुख को प्राप्त होता है ।

सू० ४०—सहायपच्चक्खाणेण भन्ते ! जीवे ?

भन्ते ! सहाय-प्रत्याख्यान से जीव-को क्या होता है ?

सहायपच्चक्खाणेण एगीभाव । एगीभावभूए वि य णं जीवे एगग्ग भावेमाणे अप्पसद्दे, , अप्पकलहे, अप्पकसाए, अप्पतुमतुमे, सजमबहुले, बहुले, समाहिए यावि ।

सहायता के प्रत्याख्यान से जीव एकीभाव को प्राप्त होता है । एकीभाव को प्राप्त एकाग्रता की भावना करता हुआ विग्रहकारी शब्द, वाक्कलह-झगडा-टटा, क्रोधादि कषाय तथा तू, तू मैं, मैं आदि से मुक्त रहता है । सयम और सवर मे प्राप्त कर समाधि-सम्पन्न होता है ।

सू० ४१—भत्तपच्चक्खाणेण भन्ते ! जीवे ?

भन्ते ! भक्त (भक्त परि-ज्ञ आमरण , सथारा) से जीव को क्या होता है ?

णेणं अणेगाइं - ' निरुम्भइ ।

भक्त-प्रत्याख्यान से जीव अनेक प्रकार के सैकडो भवो का, जन्म-मरणो का निरोध करता है ।

सू० ४२—सब्भावपच्चक्खाणेणं भन्ते ! किं ?

भन्ते ! सद्भाव प्रत्याख्यान से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

णेण अनियट्टि जणयइ । अनियट्टिपडिवन्ने य - गारे चत्तारि केवलिकम्मसे खवेइ । त जहा-वेयणिज्ज, अ , , गोय । तओ । सिज्झइ, बु , मुच्चइ, परिनिव्वाएइ, सव्वदुक्खाण-मन्त करेइ ।

सद्भाव प्रत्याख्यान (सर्वसवरस्वरूप शैलेशी भाव) से जीव अनिवृत्ति (शुक्ल-ध्यान का चतुर्थ भेद) को प्राप्त होता है । अनिवृत्ति को प्राप्त अनगार केवली के शेष रहे हुए वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र—इन चार भवोपग्राही कर्मो का क्षय करता है । उसके पश्चात् वह सिद्ध होता है, बुद्ध होता है, मुक्त होता है, परिनिर्वाण को प्राप्त होता है, सर्व दु खो का अन्त करता है ।

सू० ४३—पडिरूवयाए ण भन्ते ! जीवे कि इ ?

भन्ते ! प्रतिरूपता से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

पडिरूवयाए ण विय जणयइ । लहुभूए ण जीवे , पागडलिंगे, पसत्थलिंगे, वि - स , सत्तसमिइसमत्ते, - ाविसत्तेसु वीससणिज्जरूवे, अप्पडिलेहे, जिइन्दिए, विउलतव-समिइसमन्नागए यावि ।

प्रति से—जिन-कल्प जैसे आचार के पालन से जीव उपकरणो की लघुता को प्राप्त होता है। लघु भूत होकर जीव , प्रकट लिंग (वेष) वाला, लिंग वाला, विशुद्ध सम्यक्त्व से सम्पन्न, सत्त्व (धैर्य) और समिति से परिपूर्ण, सर्व प्राण, भूत जीव और सत्त्वो के लिए विश्वसनीय, अल्प प्रतिलेखन वाला, जितेन्द्रिय, विपुलतप और समितियो का सर्वत्र प्रयोग करने होता है।

सू० ४४—वेयावच्चेण भन्ते ! जीवे कि जणयइ ?

भन्ते ! वैयावृत्य से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

वेयावच्चेण तित्थयरनामगोत्त निबन्धइ ॥

वैयावृत्य से जीव तीर्थंकर नाम-गोत्र का उपार्जन करता है ?

सू० ४५—सव्वगुणसपन्नयाए ण भन्ते ! जीवे किं ?

भन्ते ! सवगुणसपन्नता से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

सव्वगुणस ए ण अपुणरावत्ति जणयइ । अपुणरावत्ति पत्तए य ण जीवे सारीरमाणसाण दुक्खाण नो भागी ।

सर्वगुणसपन्नता से जीव अपुनरावृत्ति (मुक्ति) को प्राप्त होता है । अपुनरावृत्ति को प्राप्त जीव शारीरिक और मानसिक दु खो का भागी नही होता है।

सू० ४६—वीयरागयाए ण भन्ते ! जीवे कि जणयइ ?

भन्ते ! वीतरागता से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

वीयरागयाए ण नेहाणुबन्धणाणि, तण्हाणुबन्धणाणि य वोच्छिन्दइ । मणुन्नेसु सद्द-फरिस-रस - गन्धेसु चेव विरज्जइ ।

वीतरागता से जीव स्नेह और तृष्णा के अनुबन्धनो का विच्छेद करता है । मनोज्ञ शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गन्ध से विरक्त होता है।

सू० ४७—खन्तीए ण भन्ते ! जीवे
किं ?

खन्तीए ण परीसहे जिणइ ।

भन्ते ! क्षान्ति (क्षमा, तितिक्षा) से जीव को क्या प्राप्न होता है ?

क्षान्ति से जीव परीपहों पर विजय प्राप्त करता है ।

सू० ४८—मुत्तीए ण भन्ते ! जीवे
कि ?

मुत्तीए ण अकिंचण इ । अकिंचणे य जीवे अत्थलोलाण अपत्थणिज्जो ।

भन्ते ! मुक्ति (निर्लोभता) से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

मुक्ति से जीव अकिंचनता (अपरिग्रह) को प्राप्त होता है। अकिंचन जीव अर्थ के लोभी जनो से अप्रार्थनीय हो जाता है ।

सू० ४९—अज्जवयाए ण भन्ते !
कि इ ?

अज्जवयाए ण काउज्जुयय, भावुज्जुयय, भासुज्जुयय अविसवायण । अविसवायण-सपन्नयाए ण आराहए ।

भन्ते ! ऋजुता (सरलता) से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

ऋजुता से जीव काय की सरलता, भाव (मन) की सरलता, भाषा की और अविसवाद ( ) को होता है । अविसवाद-सम्पन्न जीव धर्म का होता है ।

सू० ५०—मद्दवयाए ण भन्ते !
किं ?

मद्दवयाए ण अणुस्सि । अणुस्सियत्ते ण जीवे मिउमद्दवसपन्ने मयट्ठाणाइ निट्ठवेइ ।

भन्ते ! मृदुता से जीव को क्या होता है ?

मृदुता से जीव अनुद्धत भाव को प्राप्त होता है। अनुद्धत जीव मृदु-मार्दव-भाव से सम्पन्न होता है। आठ मद-स्थानो को विनष्ट करता है ।

सू० ५१—भावसच्चेण भन्ते ! जीवे
किं ?

भावसच्चेण भावविसोहि जणयइ । भावविसोहीए वट्टमाणे जीवे अरह स आराहणयाए अब्भु इ । अरहन्तस्स आराहणयाए अब्भुट्ठित्ता परलोग आराहए हवइ ।

भन्ते ! भाव-सत्य (अन्तरात्मा की सच्चाई) से जीव को क्या प्राप्त होता है ।

भाव-सत्य से जीव भाव-विशुद्धि को प्राप्त होता है । भाव-विशुद्धि मे वर्तमान जीव अर्हत्प्रज्ञप्त धर्म की आराधना मे उद्यत होता है। अर्हत्प्रज्ञप्त धर्म की आराधना मे होकर परलोक मे भी धर्म का आराधक होता है ।

सू० ५२—करणसच्चेण भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

भन्ते ! करण सत्य (कार्य की सचाई) से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

करणसच्चेण करणसत्तिं । करणसच्चे वट्टमाणे जीवे जहावाई तहाकारी यावि ।

करण सत्य से जीव करणशक्ति (प्राप्त कार्य को सम्यक्तया सपन्न करने का सामर्थ्य) को प्राप्त होता है। करण-सत्य मे वर्तमान जीव 'यथावादी तथाकारी' (जैसा बोलता है, वैसा ही करने वाला) होता है।

सू० ५३—जोगसच्चेण भन्ते ! जीवे किं ?

भन्ते ! योग-सत्य से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

जोगसच्चेण जोगं विसोहेइ।

योग सत्य से—मन वचन, और काय के प्रयत्नो की सचाई से जीव योग को विशुद्ध करता है।

सू० ५४—मणगुत्तयाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

भन्ते ! मनोगुप्ति से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

मणगुत्तयाए णं जीवे एगग्ग । एगग्गचित्ते णं जीवे मण-गुत्ते सजमाराहए ।

मनोगुप्ति से जीव एकाग्रता को प्राप्त होता है। एकाग्र चित्त वाला जीव अशुभ विकल्पो से मन की रक्षा करता है, और सयम का आराधक होता है।

सू० ५५—वयगुत्तयाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

भन्ते ! वचन गुप्ति से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

वयगुत्तयाए णं निव्वियार । निव्वियारे णं जीवे वइगुत्ते अज्झप्पजोगज्झाणगुत्ते यावि ।

वचनगुप्ति से जीव निर्विकार भाव को प्राप्त होता है। निर्विकार जीव सर्वथा वाग्गुप्त तथा अध्यात्म योग के साधनभूत-ध्यान से युक्त होता है।

सू० ५६—कायगुत्तयाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ? -

भन्ते ! कायगुप्ति से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

कायगुत्तयाए णं । सवरेण कायगुत्ते पुणो पावासव-निरोहं करेइ।

काय गुप्ति से जीव सवर (अशुभ-प्रवृत्ति के निरोध) को प्राप्त होता है। सवर से काय गुप्त होकर फिर से होनेवाले पापाश्रव का निरोध है।

सू० ५७—मणसमाहारणयाए ण भन्ते ! जीवे कि ज ?

भन्ते ! मन की समाधारणा (मन को आगमोक्त भावो के चिन्तन मे भली भाँति सलग्न रखने) से जीवको क्या प्राप्त होता है?

मणसमाहारणयाए ण एगग्ग । एगग्ग जणइत्ता नाणपज्जवे इ । नाणपज्जवे जणइत्ता विसोहेइ, मिच्छत्त च निज्जरेइ ।

मन की समाधारणा से जीव एकाग्रता को प्राप्त होता है ! एकाग्रता को प्राप्त होकर ज्ञानपर्यवो को—ज्ञान के विविध तत्त्व-बोधरूप प्रकारो को प्राप्त होता है । ज्ञान-पर्यवो को प्राप्त होकर सम्यग्-दर्शन को विशुद्ध करता है और मिथ्या दर्शन की निर्जरा करता है ।

सू० ५८—वयसमाहारणयाए ण भन्ते ! जीवे ?

भन्ते ! वाक् समाधारणा (वचन को मे भली भाँति सलग्न रखने) से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

वयसमाहारणयाए ण वयसाहारणदसणपज्जवे विसोहेइ । वयसाहारणदसणपज्जवे विसोहेत्ता सुलहबोहियत्त निव्वत्तेइ, दुल्लहबोहियत्त निज्जरेइ ।

वाक् समाधारणा से जीव वाणी के विषय भूत दर्शन के पर्यवो को—विविध प्रकारो को विशुद्ध है । वाणी के विषयभूत दर्शन के पर्यवो को विशुद्ध करके सुलभता से बोधि को प्राप्त करता है । बोधि की दुर्लभता को क्षीण करता है ।

सू० ५९—कायसमाहारणयाए ण भन्ते ! ?

भन्ते ! काय समाधारणा (सयम की शुद्ध प्रवृत्तियो मे काया को भली-भाँति रखने) से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

कायसमाहारणयाए ण चरित्त-पज्जवे विसोहेइ । चरित्तपज्जवे विसोहेत्ता अहक्खायचरित्त विसोहेइ । अहक्खायचरित्त विसोहेत्ता चत्तारि-केवलिकम्मसे खवेइ । तओ - सिज्झइ, , मुच्चइ, परिनिव्वाएइ, सव्वदुक्खाणमन्त करेइ ।

काय समाधारणा से जीव चारित्र के पर्यवो को—विविध प्रकारो को विशुद्ध करता है । चारित्र के पर्यवो को विशुद्ध करके यथाख्यात चारित्र को विशुद्ध करता है । यथाख्यात चारित्र को [illegible] करके केवलिसत्क वेदनीय आदि चार कर्मो का क्षय करता है । उसके बाद सिद्ध होता है, बुद्ध होता है, मुक्त होता है । परिनिर्वाण को प्राप्त होता है, सब दु खो का अन्त करता है ।

सू० ६०— ए ण भन्ते ! जीवे किं यइ ?

नाणसपन्नयाए ण जीवे - भावाहिगम जणयइ। ` ण जीवे चाउरन्ते ससारकन्तारे न विणस्सइ।

जहा सूई ससुत्ता
पडिया वि न विणस्सइ।
तहा जीवे ससुत्ते
ससारे न विण ॥

-विणय -चरित्तजोगे सपाउणइ, -परस - णिज्जे भवइ।

भन्ते ! ज्ञान-सम्पन्नता से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

ज्ञानसम्पन्नता से जीव सब भावो को जानता है। ज्ञान-सम्पन्न जीव चार गतिरूप अन्तो वाले ससार वन मे नष्ट नही होता है।

जिस प्रकार ससूत्र (धागे से युक्त) सुई कही गिर जाने पर भी विनष्ट (गुम) नही होती, उसी प्रकार ससूत्र (श्रुत-सम्पन्न) जीव भी ससार मे विनष्ट नही होता।

ज्ञान, विनय, तप और चारित्र के योगो को प्राप्त होता है। तथा स्वसमय और परमसमय मे, अर्थात् स्वमत-परमत की व्याख्याओ मे सघातनीय—प्रामाणिक माना जाता है।

सू० ६१—दसणसपन्नयाए ण भन्ते ! जीवे कि ?

दसणसपन्नयाए ण भवमि - छेयण करेइ, पर न विज्झायइ। अणु-त्तरेण णेण सजोए-माणे, सम्म भावेमाणे विहरइ।

भन्ते ! दर्शन-सपन्नता से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

दर्शन से ससार के हेतु मिथ्यात्व का छेदन है, उसके बाद का बुझता नही है। श्रेष्ठ ज्ञान-दर्शन से आत्मा को सयोजित कर उन्हे सम्यक् से आत्मसात् करता हुआ विचरण करता है।

सू० ६२—चरित्तसपन्नयाए ण भन्ते ! जीवे कि ?

चरित्तसपन्नयाए ण सेलेसीभाव इ। सेलेसिं पडिवन्ने य अणगारे चत्तारि केवलिकम्मसे खवेइ। तओ सिज्झइ, बुज्झइ, मुच्चइ, परिनिव्वाएइ, सव्वदुक्खाणमन्त करेइ।

भन्ते ! चारित्र-सम्पन्नता से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

चारित्र-सम्पन्नता से जीव शैलेशी-भाव को—शैलेश अर्थात् मेरुपर्वत के समान सर्वथा अकम्प स्थिरता को प्राप्त होता है। शैलेशी भाव को प्राप्त अनगार चार केवलि-सत्क कर्मों का क्षय करता है। ` वह सिद्ध होता है, बुद्ध होता है मुक्त होता है, परिनिर्वाण को प्राप्त होता है और सब दु खो का अन्त करता है।

सू० ६३—सोइन्दियनिग्गहेण भन्ते ! जीवे कि ?

भन्ते ! श्रोत्रेन्द्रिय के निग्रह से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

सोइन्दियनिग्गहेण मणुन्नामणुन्नेसु सद्देसु रागदोसनिग्गहं , न , पुव्वबद्ध च निज्जरेइ ।

श्रोत्रेन्द्रिय के निग्रह से जीव मनोज्ञ और अमनोज्ञ शब्दो में होने वाले राग और द्वेष का निग्रह करता है। फिर तद्-प्रत्ययिक अर्थात् शब्दनिमित्तक कर्म का बन्ध नही करता है, पूर्व-बद्ध कर्मो की निर्जरा करता है ।

सू० ६४—चक्खिन्दियनिग्गहेण भन्ते ! जीवे ?

भन्ते ! चक्षुष्-इन्द्रिय के निग्रह से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

चक्खिन्दिय निग्गहेण मणुन्नामणुन्नेसु रूवेसु रागदोसनिग्गहं यइ, न बन्धइ, पुव्वबद्ध च निज्जरेइ ।

चक्षुष्-इन्द्रिय के निग्रह से जीव मनोज्ञ और अमनोज्ञ रूपो मे होने वाले राग और द्वेष का निग्रह करता है। फिर रूपनिमित्तक कर्म का बघ नही करता है, पूर्वबद्ध कर्मो की निजरा करता है ।

सू० ६५—घाणिन्दियनिग्गहेण भन्ते ! जीवे कि ?

भन्ते ! घ्राण-इन्द्रिय के निग्रह से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

घाणिन्दियनिग्गहेण मणुन्ना- ेसु गन्धेसु रागदोसनिग्गहं ज , न बन्धइ, पुव्वबद्ध च निज्जरेइ ।

घ्राण-इन्द्रिय के निग्रह से जीव मनोज्ञ और अमनोज्ञ गन्धो मे होने वाले राग और द्वेष का निग्रह करता है। फिर गन्ध-निमित्तक कर्म का बघ नही करता है। पूर्वबद्ध कर्मो की निर्जरा करता है ।

सू० ६६—जिब्भिन्दियनिग्गहेण भन्ते ! जीवे किं ज ?

भन्ते ! जिह्वा-इन्द्रिय के निग्रह से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

जिब्भिन्दियनिग्गहेण मणुन्नामणुन्नेसु रसेसु रागदोसनिग्गहं जणयइ, न बन्धइ, पुव्वबद्ध 'च निज्जरेइ ।

जिह्वा-इन्द्रिय के निग्रह से जीव मनोज्ञ और अमनोज्ञ रसो मे होने वाले राग और द्वेष का निग्रह करता है। फिर रसनिमित्तक कर्म का बन्ध नही करता है। पूर्वबद्ध कर्मो की निर्जरा है ।

सू० ६७—फासिन्दियनिग्गहेण भन्ते ! ... कि ?

भन्ते ! ... -इन्द्रिय के निग्रह से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

फासिन्दियनिग्गहेण मणुन्नामणुन्नेसु फासेसु रागदोसनिग्गह ज , इय न , पुव्वबद्ध च निज्जरेइ ।

स्पर्शन-इन्द्रिय के निग्रह से जीव मनोज्ञ और अमनोज्ञ स्पर्शों मे होने वाले राग-द्वेप का निग्रह करता है । फिर स्पर्श-निमित्तक कर्म का वन्ध नही करता है, पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा करता है ।

सू० ६८—कोहविजएण भन्ते ! जीवे कि ?

भन्ते ! क्रोध-विजय से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

कोहविजएण खन्ति जणयइ, कोहवेयणिज्ज न बन्धइ, पुव्वबद्ध च निज्जरेइ ।

क्रोध-विजय से जीव क्षान्ति को प्राप्त होता है । क्रोध-वेदनीय कर्म का वन्ध नही करता है । पूर्व-बद्ध कर्मो की निर्जरा करता है ।

सू० ६९—माणविजएण भन्ते ! जीवे कि ?

भन्ते ! मान-विजय से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

माणविजएण मद्दव , माणवेयणिज्ज न पुव्वबद्ध च निज्जरेइ ।

मान-विजय से जीव मृदुता को प्राप्त होता है । मान-वेदनीय कर्म का वन्ध नही करता है । पूर्वबद्ध कर्मो की निर्जरा है ।

सू० ७०—मायाविजएणं भन्ते ! जीवे कि ?

भन्ते ! माया-विजय से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

विजएण उज्जुभाव , मायावेयणिज्ज न , पु च निज्जरेइ ।।

मायाविजय से ऋजुता को प्राप्त होता है । माया-वेदनीय कर्म का बंध नही है । पूर्वबद्ध कर्मो को निर्जरा है ।

सू० ७१—लोभविजएण भन्ते ! जीवे कि ?

भन्ते ! लोभ-विजय से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

लोभविजएण सतोसीभाव , लोभवेयणिज्ज न पुव्वबद्ध च निज्जरेइ ।।

लोभ-विजय से जीव सन्तोप-भाव को प्राप्त होता है । लोभ-वेदनीय कर्म का वन्ध नही करता है । पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा करता है ।

सू० ७२—पेज्ज-दोस-मिच्छादं - विजएण भन्ते जीवे किं जणयइ ?

भन्ते ! प्रेय—राग, द्वेप और मिथ्या-दर्शन के विजय से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

पेज्ज-दोस-मिच्छादसणविजएण - — चरित्ताराहणयाए [ट्ठ]इ। अट्ठविहस्स कम्मगण्ठिविमोयणयाए तप्पढमयाए जहाणुपुव्वि अट्ठवीसइविह मोहणिज्ज उग्घाएइ, पचविह ना - णिज्ज, नवविह दसणावरणि , पचविह अन्तराय-एए तिन्नि वि कम्मसे जुगव ` । तओ पच्छा अणुत्तर, , कसिण, पडिपुण्ण, निरावरण, वितिमिर, विसुद्ध, लोगालोगप्पभावग, केवल-वरनाणदसण समुप्पाडेइ।

सजोगी य इरियावहिय • सुहफरिस, दुसमयठिइय। त पढमसमए , बिइयसमए वेइय, तइयसमए निज्जिणण।

त , पुट्ठ, उदीरिय, ` , निज्जिणण सेयाले य चावि ॥

प्रेय, द्वेप और मिथ्या-दर्शन के विजय से जीव ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना के लिए उद्यत होता है। आठ प्रकार के कर्मों की कर्म-ग्रन्थि को खोलने के लिए सर्वप्रथम मोहनीय कर्म की अट्ठाईस प्रकृतियो का क्रमश क्षय करता है। अनन्तर ज्ञानावरणीय कर्म की पाँच, दर्शना-वरणीय कर्म की नौ, और अन्तराय कर्म की पाँच—इन तीनो कर्मो की प्रकृतियो का एक साथ क्षय करता है। तदनन्तर वह अनुत्तर, अनन्त, कृत्स्न—सर्ववस्तुविषयक, प्रतिपूर्ण, निरावरण, अज्ञानतिमिर से रहित, विशुद्ध और लोकालोक के केवल-ज्ञान और केवल-दर्शन को प्राप्त होता है। जब तक वह सयोगी रहता है, तब तक ऐर्या-पथिक कर्म का बन्ध होता है। वह बन्ध भी सुख-स्पर्शी (सातवेदनीय रूप पुण्य कर्म) है, उसकी स्थिति दो समय की है। प्रथम समय मे बन्ध होता है, द्वितीय समय मे उदय होता है, तृतीय समय मे निर्जरा होती है। वह कर्म बद्ध होता है, होता है, उदय मे आता है, भोगा जाता है, नष्ट होता है, आगामी काल मे अर्थात् अन्त मे वह कर्म अकर्म हो जाता है।

सू० ७३—अहाउय अन्तो-मुहुत्तद्धावसेसाउए जोगनिरोह करेमाणे सुहुमकिरियं अप्पडिवाइ सुक्कज्झाणं झायमाणे, तप्पढमयाए मणजोगं निरुम्भइ, ोगं निरु म्भ- वइजोगं निरुम्भइ, ोगं निरुम्भइत्ता, आणापाणुनिरोहं करेइ, निरोहं करेइत्ता ईसि पचरहस्सक्खरुच्चारद्धाए य ण अणगारे समुच्छिन्नकिरियं अनियट्टिसुक्कज्झाणं झियायमाणे वेयणिज्जं, , नामं, गोत्तं च रि वि कम्मंसे जुगवं खवेइ ॥

केवल ज्ञान प्राप्त होने के पश्चात् शेष आयु को भोगता हुआ, जब अन्तर्मुहूर्त-परिमाण आयु शेष रहती है, तब वह योग निरोध मे . होता है। तब 'सूक्ष्म क्रिया-प्रतिपाति' नामक शुक्ल-ध्यान को ध्याता हुआ प्रथम मनोयोग का निरोध करता है, अनन्तर वचन योग का निरोध करता है, उसके आनापान—श्वासोच्छ्वास का निरोध करता है। श्वासोच्छ्वास का निरोध करके काल तक—पाच ह्रस्वअक्षरो के उच्चारण काल तक 'समुच्छिन्न-क्रिया-अनवृत्ति' नामक शुक्ल ध्यान मे लीन हुआ अनगार वेदनीय, आयुष्य, नाम और गोत्र—इन चार कर्मो का एक साथ क्षय करता है।

सू० ७४—तओ ओरालियकम्माइं च सव्वाहिं विप्पजहणाहिं विप्प-जहित्ता उज्जुसेढिपत्ते, अफुसमाणगई, एगसमएणं अविग्गहेणं तत्थ , रोवउत्ते सिज्झइ, बुज्झइ, मुच्चइ, परिनिव्वाएइ, सव्वदुक्खाण-मन्तं करेइ ॥

उसके बाद वह औदारिक और कार्मण शरीर को सदा के लिए पूर्णरूप से छोडता है। पूर्ण-रूप से शरीर को छोडकर ऋजु श्रेणि को प्राप्त होता है और एक समय मे अस्पृशद्गतिरूप ऊर्ध्वगति से विना मोड लिए सीधे लोकाग्र मे जाकर साकारोपयुक्त-ज्ञानोपयोगी सिद्ध होता है, बुद्ध होता है, मुक्त होता है। सभी दु खो का अन्त करता है।

एस अट्ठे समणेण महावीरेण आघविए, पन्नविए, परूविए, दसिए, उवदसिए ॥

श्रमण भगवान् महावीर के द्वारा -पराक्रम का यह पूर्वोक्त अर्थ है, प्रज्ञापित है, प्ररूपित है, दर्शित है और उपदर्शित है।

—त्ति ।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

३०

तपो-मार्ग-गति

तप एक दिव्य रस है, जो शरीर और के यौगिक को मिटाकर को अपने मूल मे स्थापित करता है।

, दर्शन और चारित्र की तरह तप भी मुक्ति का मार्ग है। वस्तुत. तप चारित्र का ही एक अग है। तप स्वत प्रेरणा से प्रतिकूलता मे स्वय को उपस्थित करके के निरीक्षण का एक अवसर उपस्थित करता है।

आत्मा का अनादि सस्कार के कारण शरीर के साथ तादात्म्य हो गया है। तादात्म्य को तोडने से ही मुक्ति हो सकती है। इस तादात्म्य को तोडने मे तप भी एक अमोघ उपाय है।

वस्तुत शरीर को देना, पीडित करना तप का उद्देश्य नही है। किन्तु शरीर से सर्वथा स्वतन्त्र 'स्व' का बोध और 'स्व' का स्वरूपावस्थित होना ही तप का लक्ष्य है। उसकी प्राप्ति के दो मार्ग है। एक है—स्वय की अनुभूति मे से शरीर का लुप्त हो जाना ; अर्थात उसके कर्तापन के भार का छूट जाना। दूसरा मार्ग है—शरीर को झकझोर कर, जो भीतर है उसको जानने का प्रयत्न करना, उसकी खोज करना, उसको ढूँढ निकालना। तप यही करता है। उसके दो भेद है—बाह्य और आभ्यन्तर। बाह्य तप का लक्ष्य आभ्यन्तर तप है। वस्तुत आभ्यन्तर तप के लिए ही बाह्य तप है। बाह्य तप से यदि आभ्यन्तर तप की प्रेरणा मिलती है, तो वह तप है, अन्यथा मात्र देहदण्ड है। आभ्यन्तर तप का विशुद्ध भाव जगाए बिना बाह्य तप कर्मबन्ध का हेतु ही होता है, कर्मनिर्जरा का नही। अत बाह्य तप आध्यात्मिक भावरूप आन्तरिक तप की परिबृहणा के लिए है।

तीसइमं : त्रिंश

मग्गगई : तपो-मार्ग-गति

मूल	हिन्दी अनुवाद
१ जहा उ -दोससमज्जियं । खवेइ तमेगग्गमणो सुण ॥	भिक्षु राग और द्वेष से अर्जित पाप-कर्म का तप के द्वारा जिस पद्धति से क्षय है, उस पद्धति को तुम एकाग्र मन से सुनो ।
२. पाणवह-मुसावाया -मेहुण-परिग्गहा विरओ । राईभोयणविरओ जीवो अणासवो ॥	प्राण-वध, मृषावाद, , मैथुन, परिग्रह और रात्रि भोजन की विरति से जीव —आश्रवरहित होता है ।
३. पंचसमिओ तिगुत्तो अकसाओ जिइन्दिओ । अगारवो य निस्सल्लो जीवो होइ सवो ॥	पाँच समिति और तीन गुप्ति से-सहित, से रहित, जितेंद्रिय, निरभिमानी, निःशल्य जीव अनाश्रव होता है ।
४ एएसिं तु विवच्चासे -दोससमज्जियं । जहा भिक्खू त मे एगमणो सुण ॥	उक्त धर्म-साधना से विपरीत आचरण करने पर राग-द्वेष से अर्जित कर्मों को भिक्षु किस क्षीण करता है, उसे एकाग्र मन से सुनो ।
५ जहा महातलायस्स सन्निरुद्धे जलागमे । उस्सिंचणाए तवणाए कमेण सोसणा भवे ॥	किसी बड़े का जल, जल आने के मार्ग को रोकने से, पहले के जल को उलीचने से और सूर्य के ताप से क्रमशः जैसे सूख जाता है—

६. एव तु सजयस्सावि पावकम्मनिरासवे । भवकोडीसचिय निज्जरिज्जई ॥	उसी प्रकार सयमी के करोडो भवो के सचित कर्म, पाप कर्म के आने के मार्ग को रोकने पर तप से नष्ट होते हैं ।
७. सो तवो दुविहो वुत्तो बाहिरब्भन्तरो तहा । बाहिरो छव्विहो वुत्तो एवमब्भन्तरो तवो ॥	वह तप दो प्रकार का है— बाह्य और आभ्यन्तर । बाह्य तप छह प्रकार का है । इस-प्रकार आभ्यन्तर तप भी छह प्रकार का कहा है ।
८ अणसणमूणोयरिया भिक्खायरिया य रसपरिच्चाओ । कायकिलेसो सलीणया य बज्झो तवो होइ ॥	, ऊनोदरिका, भिक्षाचर्या, रस-परित्याग, काय-क्लेश और सलीनता—यह बाह्य तप है ।
९. इत्तिरिया मरणकाले दुविहा भवे । इत्तिरिया सा खा निरवकखा बिइज्जिया ॥	अनशन तप के दो प्रकार है— इत्वरिक और मरणकाल । इत्वरिक सावकाक्ष (निर्धारित अनशन के बाद पुन भोजन की) होता है । मरणकाल निरवकाक्ष (भोजन की आकाक्षा से सर्वथा रहित) होता है ।
१० जो सो इत्तरियतवो सो समासेण छव्विहो । सेढितवो पयरतवो घणो य तह होइ वग्गो य ॥	सक्षेप से इत्वरिक-तप छह प्रकार का है— श्रेणि तप, प्रतर तप, घन-तप और वर्ग-तप—
११ तत्तो य वग्गवग्गो उ पचमो छट्ठओ पइण्णतवो । मणइच्छिय—चित्तत्थो ब्वो होइ इत्तरिओ ॥	पाँचवाँ वर्ग-वर्ग तप और छठा प्रकीर्ण तप । इस प्रकार मनोवाछित नाना के फल को देने वाला 'इत्व-रिक' अनशन तप जानना चाहिए ।
१२ जा सा भरणे दुविहा सा वियाहिया । सवियार—अवियारा कायचिट्ठ पई भवे ॥	कायचेष्टा के आधार पर मरणकाल-सम्बन्धी अनशन के दो भेद हैं—सविचार (करवट बदलने आदि चेष्टाओ से सहित) और अविचार (उक्त चेष्टाओ से रहित) ।

१३. अहवा सपरिकम्मा
अपरिकम्मा य आहिया।
नीहारिमणीहारी
आहारच्छेओ य दोसु वि ॥

मरणकाल के सपरिकर्म और अपरिकर्म ये दो भेद है।
अविचार अनशन के निर्हारी और अनिर्हारी— ये दो भेद भी होते है। दोनो मे आहार का त्याग होता है।

१४ ओमोयरियं पचहा
समासेण वियाहियं।
दव्वओ खेत्त-कालेणं
भावेण पज्जवेहि य ॥

सक्षेप मे अवमौदर्य (ऊनोदरिका) द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और पर्यायो की अपेक्षा से पाँच का है।

१५ जो उ आहारो
तत्तो ओमं तु जो करे।
जहन्नेणेगसित्थाई
एव दव्वेण ऊ भवे ॥

जो जितना भोजन कर है, उसमे से कम-से-कम एक सिक्थ अर्थात् एक कण तथा एक ग्रास आदि के रूप मे कम भोजन करना, द्रव्य से 'ऊणोदरी' तप है।

१६ नगरे तह रायहाणि-
निगमे य आगरे पल्ली।
—दोणमुह-
पट्टण—मडम्ब—सबाहे ॥

ग्राम, नगर, राजधानी, निगम, , पल्ली, खेड, कर्वट, द्रोणमुख, पत्तन, , —

१७ आसमपए विहारे
सन्निवेसे —घोसे य।
थलि—सेणाखन्धारे
सत्थे सवट्ट कोट्टे य ॥

-पद, विहार, सन्निवेश, , घोष, स्थली, सेना का शिविर, सार्थ, सवर्त, कोट—

१८ वाडेसु व रच्छासु व
घरेसु वा एवमित्तियं खेत्तं।
उ एवमाई
एव खेत्तेण ऊ भवे ॥

वाट—पाडा, रथ्या—गली और घर —इन क्षेत्रो मे तथा इसी प्रकार के दूसरे क्षेत्रो मे निर्धारित क्षेत्र-प्रमाण के अनुसार भिक्षा के लिए जाना, क्षेत्र से 'ऊणोदरी' तप है।

१९ पेडा य अद्धपेडा
गोमुत्ति पयगवीहिया चेव।
सम्बुक्कावट्टाऽऽययगन्तुं
॥

पेटा, अर्ध-पेटा, गोमूत्रिका, पतग-वीथिका, शम्बूकावर्ता और आयत-गत्वा- —यह छह का क्षेत्र से 'ऊणोदरी' तप है।

२० दिवसस्स पोरुसीण
चउण्ह पि उ जत्तिओ भवे कालो।
एव चरमाणो
कालोमाण मुणेयव्वो॥

दिवस के चार प्रहर होते हैं। उन चार प्रहरो मे भिक्षा का जो नियत समय है, तदनुसार भिक्षा के लिए जाना, यह काल से 'ऊणोदरी' तप है।

२१ अहवा याए पोरिसीए
तो।
चउभागूणाए वा
एव कालेण ऊ भवे॥

कुछ (चतुर्थ भाग आदि) भाग-न्यून तृतीय प्रहर मे भिक्षा की एषणा करना, काल की अपेक्षा से 'ऊणोदरी' तप है।

२२ इत्थी वा पुरिसो वा
किओ वाऽणलकि ओ वा वि।
अन्नयरवयत्थो वा
रेण व वत्थेण॥

स्त्री अथवा पुरुष, अलकृत अथवा अनलकृत, विशिष्ट आयु और अमुक वर्ण के वस्त्र—

२३ अन्नेण विसेसेणं
भावमणुमुयन्ते उ।
चरमाणो
भावोमाण मुणेयव्वो॥

अथवा अमुक विशिष्ट वर्ण एव भाव से युक्त दाता से ही भिक्षा ग्रहण करना, अन्यथा नही—इस प्रकार की चर्या वाले मुनि को भाव से 'ऊणोदरी' तप है।

२४ दव्वे खेत्ते काले
भावम्मि य आहिया उ
जे भावा।
एएहि ओमचरओ
पज्जवचरओ भवे भिक्खू॥

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव मे जो-जो पर्याय (भाव) कथन किए हैं, उन सबसे ऊणोदरी तप करने वाला 'पर्यव-चरक' होता है।

२५ अट्ठविहगोयरग्ग तु
तहा सत्तेव एसणा।
अभिग्गहा य जे अन्ने
भिक्खायरियमाहिया॥

आठ प्रकार के गोचराग्र, सप्तविध एषणाएँ और अन्य अनेक प्रकार के अभिग्रह—'भिक्षाचर्या' तप है।

२६ खीर—दहि—सप्पिमाई,
पणीय पाणभोयण।
परिवज्जण रसाण तु
भणिय रसविवज्जण॥

दूध, दही, घी आदि प्रणीत (पौष्टिक) पान, भोजन तथा रसो का त्याग, 'रस-परित्याग' तप है।

२७	वीरासणाईया जीवस्स उ । जहा धारिज्जन्ति कायकिलेसं तमाहियं ॥	को सुखावह अर्थात् सुखकर वीरासनादि उग्र आसनो का , 'कायक्लेश' तप है ।
२८	एगन्तमणावाए इत्थी पसुविवज्जिए । सयणासणसेवणया विवित्तसयणासणं ॥	एकान्त, (जहाँ कोई - जाता न हो) तथा स्त्री-पशु आदि से रहित एवं आसन ग्रहण करना, 'विविक्त-शयनासन' (प्रति सलीनता) तप है ।
२९	एसो बाहिरगतवो समासेण वियाहिओ । अब्भिन्तर एसो वुच्छामि अणुपुव्वसो ॥	सक्षेप मे यह बाह्य तप का है । अब आभ्यन्तर तप का निरूपण करूँगा ।
३०.	पायच्छित्तं विणओ वेयावच्चं तहेव सज्झाओ । च विउस्सग्गो एसो अब्भिन्तरो तवो ॥	प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वा- , और व्युत्सर्ग—यह - न्तर तप है ।
३१.	आलोयणारिहाईयं पायच्छित्तं तु दसविहं । जे भिक्खू वहई पायच्छित्तं तमाहियं ॥	आलोचनार्ह आदि दस प्रकार का प्रायश्चित्त, जिसका भिक्षु सम्यक् से पालन है, 'प्रायश्चित्त' तप है ।
३२	अब्भुट्ठाणं अंजलिकरणं तहेवासणदायणं । गुरुभत्ति-भावसुस्सूसा विणओ एस वियाहिओ ॥	खड़े होना, हाथ जोड़ना, देना, गुरुजनो की भक्ति तथा भाव-पूर्वक शुश्रूषा करना, 'विनय' तप है ।
३३	आयरियमाइयम्मि य वेयावच्चम्मि दसविहे । आसेवणं जहाथामं वेयावच्चं तमाहियं ॥	आचार्य आदि से सम्बन्धित दस प्रकार के वैयावृत्य का यथाशक्ति आसेवन करना, 'वैयावृत्य' तप है ।
३४	पुच्छणा चेव तहेव परियट्टणा । अणुप्पेहा धम्मकहा सज्झाओ पंचहा भवे ॥	वाचना, पृच्छना, परिवर्तना, अनु-प्रेक्षा और धर्मकथा—यह पचविध 'स्वाध्याय' तप है ।

३५ अट्टरुद्दाणि वज्जित्ता
झाएज्जा सुसमाहिए ।
धम्मसुक्काइ
त नु वए ॥

आर्त और रौद्र ध्यान को छोडकर सुसमाहित मुनि जो धर्म और शुक्ल ध्यान है, ज्ञानीजन उसे ही 'ध्यान' तप कहते हैं ।

३६ -ठाणे वा
जे उ भिक्खू न वावरे ।
विउस्सग्गो
ो सो परिकित्तिओ ॥

सोने, बैठने तथा खडे होने में जो भिक्षु शरीर से व्यर्थ को चेष्टा नही है, यह शरीर का व्युत्सर्ग— 'व्युत्सर्ग' छठा तप है ।

३७ एय तु दुविह
जे आयरे मुणी ।
से खिप्प
विप्पमुच्चइ पण्डिए ॥
—त्ति ।

जो पण्डित मुनि दोनो के तप का सम्यक् है, वह शीघ्र ही सर्व ससार से विमुक्त हो जाता है ।

—ऐसा मैं कहता हूं ।

३१

चर -विधि

`प्रवृत्ति ही      मे अप्रवृत्ति का      बनती है।`

प्रस्तुत अध्ययन का नाम 'चरण-विधि' है। चरण-विधि का अर्थ है—विवेकपूर्वक प्रवृत्ति। विवेकपूर्वक प्रवृत्ति ही   है और अविवेकपूर्वक प्रवृत्ति   । अविवेकपूर्वक प्रवृत्ति मे सयम की सुरक्षा असभव है। अत यह जान लेना   है कि —अविवेक पूर्वक प्रवृत्तियां कौन-सी है ? वे किस प्रकार होती है ? और उनसे बचने का कौन-सा उपाय है ? इसीका सक्षिप्त विवेचन इस प्रकरण मे है।

अर्थात्—आहार, भय, मैथुन और परिग्रह के विषय की रागात्मक चित्तवृत्ति से मुक्त रहे। हिंसक व्यापार से दूर रहे। चित्त का उद्वेग भय है। भय के   स्थान हैं। इन भय स्थानो मे भी साधु भय को प्राप्त न हो। जिन कार्यो से आश्रव होता है, उन कार्यो को क्रियास्थान कहते है। साधु उन क्रियास्थानो से भी अलग रहे। असयम अविवेक है। अविवेक से अनर्थ होते हैं। अत साधु असयम मे न रहे। स्वसालीनता समाधि है। समाधिस्थ   का प्रत्येक कार्य अक्रिय अर्थात् अकर्म स्थिति को   करने मे सहायक होता है। इसलिए समाधिस्थ साधक उन तमाम असमाधि-स्थानो से अलग रहे। इसी प्रकार साधना की पवित्रता के विघातक   दोष होते है। साधु   दोपो से दूर रहता है। और जिन कारणो से मोह होता है, उन मोहस्थानो से भी दूर रहता है। उसे निरन्तर साधना मे, अध्ययन मे एव धर्म-चिन्तन मे लीन रहना चाहिए। इस प्रकार साधु दुष्प्रवृत्तियो से अलग रहकर सत्प्रवृत्तियो मे अपना जीवन व्यतीत करता है। अन्त मे इसका परिणाम उसे ससार-चक्र के परिभ्रमण से मुक्ति के रूप मे प्राप्त होता है।

एगतीसइमं ७ : एकत्रिंश

चरणविही : -विधि

मूल

१ विहि पवक्खामि
जीवस्स उ
ज चरित्ता जीवा
तिण्णा स

२ एगओ विरइ कुज्जा
एगओ य ।
जमे नियत्तिं च
सजमे य ॥

३ रागद्दोसे य दो पावे
पावकम्मपवत्तणे ।
जे भिक्खू रुम्भई निच्च
से न मण्डले ॥

४ ण च
स च तिय तिय ।
जे भिक्खू चयई निच्च
से न मण्डले ॥

५ य जे उवसग्गे
तहा तेरिच्छ-माणुसे ।
जे भिक्खू सहई निच्च
से न मण्डले ॥

हिन्दी अनुवाद

जीव को सुख प्रदान करने वाली उस चरण-विधि का कथन करूँगा, जिसका आचरण करके बहुत से जीव ससार-सागर को तैर गए है।

को एक ओर से निवृत्ति और एक ओर प्रवृत्ति करनी चाहिए।

से निवृत्ति और सयम मे प्रवृत्ति।

पाप कर्म के प्रवर्तक राग और द्वेष है। इन दो पाप कर्मों का जो भिक्षु सदा निरोध करता है, वह मडल मे अर्थात् ससार मे नही है।

तीन दण्ड, तीन गौरव और तीन शल्यो का जो भिक्षु सदैव त्याग करता है, वह मे नही रुकता है।

देव, तिर्यंच और मनुष्य-सम्बन्धी उपसर्गों को जो भिक्षु सदा सहन करता है, वह ससार मे नही है।

६. विगहा
च दुय तहा ।
जे भिक्खू वज्जई निच्च
से न मण्डले ।

जो भिक्षु विकथाओ का, कषायो का, सज्ञाओ का और आर्तध्यान तथा रौद्र-ध्यान–दो ध्यानो का सदा वर्जन—त्याग है, वह ससार मे नही है।

७. वएसु इन्दियत्थेसु
समिईसु किरियासु य ।
जे भिक्खू जयई निच्च
से न मण्डले ।।

जो भिक्षु व्रतो और समितियो के मे तथा इन्द्रिय-विषयो और क्रियाओ के परिहार मे सदा यत्नशील रहता है, वह मे नही है।

८. लेसासु [काएसु
आहारकारणे ।
जे भिक्खू जयई निच्च
से न मण्डले ।।

जो भिक्षु छह लेश्याओ, पृथ्वी काय आदि छह कायो और आहार के छह कारणो मे सदा उपयोग है, वह मे नही है।

९. पिण्डोग्गहपडिमासु
भयट्ठाणे सु सत्तसु ।
जे भिक्खू जयई निच्च
से न मण्डले

पिण्डावग्रहो मे, आहार ग्रहण की सात प्रतिमाओ मे और सात भय-स्थानो मे जो भिक्षु सदा उपयोग है, वह मे नही है।

१०. मयेसु बम्भगुत्तीसु
भिक्खुधम्मंमि दसविहे ।
जे भिक्खू जयई निच्च
से न ले ।।

मद-स्थानो मे, ब्रह्मचर्य की गुप्तियो मे और दस प्रकार के भिक्षु-धर्मो मे जो भिक्षु सदा उपयोग है, वह ससार मे नही है।

११ पडिमासु
भिक्खूण पडिमासु य ।
जे भिक्खू जयई निच्च
से न मण्डले ।।

उपासको की प्रतिमाओ मे, भिक्षुओ की प्रतिमाओ मे जो भिक्षु सदा उपयोग है, वह मे नही है।

१२ किरियासु भूयगामेसु
परमाहम्मिएसु य ।
जे भिक्खू जयई निच्च
से न मण्डले ।।

क्रियाओ मे, जीव-समुदायो मे और परमाधार्मिक देवो मे जो भिक्षु सदा उप-योग है, वह मे नही है।

१३. गाहासोलसएहिं
तहा असंजमम्मि य।
जे भिक्खू जयई निच्चं
से न मण्डले ॥

गाथा-षोडशक मे और असयम मे जो भिक्षु सदा उपयोग है, वह ससार मे नही है।

१४ बम्भम्मि सु
ठाणेसु य ऽसमाहिए।
जे भिक्खू जयई निच्चं
से न मण्डले ॥

ब्रह्मचर्य मे, ज्ञात अध्ययनो मे, असमाधि-स्थानो मे जो भिक्षु सदा उपयोग है, वह मे नही है।

१५ एगवीसाए सबलेसु
बावीसाए परीसहे।
जे भिक्खू जयई निच्चं
से न मण्डले ॥

इक्कीस दोषो मे और बाईस परीषहो मे जो भिक्षु सदा उपयोग रखता है, वह ससार मे नही है।

१६ तेवीसइ सूयगडे
रूवाहिएसु सुरेसु अ।
जे भिक्खू जयई निच्चं
से न अच्छइ मण्डले ॥

सूत्रकृताग के तेईस अध्ययनो मे, रूपाधिक अर्थात् चौबीस देवो मे जो भिक्षु सदा उपयोग वह ससार मे नही है।

१७ पणवीस—भावणाहिं
उद्देसेसु ण।
जे भिक्खू जयई निच्चं
से न अच्छइ मण्डले ॥

पच्चीस भावनाओ मे, दशा आदि (, व्यवहार और बृहत्कल्प) के उद्देश्यो मे जो भिक्षु सदा उपयोग रखता है, वह ससार मे नही रुकता है।

१८ अणगारगुणेहिं च
पकप्पम्मि तहेव य।
जे भिक्खू जयई निच्चं
से न अच्छइ मण्डले ॥

अनगार-गुणो मे और तथैव प्रकल्प (आचाराग) के २८ अध्ययनो मे जो भिक्षु सदा उपयोग रखता है, वह ससार मे नही है।

१९ पावसुयपसगेसु
मोहट्ठाणेसु चेव य।
जे भिक्खू जयई निच्चं
से न ॥

पाप-श्रुत-प्रसगो मे और मोह-स्थानो मे जो भिक्षु सदा उपयोग रखता है, वह मे नही है।

२०. सिद्धाइगुणजोगेसु
तेत्तीसासायणासु य।
जे भिक्खू जयई निच्च
से न मण्डले ॥

सिद्धो के ३१ अतिशायी गुणो मे, योग-सग्रहो मे, तैंतीस ो मे जो भिक्षु सदा उपयोग है, वह मे नही है।

२१ एएसु ठाणेसु
जे भिक्ख जयई ।
व्व से
विप्पमुच्चइ पण्डिओ ॥

इस जो पण्डित भिक्षु इन स्थानो मे उपयोग रखता है, वह शीघ्र ही सर्व ससार से मुक्त हो है।

—त्ति ।

—ऐसा मै कहता हूँ।

३२

अ

की जीवन- मे सबसे है,
• के नो मे साव रहे।

साधन साधन है। वे अपने आप मे न शुभ हैं, और न अशुभ। प्राप्त साधनो का उपयोग किस प्रकार से किया जाता है, इसी पर सब कुछ निर्भर है। वीतरागता जितेन्द्रिय बनने पर ही प्रगट होती है। और सरागता इन्द्रियो की दासता मे से आती है। इन्द्रियाँ अगर न हो, तो न वीतरागता सभव है, और न सरागता। इसका स्पष्ट अर्थ है—साधनो का उपयोक्ता ही सब कुछ है। उसी पर निर्भर है कि वह किस दृष्टि से साधनो का शुभ अथवा अशुभ उपयोग करता है।

इस अध्ययन मे अशुभ अध्यवसायो, अशुभ विचारो तथा अशुभ कार्यो से निवृत्ति के लिए साधक को आदेश है। अशुभ प्रवृत्तियाँ प्रमाद-स्थान है। प्रमाद-स्थान का अर्थ है—वे कार्य, जिन कार्यो से साधना मे विघ्न उपस्थित होता है और साधक की प्रगति रुक जाती है। जैसे भोजन शरीर के लिए आवश्यक है। भोजन साधना मे भी उपयोगी होता है। किन्तु अधिक भोजन से अनेक विकृतियाँ पैदा हो सकती है, अत साधु अधिक भोजन न करे। सयत, नियमित और नियन्त्रित जीवन ही ` जीवन है। जो अपनी अनियन्त्रित इच्छाओ के अनुसार चलता है, इन्द्रियो का अर्थात् उनकी अमर्यादित वृत्तियो का स्वच्छन्द उपयोग करता है, उसका भविष्य अच्छा नही है। वह दु खो के दारुण परिणामो से बच नही सकता है। अत साधु सदा अप्रमत्त रहे। मूल मे राग और द्वेष ही र परिभ्रमण के हेतु है, अत उनसे दूर रहकर ही अपने शाश्वत -मुक्ति तक पहुँचा जा सकता है।

बत्तीसइमं अज्झयणं : द्वात्रिंश यन

प ् : प्र -स्न

मूल	हिन्दी अनुवाद
१ समूलगस्स दुक्खस्स उ जो पमोक्खो त ओ मे पडिपुण्णचित्ता सुणेह एगतहिय हि ॥	अत्यन्त (अनादि) काल से सभी दु खो और उनके मूल कारणो से मुक्ति का उपाय मै कह रहा हूँ। उसे पूरे मन से सुनो। वह एकान्त हितरूप है, कल्याण के लिए है।
२ नाणस्स पगासणाए -मोहस्स विवज्जणाए। रागस्स दोसस्स य सखएण एगन्तसोक्ख समुवेइ मोक्ख ॥	सम्पूर्ण ज्ञान के प्रकाशन से, अज्ञान और मोह के परिहार से, राग-द्वेष के पूर्ण क्षय से—जीव एकान्त सुख-रूप मोक्ष को प्राप्त करता है।
३. तस्सेस मग्गो गुरु-विद्धसेवा विवज्जणा दूरा। ाय-एगन्तनिसेवणा य सुत्तऽत्थसचिन्तणया धिई य ॥	गुरुजनो की और वृद्धो की सेवा करना, अज्ञानी लोगो के सम्पर्क से दूर रहना, स्वाध्याय , एकान्त मे निवास करना, सूत्र और अर्थ का चिन्तन करना, धैर्य रखना, यह दु खो से मुक्ति का उपाय है।
४ आहारमिच्छे मियमेसणिज्ज सहायमिच्छे निउणत्थबुद्धि। निकेयमिच्छेज्ज विवेगजोग्ग समाहिकामे तवस्सी ॥	अगर श्रमण तपस्वी समाधि की आकाक्षा रखता है तो वह परिमित और एषणीय आहार की इच्छा करे, तत्त्वार्थो को जानने मे निपुण बुद्धिवाला साथी खोजे, तथा स्त्री आदि से विवेक के योग्य —एकान्त घर मे निवास करे।

५ न वा लभेज्जा निउणं सहायं गुणाहियं वा गुणओ समं वा। एक्को वि पावाइ विवज्जयन्तो विहरेज्ज कामेसु असज्जमाणो ॥	यदि अपने से अधिक गुणों वाला अथवा अपने समान गुणों वाला निपुण साथी न मिले, तो पापों का वर्जन करता हुआ तथा काम-भोगों में अनासक्त रहता हुआ अकेला ही विचरण करे।
६ जहा य अण्डप्पभवा बलागा अण्डं बलागप्पभवं जहा य। एमेव मोहाययणं खु तण्हा मोहं च तण्हाययणं वयन्ति ॥	जिस प्रकार अण्डे से बलाका (बगुली) पैदा होती है और बलाका से अण्डा उत्पन्न होता है, उसी प्रकार मोह का जन्म-स्थान तृष्णा है, और तृष्णा का जन्म-स्थान मोह है।
७. रागो य दोसो वि य कम्मबीयं कम्मं च मोहप्पभवं वयन्ति। कम्मं च जाई-मरणस्स मूलं दुक्खं च जाई-मरणं वयन्ति ॥	कर्म के बीज राग और द्वेष हैं। कर्म मोह से उत्पन्न होता है। वह कर्म जन्म और मरण का मूल है और जन्म एवं मरण ही दुःख है।
८ दुक्खं हयं जस्स न होइ मोहो मोहो हओ जस्स न होइ तण्हा। तण्हा हया जस्स न होइ लोहो लोहो हओ जस्स न किंचणाइं ॥	उसने दुःख को समाप्त कर दिया है, जिसे मोह नहीं है। उसने मोह को मिटा दिया है,। जिसे तृष्णा नहीं है। उसने तृष्णा का नाश कर दिया है, जिसे लोभ नहीं है। उसने लोभ को समाप्त कर दिया है, जिसके पास कुछ भी परिग्रह नहीं है, अर्थात् जो अकिंचन है।
९ रागं च दोसं च तहेव मोहं उद्धत्तुकामेण समूलजालं। जे जे उवाया पडिवज्जियव्वा ते कित्तइस्सामि अहाणुपुव्विं ॥	जो राग, द्वेष और मोह का मूल से उन्मूलन चाहता है, उसे जिन-जिन उपायों को उपयोग में लाना चाहिए, उन्हें मैं क्रमशः कहूँगा।
१० रसा पगामं न निसेवियव्वा पायं रसा दित्तिकरा नराणं। दित्तं च कामा समभिद्दवन्ति दुमं जहा साउफलं व पक्खी ॥	रसों का उपयोग प्रकाम (अधिक) नहीं करना चाहिए। रस प्रायः मनुष्य के लिए दृप्तिकर, अर्थात् उन्माद बढ़ाने वाले होते हैं। विषयासक्त मनुष्य को काम वैसे ही उत्पीड़ित करते हैं, जैसे स्वादु-फल वाले वृक्ष को पक्षी।

११ जहा दवग्गी पउरिन्धणे समारुओ नोवसमं उवेइ। एविन्दियग्गी वि पगामभोइणो न बम्भयारिस्स हियाय कस्सई ॥	जैसे पवन के साथ प्रचुर इन्धन वाले वन मे लगा दावानल नही होता है, उसी प्रकाम-भोजी—यथेच्छ भोजन करने वाले की इन्द्रियाग्नि ( ) नही होती। ब्रह्मचारी के लिए प्रकाम भोजन कभी भी हितकर नही है।
१२ विवित्तसेज्जासणजन्तियाणं ओमासणाणं दमिइन्दियाणं। न घरिसेइ चित्तं पराइओ वाहिरिवोसहेहिं ॥	जो विविक्त (स्त्री आदि से रहित) से यन्त्रित (युक्त) है, जो अल्पभोजी है, जो जितेन्द्रिय है, उनके चित्त को राग-द्वेष पराजित नही कर सकते है, जैसे औषधि से पराजित (विनष्ट) व्याधि पुन शरीर को नही करती है।
१३ जहा बिरालावसहस्स मूले न मूसगाणं वसही । एमेव इत्थीनिलयस्स मज्झे न बम्भयारिस्स खमो निवासो ॥	जिस प्रकार बिडालो (बिलाव या बिल्ली) के निवास-स्थान के पास चूहो का रहना —हितकर नही है, उसी स्त्रियो के निवास-स्थान के पास ब्रह्मचारी का रहना भी नही है।
१४ न -विलास-हासं न जंपियं इंगिय-पेहियं वा। इत्थीण चित्तंसि निवेसइत्ता ववस्से तवस्सी ॥	तपस्वी स्त्रियो के रूप, विलास, हास्य, आलाप, इंगित (चेष्टा) और को मन मे निविष्ट कर देखने का न करे।
१५ च अचिन्तणं अकित्तणं च। इत्थीजणस्सारियझाणजोग्गं हियं बम्भवए रयाणं ॥	जो सदा ब्रह्मचर्य मे लीन हैं, उनके लिए स्त्रियो का अवलोकन न करना उनको न , चिन्तन न करना, वर्णन न हितकर है, तथा आर्य (सम्यक्) के लिए उपयुक्त है।

१६- तु देवीहिं विभूसियाहिं
न चाइया खोभइउं तिगुत्ता ।
ा वि एगन्तहियं ति
विवित्तवासो मुणिण पसत्थो ॥

यद्यपि तीन गुप्तियो से गुप्त मुनि को अलकृत देवियाँ (अप्सराएँ) भी विचलित नही कर सकती, तथापि एकान्त हित की दृष्टि से मुनि के लिए विविक्तवास—स्त्रियो के सम्पर्क से रहित एकान्त निवास ही है ।

१७ मोक्खाभिकखिस्स वि
ससारभीरुस्स ठियस्स धम्मे ।
नेयारिस दुत्तरमत्थि लोए
जहित्थिओ बालमणोहराओ ॥

मोक्षाभिकाक्षी, ससारभीरु और धर्म मे स्थित मनुष्य के लिए लोक मे ऐसा भी दुस्तर नही है, जैसे कि अज्ञानियो के मन को हरण करने वाली स्त्रियाँ दुस्तर हैं ।

१८ य सगे समइक्कमित्ता
सुहुत्तरा भवन्ति सेसा ।
जहा महासागरमुत्तरित्ता
नई भवे अवि ॥

स्त्री-विषयक इन उपर्युक्त ससर्गो का सम्यक् अतिक्रमण करने पर शेष सम्बन्धो का अतिक्रमण वैसे ही सुखोत्तर (सहज सुख से तैरना) हो है, जैसे कि महासागर को तैरने के बाद गगा जैसी नदियो को तैर जाना आसान है ।

१९ गिद्धिप्पभव खु
लोगस्स सदेवगस्स ।
ज माणसिय च
वीयरागो ॥

समस्त लोक के, यहाँ तक कि देवताओ के भी, जो भी शारीरिक और मानसिक दु ख है, वे सब कामासक्ति से पैदा होते है । वीतराग आत्मा ही उन दु खो का अन्त कर पाते है ।

२० जहा य किंपागफला मणोरमा
रसेण वण्णेण य भुज्जमाणा ।
ते जीविय
एओवमा कामगुणा विवागे ॥

जैसे किंपाक फल रस और रूप-रग की दृष्टि से देखने और खाने मे मनोरम होते है, किन्तु परिणाम मे जीवन का अन्त कर देते हैं, काम-गुण भी अन्तिम परिणाम मे ऐसे ही होते हैं ।

२१ जे इन्दियाण विसया त्रा
न तेसु निसिरे ।
न याऽमणुन्नेसु मण पि कुज्जा
समाहिकामे समणे तवस्सी ।

समाधि की भावना तपस्वी श्रमण इन्द्रियो के शब्द-रूपादि मनोज्ञ विपयो मे रागभाव न करे, और इन्द्रियो के अमनोज्ञ विषयो मे मन से भी द्वेप-भाव न करे ।

२२ चक्खुस्स गहण वयन्ति त रागहेउ तु मणुन्नमाहु । त दोसहेउ ऽमन्नमाहु समो य जो तेसु य वीयरागो ॥	चक्षु का ग्रहण (ग्राह्य विषय) रूप है। जो रूप राग का कारण होता है उसे मनोज्ञ कहते है और जो रूप द्वेष का कारण होता है, उसे अमनोज्ञ कहते है। इन दोनो मे जो सम (न रागी, न द्वेषी) रहता है, वह वीतराग है।
२३ रू चक्खु गहण वयन्ति चक्खुस्स रूव गहण वयन्ति । रागस्स हेउ ऽमन्नमाहु दोसस्स हेउ ऽमन्नमाहु ॥	चक्षु रूप का ग्रहण—ग्राहक है। रूप चक्षु का ग्रहण—ग्राह्य विषय है। जो राग का कारण है, उसे मनोज्ञ कहते ह और जो द्वेष का कारण है, उसे अमनोज्ञ कहते है।
२४ रूवेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्व अकालिय पावइ से वि । रागाउरे से जहवा पयगे आलोयलोले समुवेइ मच्चु ॥	जो मनोज्ञरूपो मे तीव्र रूप से गृद्धि। आसक्ति रखता है, वह रागातुर अकाल मे ही विनाश को प्राप्त होता है। जैसे -लोलुप पतगा प्रकाश के रूप मे आसक्त होकर मृत्यु को प्राप्त होता है।
२५ जे यावि दोस समुवेइ तिव्व तसि क्खणे से उ दुक्ख । दुद्दन्तदोसेण सएण जन्तू न किचि रूव अवरज्झई से ॥	जो अमनोज्ञ रूप के प्रति तीव्र रूप से द्वेष करता है, वह उसी क्षण अपने दुर्दान्त (दुर्दम) द्वेष से दु ख को प्राप्त होता है। इसमे रूप का कोई अपराध नही है।
२६ एग रुइरसि अतालिसे से कुणई पओस । दुक्खस्स सपीलमुवेइ बाले न लिप्पई तेण मुणी विरागो ।	जो सुन्दर रूप मे एकान्त (अतीव) आसक्त होता है और अतादृश—कुरूप मे द्वेष करता है, वह अज्ञानी दु ख की पीडा को प्राप्त होता है। विरक्त मुनि उनमे लिप्त (रागी, द्वेषी) नही होता है।
२७ रूवाणु गए य जीवे चराचरे हिसइ ऽणेगरूवे । चित्तेहि ते परितावेइ बाले पीलेइ अत्तट्ठगुरू किलिट्ठे ॥	मनोज्ञ रूप की आशा (इच्छा) का अनुगमन करने वाला व्यक्ति अनेकरूप चराचर अर्थात् त्रस और स्थावर जीवो की हिसा करता है। अपने प्रयोजन को ही अधिक महत्त्व देने वाला क्लिष्ट (राग से बाधित) अज्ञानी विविध प्रकार से उन्हे परिताप देता है, पीडा पहुँचाता है।

२८ एण परिग्गहेण
उप्पायणे रक्खणसन्निओगे।
वए विओगे य कहिं सुहं से ?
संभोगकाले य अतित्तिलाभे ॥

रूप मे अनुपात (अनुराग) और परिग्रह (ममत्व) के कारण रूप के उत्पादन मे, संरक्षण मे, और सन्नियोग (व्यापार) मे तथा व्यय और वियोग मे उसे सुख कहाँ ? उसे उपभोग काल मे भी तृप्ति नही मिलती।

२९. अतित्ते य परिग्गहे य
सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठिं।
अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स
लोभाविले आययई अदत्तं ॥

रूप मे अतृप्त तथा परिग्रह मे आसक्त और उपसक्त (अत्यन्त आसक्त) व्यक्ति सन्तोष को प्राप्त नही होता। वह असंतोष के दोष से दुःखी एव लोभ से आविल (कलुषित, व्याकुल) व्यक्ति दूसरो की वस्तुएँ चुराता है।

३० तण्हाभिभूयस्स अदत्तहारिणो
अतित्तस्स परिग्गहे य।
मायामुसं वड्ढइ लोभदोसा
तत्थाऽवि दुक्खा न विमुच्चई से ॥

रूप और परिग्रह मे अतृप्त तथा तृष्णा से अभिभूत होकर वह दूसरो की वस्तुओ का अपहरण करता है। लोभ के दोष से उसका कपट और झूठ बढता है। परन्तु कपट और झूठ का प्रयोग करने पर भी वह दुःख से मुक्त नही होता है।

३१ मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य
पओगकाले य दुही दुरन्ते।
एवं अदत्ताणि समाययन्तो
रूवे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो ॥

झूठ बोलने के पहले, उसके पश्चात् और बोलने के समय मे भी वह दुःखी होता है। उसका अन्त भी दुःखरूप होता है। इस प्रकार रूप से अतृप्त होकर वह चोरी करने वाला दुःखी और आश्रयहीन हो जाता है।

३२ रूवाणुरत्तस्स नरस्स एवं
कत्तो सुहं होज्ज कयाइ किंचि ?।
तत्थोवभोगे वि किलेस दुक्खं
निव्वत्तई जस्स कएण दुक्खं ॥

इस प्रकार रूप मे अनुरक्त मनुष्य को कहाँ, कब और कितना सुख होगा ? जिसे पाने के लिए मनुष्य दुःख उठाता है, उसके उपभोग मे भी क्लेश और दुःख ही होता है।

३३ एमेव रूवम्मि गओ पओस दुक्खोहपरपराओ । पदुट्ठचित्तो य चिणाइ ज से पुणो होइ विवागे ॥	इस रूप के प्रति द्वेष करने वाला भी उत्तरोत्तर अनेक दु खो की परम्परा को प्राप्त होता है। द्वेषयुक्त चित्त से जिन कर्मो का उपार्जन करता है, वे विपाक के मे दु ख के कारण बनते हैं।
३४ विरत्तो ओ विसोगो एएण दुक्खोहपरपरेण । न लिप्पए भ वि सन्तो अलेण वा पोक्खरिणीपलास ॥	रूप मे विरक्त मनुष्य शोकरहित होता है। वह ससार मे रहता हुआ भी लिप्त नही होता है, जैसे जलाशय मे का पत्ता जल से।
३५ सोयस्स सद्द गहण वयन्ति त रागहेउ तु समाहु । त दोसहेउ समाहु समो य जो तेसु स वीयरागो ॥	श्रोत्र का ग्रहण (विषय) शब्द है। जो शब्द राग मे कारण है, उसे मनोज्ञ कहते है। जो शब्द द्वेष का कारण है, उसे अमनोज्ञ कहते हैं।
३६ सद्दस्स सोय गहण वयन्ति सोयस्स सद्द गहण वयन्ति । हेउ समाहु दोसस्स हेउ समाहु ॥	श्रोत्र शब्द का ग्राहक है, शब्द श्रोत्र का ग्राह्य है। जो राग का है उसे मनोज्ञ कहते है और जो द्वेष का कारण है उसे अमनोज्ञ कहते है।
३७ सद्देसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्व अकालिय से विणास । रागाउरे हरिणमिगे व मुद्धे सद्दे अतित्ते समुवेइ मच्चु ॥	जो मनोज्ञ शब्दो मे तीव्र रूप से है, वह रागातुर अकाल मे ही विनाश को प्राप्त होता है, जैसे शब्द मे मुग्ध हरिण मृत्यु को प्राप्त होता है
३८ जे यावि दोस समुवेइ तिव्व तसि क्खणे से उ दुक्ख । दुद्दन्तदोसेण सएण जन्तू न किंचि सद्द अवरज्झई से ॥	जो अमनोज्ञ शब्द के प्रति तीव्र द्वेष है, वह उसी क्षण अपने दुर्दान्त द्वेष से दु खी होता है। इसमे शब्द का कोई अपराध नही है।
३९ ए सि सद्दे अतालिसे से कुणई पओस । दुक्खस्स सपीलमुवेइ बाले न लिप्पई तेण मुणी विरागो ॥	जो प्रिय शब्द मे एकान्त आसक्त होता है और अप्रिय शब्द मे द्वेष करता है, वह अज्ञानी दु ख की पीडा को प्राप्त होता है। विरक्त मुनि उनमे लिप्त नही होता है।

४० सद्दाणुगासाणुगए य जीवे चराचरे हिंसइ ऽणेगरूवे। चित्तेहि ते परियावेइ बाले पीलेइ अत्तट्ठगुरू किलिट्ठे ॥	शब्द की का अनुगामी अनेक-रूप चराचर जीवो की हिंसा करता है। अपने प्रयोजन को ही मुख्य मानने वाला क्लिष्ट अज्ञानी विविध प्रकार से उन्हे परिताप देता है, पीडा पहुँचाता है।
४१ सद्दाणुवाएण परिग्गहेण उप्पायणे -सन्निओगे। वए विओगे य कहिं से ? संभोगकाले य अतित्तिलाभे ॥	मे अनुराग और ममत्व के शब्द के उत्पादन मे, मे, सन्नियोग मे तथा व्यय और वियोग मे, उसको सुख कहाँ है ? उसे उपभोग मे भी तृप्ति नही मिलती है।
४२. सद्दे अतित्ते य परिग्गहे य सत्तोवसत्तो न तुट्ठि। अतुट्ठिदोसेण दुही लोभाविले आययई ॥	मे अतृप्त तथा परिग्रह मे और व्यक्ति सतोप को प्राप्त नही होता। वह असतोप के दोष से दुखी व लोभग्रस्त व्यक्ति दूसरो की वस्तुएँ चुराता है।
४३ तण्हाभिभूयस्स अदत्तहारिणो सद्दे अतित्तस्स परिग्गहे य। मायामुसं . लोभदोसा तत्थावि न विमुच्चई से ॥	शब्द और परिग्रह मे अतृप्त, तृष्णा से पराजित व्यक्ति दूसरो की वस्तुओ का अपहरण है। लोभ के दोष से कपट और झूठ है। और झूठ से भी वह दुख से मुक्त नही होता है।
४४ मोसस्स य पुरत्थओ य पओगकाले य दुही दुरन्ते। एव अदत्ताणि समाययन्तो सद्दे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो ॥	झूठ बोलने के पहले, उसके बाद और बोलने के समय भी वह दुखी होता है। उसका अन्त भी दु है। इस शब्द मे अतृप्त व्यक्ति चोरी हुआ दुखी और आश्रयहीन हो जाता है।
४५ सद्दाणु एव कत्तो होज्ज ?। तत्थोवभोगे वि किलेस निव्वत्तई कएण ॥	इस प्रकार शब्द मे अनुरक्त व्यक्ति को कहाँ, कब और कितना सुख होगा ? जिस उपभोग के लिए व्यक्ति दुख उठाता है, उस उपभोग मे भी क्लेश और दुख ही होता है।

४६ एमेव सद्दम्मि गओ पओस
उवेइ दुक्खोहपरपराओ ।
पदुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्म
ज से पुणो होइ दुह विवागे ॥

इसी प्रकार जो अमनोज्ञ शब्द के प्रति द्वेष करता है, वह उत्तरोत्तर अनेक दु खो की परम्परा को प्राप्त होता है। द्वेषयुक्त चित्त से जिन कर्मो का उपार्जन करता है, वे ही विपाक के मे दु ख के कारण बनते हैं ।

४७ सद्दे विरत्तो मणुओ विसोगो
एएण दुक्खोहपरपरेण ।
न लिप्पए भवमज्झे वि सन्तो
जलेण वा पोक्खरिणीपलास ॥

शब्द मे विरक्त मनुष्य शोकरहित होता है । वह ससार मे रहता हुआ भी लिप्त नही होता है, जैसे—जलाशय मे कमल का पत्ता जल से ।

४८ गहण वयन्ति
त रागहेउ तु मणुन्नमाहु ।
त दोसहेउ णुन्नमाहु
समो य जो तेसु स वीयरागो ॥

घ्राण का विषय गन्ध है । जो गन्ध राग मे है उसे मनोज्ञ कहते है और जो गन्ध द्वेष मे कारण होती है, उसे अमनोज्ञ कहते हैं ।

४९ गन्धस्स गहण वयन्ति
गन्ध गहण वयन्ति ।
हेउं समणुन्नमाहु
दोसस्स हेउ न्नमाहु ॥

घ्राण गन्ध का ग्राहक है । गन्ध घ्राण का ग्राह्य है । जो राग का कारण है, उसे मनोज्ञ कहते है । और जो द्वेष का कारण है, उसे अमनोज्ञ कहते हैं ।

५० गन्धेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्व
अकालिय से विणास ।
रागाउरे ओसहिगन्धगिद्धे
सप्पे बिलाओ विव निक्खमन्ते ॥

जो मनोज्ञ गन्ध मे तीव्र रूप से है, वह मे विनाश को प्राप्त होता है । जैसे औषधि की गन्ध मे रागानुरक्त सर्प बिल से निकलकर विनाश को प्राप्त होता है ।

५१ जे यावि दोस समुवेइ तिव्व
तसि क्खणे से उ उवेइ दुक्ख ।
न्तदोसेण सएण जन्तू
न किंचि अवरज्झई से ॥

जो अमनोज्ञ गन्ध के प्रति तीव्र रूप से द्वेष है, वह जीव उसी क्षण अपने दुर्दान्त द्वेष से दु खी होता है । इसमे गन्ध का कोई अपराध नही है ।

५२ ए रुइरसि गन्धे
अतालिसे से कुणई पओस ।
दुक्खस्स सपीलमुवेइ बाले
न लिप्पई तेण मुणी विरागो ॥

जो सुरभि गन्ध मे एकान्त आसक्त होता है, और दुर्गन्ध मे द्वेष करता है, वह अज्ञानी दु ख की पीडा को प्राप्त होता है । मुनि उनमे लिप्त नही होता है ।

५३ गन्धाणुगासाणुगए य जीवे
चराचरे हिंसइ ऽणेगरूवे।
चित्तेहि ते परितावेइ बाले
पीलेइ अत्तट्ठगुरू किलिट्ठे॥

गन्ध की आशा का अनुगामी अनेकरूप त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा करता है, अपने प्रयोजन को ही मुख्य मानने वाला अज्ञानी विविध प्रकार से उन्हें परिताप देता है, पीडा पहुँचाता है।

५४ • वाएण परिग्गहेण
उप्पायणे ... सन्निओगे।
वए विओगे य कहिं सुहं से?
संभोगकाले य अतित्तिलाभे॥

गन्ध मे अनुराग और परिग्रह मे ममत्त्व के कारण गन्ध के उत्पादन मे, सरक्षण मे और सन्नियोग मे तथा व्यय और वियोग मे उसे सुख कहाँ? उसे उपभोग काल मे भी तृप्ति नही मिलती है।

५५ अतित्ते य परिग्गहे य
सत्तोवसत्तो न ... तुट्ठिं।
अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स
लोभाविले आययई ...॥

गन्ध मे अतृप्त तथा परिग्रह मे आसक्त तथा उपसक्त व्यक्ति सतोष को प्राप्त नही होता है। वह असतोष के दोष से दुःखी, लोभग्रस्त व्यक्ति दूसरो की वस्तुएँ चुराता है।

५६ तण्हाभिभूयस्स अदत्तहारिणो
गन्धे अतित्तस्स परिग्गहे य।
मायामुसं ... लोभदोसा
तत्थावि दुक्खा न विमुच्चई से॥

गन्ध और परिग्रह मे अतृप्त तथा तृष्णा से पराजित व्यक्ति दूसरो की वस्तुओ का अपहरण करता है। लोभ के दोष से उसका कपट और झूठ बढता है। कपट और झूठ से भी वह दुःख से मुक्त नही हो पाता है।

५७ मोसस्स ... य पुरत्थओ य
पओगकाले य दुही दुरन्ते।
एवं अदत्ताणि समाययन्तो
गन्धे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो॥

झूठ बोलने के पहले, उसके बाद और बोलने के समय वह दुःखी होता है। उसका अन्त भी दुःखमय है। इस प्रकार गन्ध से अतृप्त होकर वह चोरी करने वाला दुःखी और आश्रयहीन हो जाता है।

५८ ... रत्तस्स ... एवं
कत्तो ... होज्ज कयाइ किंचि?।
तत्थोवभोगे वि किलेसदुक्खं
निव्वत्तई ... कएण ...॥

इस प्रकार गन्ध मे अनुरक्त व्यक्ति को कहाँ, कब, कितना सुख होगा? जिसके उपभोग के लिए दुःख उठाता है, उसके उपभोग मे भी दुःख और क्लेश ही होता है।

५९ एमेव गन्धम्मि गओ पओस
दुक्खोहपरपराओ ।
पदुट्ठचित्तो य चिणाइ
ज से पुणो होइ दुह विवागे ॥

इसी प्रकार जो गन्ध के प्रति द्वेष करता है, वह उत्तरोत्तर दुःख की परम्परा को प्राप्त होता है। द्वेषयुक्त चित्त से जिन कर्मों का उपार्जन करता है, वे ही विपाक के समय मे दुःख के कारण बनते है।

६० विरत्तो मणुओ विसोगो
ण दुक्खोहपरपरेण ।
न लिप्पई वि सन्तो
जलेण वा पोक्खरिणी- ॥

गन्ध मे विरक्त मनुष्य शोकरहित होता है। वह मे रहता हुआ भी लिप्त नही होता है, जैसे—जलाशय मे का पत्ता जल से।

६१ जिहाए रस गहण वयन्ति
त रागहेउ तु समाहु ।
तं दोसहेउ समाहु
समो य जो तेसु स वीयरागो ॥

जिह्वा का विषय रस है। जो रस राग मे है, उसे मनोज्ञ कहते हैं। और जो रस द्वेष का कारण होता है, उसे अमनोज्ञ कहते हैं।

६२ जिब्भ गहण वयन्ति
जिब्भाए रस गहण वयन्ति ।
हेउं समाहु
दोसस्स हेउ अमणुन्नमाहु ॥

जिह्वा रस की ग्राहक है। रस जिह्वा का ग्राह्य है। जो राग का कारण है, उसे मनोज्ञ कहते है और जो द्वेष का कारण है उसे अमनोज्ञ कहते है।

६३ रसेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्व
अकालिय से विणास ।
रागाउरे बडिसविभिन्नकाए
मच्छे जहा आमिसभोगगिद्धे ॥

जो मनोज्ञ रसो मे तीव्र रूप से है, वह मे ही विनाश को प्राप्त होता है। जैसे मास खाने मे आसक्त रागातुर मत्स्य काँटे से बींधा जाता है।

६४ जे यावि दोस समुवेइ तिव्व
तसि क्खणे से उ ।
दुद्दन्तदोसेण सएण जन्तू
रस न किंचि अवरज्झई से ॥

जो अमनोज्ञ रस के प्रति तीव्र रूप से द्वेष करता है, वह उसी क्षण अपने दुर्दान्त द्वेष से दुःखी होता है। इस मे रस का कोई अपराध नही है।

६५ एगन्तरत्ते रुइरे रसम्मि
अतालिसे से कुणई पओस ।
दुक्खस्स सपीलमुवेइ बाले
न लिप्पई तेण मुणी विरागो ॥

जो मनोज्ञ रस मे एकान्त आसक्त होता है और अमनोज्ञ रस मे द्वेष करता है, वह अज्ञानी दुःख की पीडा को प्राप्त होता है। विरक्त मुनि उनमे लिप्त नही होता है।

६६ रसाणुगासाणुगए य जीवे चराचरे हिंसइ ` वे। चित्ते हि ते परितावेइ बाले पीलेइ अत्तट्ठगुरू किलिट्ठे॥	रस की का अनुगामी अनेक रूप त्रस और स्थावर जीवो की हिंसा करता है। अपने प्रयोजन को ही मुख्य मानने क्लिष्ट अज्ञानी विविध प्रकार से उन्हे परिताप देता है, पीडा पहुँचाता है।
६७ रसाणुवाएण परिग्गहेण ` स्निओगे। विओगे य कहिं सुह से ? सभोगकाले य अतित्तिलाभे॥	रस मे अनुरक्ति और ममत्व के कारण रस के उत्पादन मे, मे और सन्नि-योग मे तथा व्यय और वियोग मे उसे सुख कहाँ ? उसे उपभोग-काल मे भी तृप्ति नही मिलती है।
६८ रसे अतित्ते य परिग्गहे य सत्तोवसत्तो न ` तुट्ठि। अतुट्ठिदोसेण दुही लोभाविले आययई अदत्तं॥	रस मे अतृप्त और परिग्रह मे - व्यक्ति सतोष को नही होता। वह असन्तोष के दोष से दु खी तथा लोभ से व्याकुल दूसरो की वस्तुएँ चुराता है।
६९ तण्हाभिभूयस्स अदत्तहारिणो रसे अतित्तस्स परिग्गहे य। मायामुस ` लोभदोसा तत्थावि ` न विमुच्चई से॥	रस और परिग्रह मे अतृप्त तथा तृष्णा से पराजित व्यक्ति दूसरो की वस्तुओ का अपहरण है। लोभ के दोष से कपट और झूठ है। कपट और झूठ से भी वह दु ख से मुक्त नही होता है।
७० मोसस्स य पुरत्थओ य पओगकाले य दुही दुरन्ते। एव अदत्ताणि समाययन्तो रसे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो॥	झूठ बोलने के पहले, उसके बाद और बोलने के भी वह दु खी होता है। अन्त भी दु है। इस रस मे अतृप्त होकर चोरी करने वह दु खी और आश्रयहीन हो है।
७१ रसाणुरत्तस्स एव कत्तो होज्ज किंचि ?। तत्थोवभोगे वि किलेस दुक्ख निव्वत्तई कएण ॥	इस रस मे अनुरक्त पुरुष को कहाँ, कब, कितना सुख होगा ? जिसे पाने के लिए व्यक्ति दु ख उठाता है, उस के उप-भोग मे भी क्लेश और दु ख ही होता है।

५९ एमेव गन्धम्मि गओ पओस दुक्खोहपरपराओ । पदुट्ठचित्तो य चिणाइ ज से पुणो होइ दुह विवागे ॥	इसी जो गन्ध के प्रति द्वेष करता है, वह उत्तरोत्तर दुख की परम्परा को प्राप्त होता है। द्वेपयुक्त चित्त से जिन कर्मो का उपार्जन करता है, वे ही विपाक के समय मे दुख के कारण बनते है।
६० विरत्तो मणुओ विसोगो एएण दुक्खोहपरपरेण । न लिप्पई वि सन्तो जलेण वा पोक्खरिणी- ॥	गन्ध मे विरक्त मनुष्य शोकरहित होता है। वह मे रहता हुआ भी लिप्त नही होता है, जैसे—जलाशय मे का पत्ता जल से।
६१ जिहाए रस गहणं वयन्ति त रागहेउ तु मणुन्नमाहु । तं दोसहेउ न्नमाहु समो य जो तेसु स वीयरागो ॥	जिह्वा का विषय रस है। जो रस राग मे कारण है, उसे मनोज्ञ कहते हैं। और जो रस द्वेष का कारण होता है, उसे अमनोज्ञ कहते हैं।
६२ जिब्भ गहणं वयन्ति जिब्भाए रस गहण वयन्ति । हेउं न्नमाहु दोसस्स हेउ अमणुन्नमाहु ॥	जिह्वा रस की ग्राहक है। रस जिह्वा का ग्राह्य है। जो राग का कारण है, उसे मनोज्ञ कहते है और जो द्वेष का कारण है उसे अमनोज्ञ कहते है।
६३ रसेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्व अकालिय से विणास । रागाउरे बडिसविभिन्नकाए मच्छे जहा आमिसभोगगिद्धे ॥	जो मनोज्ञ रसो मे तीव्र रूप से है, वह अकाल मे ही विनाश को प्राप्त होता है। जैसे मास खाने मे आसक्त रागातुर मत्स्य काँटे से बींधा जाता है।
६४ जे यावि दोस समुवेइ तिव्व तसि क्खणे से उ दुक्ख । न्तदोसेण सएण जन्तू रस न किंचि अवरज्झई से ॥	जो अमनोज्ञ रस के प्रति तीव्र रूप से द्वेष करता है, वह उसी क्षण अपने दुर्दान्त द्वेष से दुखी होता है। इस मे रस का कोई अपराध नही है।
६५ एगन्तरत्ते रुइरे रसम्मि अतालिसे से कुणई पओस । दुक्खस्स सपीलमुवेइ बाले न लिप्पई तेण मुणी विरागो ॥	जो मनोज्ञ रस मे एकान्त आसक्त होता है और अमनोज्ञ रस मे द्वेष करता है, वह अज्ञानी दुख की पीडा को प्राप्त होता है। विरक्त मुनि उनमे लिप्त नही होता है।

६६. रसाणुगासाणुगए य जीवे चराचरे हिंसइ वे। चित्तेहि ते परितावेइ बाले पीलेइ अत्तट्ठगुरू किलिट्ठे ॥	रस की का अनुगामी अनेक रूप त्रस और स्थावर जीवो की हिंसा करता है। अपने प्रयोजन को ही मुख्य मानने क्लिष्ट अज्ञानी विविध प्रकार से उन्हे परिताप देता है, पीडा पहुँचाता है।
६७ रसाणुवाएण परिग्गहेण सन्निओगे। वए विओगे य कहिं सुहं से? संभोगकाले य अतित्तिलाभे ॥	रस मे अनुरक्ति और ममत्व के कारण रस के उत्पादन मे, मे और सन्नि-योग मे तथा व्यय और वियोग मे उसे सुख कहाँ? उसे उपभोग-काल मे भी तृप्ति नही मिलती है।
६८ रसे अतित्ते य परिग्गहे य सत्तोवसत्तो न तुट्ठिं। अतुट्ठिदोसेण दुही लोभाविले आययई ॥	रस मे अतृप्त और परिग्रह मे आसक्त-व्यक्ति संतोष को प्राप्त नही होता। वह असन्तोष के दोष से दुःखी तथा लोभ से व्याकुल दूसरो की वस्तुएँ चुराता है।
६९ तण्हाभिभूयस्स अदत्तहारिणो रसे अतित्तस्स परिग्गहे य। मायामुसं लोभदोसा तत्थावि न विमुच्चई से ॥	रस और परिग्रह मे अतृप्त तथा तृष्णा से पराजित व्यक्ति दूसरो की वस्तुओ का अपहरण करता है। लोभ के दोष से कपट और झूठ है। कपट और झूठ से भी वह दुःख से मुक्त नही होता है।
७० मोसस्स य पुरत्थओ य पओगकाले य दुही दुरन्ते। एवं अदत्ताणि समाययन्तो रसे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो ॥	झूठ बोलने के पहले, उसके बाद और बोलने के भी वह दुःखी होता है। उसका अन्त भी दु है। इस प्रकार रस मे अतृप्त होकर चोरी करने वह दुःखी और आश्रयहीन हो जाता है।
७१ रसाणुरत्तस्स नरस्स एवं कत्तो सुहं होज्ज किंचि?। तत्थोवभोगे वि किलेस निव्वत्तई कएण दुक्खं ॥	इस प्रकार रस मे अनुरक्त पुरुष को कहाँ, कब, कितना सुख होगा? जिसे पाने के लिए व्यक्ति दुःख उठाता है, उस के उप-भोग मे भी क्लेश और दुःख ही होता है।

७२ एमेव रसम्मि गओ पओस उवेइ दुक्खोहपरपराओ । पदुट्ठचित्तो य चिणाइ ज से पुणो होइ विवागे ॥	इसी प्रकार जो रस के प्रति द्वेष करता है, वह उत्तरोत्तर दुःख की परम्परा को प्राप्त होता है । द्वेष युक्त चित्त से जिन कर्मो का उपार्जन करता है, वे ही विपाक के समय दुःख के कारण बनते हैं ।
७३ रसे विरत्तो मणुओ विसोगो एएण दुक्खोहपरपरेण । न लिप्पई भ वि सन्तो जलेण वा पोक्खरिणीपलास ॥	रस मे विरक्त मनुष्य शोकरहित होता है । वह ससार मे रहता हुआ भी लिप्त नही होता है, जैसे—जलाशय मे कमल का पत्ता जल से ।
७४ गहण वयन्ति त रागहेउ तु मणुन्नमाहु । त दोसहेउ ाहु समो य जो तेसु स वीयरागो ॥	काय का विषय स्पर्श है । जो स्पर्श राग मे कारण है उसे मनोज्ञ कहते है । जो स्पश द्वेप का कारण होता हे उसे अमनोज्ञ कहते हैं ।
७५. गहण वयन्ति गहण वयन्ति । रागस्स हेउ हु दोसस्स हेउ अमणुन्नमाहु ॥	काय स्पर्श का ग्राहक है, स्पर्श काय का ग्राह्य है । जो राग का कारण है उसे मनोज्ञ कहते है और जो द्वेप का कारण है, उसे अमनोज्ञ कहते हैं ।
७६ फासेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्व लिय से विणास । रागाउरे सीयजला गाहग्गहीए महिसे व ॥	जो मनोज्ञ स्पर्श मे तीव्र रूप से आसक्त है, वह अकाल मे ही विनाश को प्राप्त होता है । जैसे—वन मे जलाशय के शीतल स्पर्श मे आसक्त रागातुर भैंसा मगर के द्वारा जाता है ।
७७ जे यावि दोस समुवेइ तिव्व तसि क्खणे से उ उवेइ दुक्ख । दुद्दन्तदोसेण सएण जन्तू न किंचि अवरज्झई से ॥	जो अमनोज्ञ स्पर्श के प्रति तीव्र रूप से द्वेप करता है, वह जीव उसी क्षण अपने दुर्दान्त द्वेप से दुःखी होता है । इसमे स्पर्श का कोई अपराध नही है ।
७८ एगन्तरत्ते रुइरसि फासे अतालिसे से कुणई पओस । दु सपीलमुवेइ बाले न लिप्पई तेण मुणी विरागो ॥	जो मनोहर स्पर्श मे अत्यधिक आसक्त होता है और अमनोहर स्पर्श मे द्वेप करता है, वह अज्ञानी दुःख की पीडा को प्राप्त होता है । विरक्त मुनि उनमे लिप्त नही होता है ।

७९. फासाणुगासाणुगए य जीवे चराचरे हिंसइ ऽणेगरूवे। चित्तेहि ते परितावेइ बाले पीलेइ अत्तट्ठगुरू किलिट्ठे॥	स्पर्श की आशा का अनुगामी अनेक-रूप त्रस और स्थावर जीवो की हिंसा करता है। अपने प्रयोजन को ही मुख्य मानने वाला क्लिष्ट अज्ञानी विविध प्रकार से उन्हे परिताप देता है, पीडा पहुँचाता है।
८० फासाणुवाएण परिग्गहेण उप्पायणे रक्खणसन्निओगे। वए विओगे य कहिं सुह से ? संभोगकाले य अतित्तिलाभे॥	स्पर्श मे अनुरक्ति और ममत्व के कारण स्पर्श के उत्पादन मे, सरक्षण मे, सनियोग मे तथा व्यय और वियोग मे उसे सुख कहाँ ? उसे उपभोग-काल मे भी तृप्ति नही मिलती है।
८१ फासे अतित्ते य परिग्गहे य सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठिं। अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स लोभाविले आययई अदत्तं॥	स्पर्श मे अतृप्त तथा परिग्रह मे और उपसक्त व्यक्ति सतोष को प्राप्त नही होता है। वह असतोष के दोष से दुःखी और लोभ से व्याकुल होकर दूसरो की वस्तुएँ चुराता है।
८२ तण्हाभिभूयस्स अदत्तहारिणो फासे अतित्तस्स परिग्गहे य। मायामुसं वड्ढइ लोभदोसा तत्थावि दुक्खा न विमुच्चई से॥	स्पर्श और परिग्रह मे अतृप्त तथा तृष्णा से अभिभूत वह दूसरो की वस्तुओ का अपहरण करता है। लोभ के दोष से उसका कपट और झूठ बढता है। कपट और झूठ से भी वह दु.ख से मुक्त नही हो पाता है।
८३ मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य पओगकाले य दुही दुरन्ते। एवं अदत्ताणि समाययन्तो फासे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो॥	झूठ बोलने के पहले, उसके बाद और बोलने के समय मे भी वह दु खी होता है। उसका अन्त भी दु ख रूप है। इस प्रकार रूप मे अतृप्त होकर वह चोरी करने वाला दु खी और आश्रयहीन हो जाता है।
८४ फासाणुरत्तस्स नरस्स एवं कत्तो सुहं होज्ज कयाइ किंचि ? तत्थोवभोगे वि किलेसदुक्खं निव्वत्तई जस्स कएण दुक्खं॥	इस प्रकार स्पर्श मे अनुरक्त पुरुष को कहाँ, कब, कितना सुख होगा ? जिसे पाने के लिए दु ख उठाया जाता है, उसके उपभोग मे भी क्लेश और दु ख ही होता है।

८५ एमेव फासम्मि गओ पओस
उवेइ दुक्खोहपरंपराओ।
पदुट्ठचित्तो य चिणाइ
ज से पुणो होइ दुह विवागे ॥

इसी जो स्पर्श के प्रति द्वेष है, वह भी उत्तरोत्तर अनेक दु खो की परम्परा को होता है। द्वेषयुक्त चित्त से जिन कर्मों का है, वे ही विपाक के मे दु ख के बनते हैं।

८६ फासे विरत्तो मणुओ विसोगो
एएण दुक्खोहपरंपरेण।
न लिप्पई वि सन्तो
जलेण वा पोक्खरिणीपलास ॥

स्पर्श मे विरक्त मनुष्य शोकरहित होता है। वह ससार मे रहता हुआ भी लिप्त नही होता है। जैसे मे का पत्ता जल से।

८७. गहण वयन्ति
त रागहेउं तु मणुन्नमाहु।
त दोसहेउं अमणुन्नमाहु
समो य जो तेसु स वीयरागो ॥

मन का विषय भाव (अभिप्राय, विचार) है। जो भाव राग मे कारण है, उसे मनोज्ञ कहते हैं और जो भाव द्वेष का कारण होता है, उसे अमनोज्ञ कहते है।

८८. मणं गहणं वयन्ति
भाव गहणं वयन्ति।
हेउ समणुन्नमाहु
दोसस्स हेउं अमणुन्नमाहु।

मन भाव का ग्राहक है। भाव मन का ग्राह्य है। जो राग का है, उसे मनोज्ञ कहते हैं। और जो द्वेष का है, उसे अमनोज्ञ कहते है।

८९ भावेसु जो गिद्धिमुवेइ
अकालियं पा से विणास।
रागाउरे कामगुणेसु गिद्धे
करेणुमग्गावहिए व नागे ॥

जो मनोज्ञ भावो मे तीव्र रूप से है, वह मे विनाश को प्राप्त होता है। जैसे हथिनी के प्रति, काम गुणो मे रागातुर हाथी विनाश को प्राप्त होता है।

९०. जे यावि दोस समुवेइ तिव्वं
तंसि से उ उवेइ।
दुद्दन्तदोसेण सएण जन्तू
न किंचि भाव अवरज्झई से ॥

जो अमनोज्ञ भाव के प्रति तीव्ररूप से द्वेष है, वह उसी क्षण अपने दुर्दान्त द्वेष से दु खी होता है। इसमे भाव का कोई अपराध नही है।

९१. एगन्तरत्ते रुइरंसि भावे
अतालिसे से कुणई पओसं ।
दुक्खस्स संपीलमुवेइ बाले
न लिप्पई तेण मुणी विरागो ॥

जो मनोज्ञ भाव में एकान्त आसक्त होता है, और अमनोज्ञ में द्वेष करता है, वह अज्ञानी दुःख की पीडा को प्राप्त होता है। विरक्त मुनि उनमे लिप्त नही होता।

९२. भावाणुगासाणुगए य जीवे
चराचरे हिंसइ ऽणेगरूवे ।
चित्तेहिं ते परितावेइ बाले
पीलेइ अत्तट्ठगुरू किलिट्ठे ॥

भाव की आशा का अनुगामी व्यक्ति अनेक रूप त्रस और स्थावर जीवो की हिंसा है। अपने प्रयोजन को ही मुख्य मानने वाला क्लिष्ट अज्ञानी जीव विविध प्रकार से उन्हे परिताप देता है, पीडा पहुँचाता है।

९३. भावाणुवाएण परिग्गहेण
उप्पायणे रक्खणसन्निओगे ।
वए विओगे य कहिं से ?
संभोगकाले य अतित्तिलाभे ॥

भाव मे अनुरक्त और ममत्व के कारण भाव के उत्पादन मे, संरक्षण मे, सन्नियोग मे तथा व्यय और वियोग मे उसे कहाँ ? उसे उपभोगकाल मे भी तृप्ति नही मिलती है।

९४. अतित्ते य परिग्गहे य
सत्तोवसत्तो न तुट्ठिं ।
अतुट्ठिदोसेण
लोभाविले आययई अदत्तं ॥

भाव मे अतृप्त तथा परिग्रह मे और व्यक्ति संतोष को नही होता। वह असंतोष के दोष से दुःखी तथा लोभ से व्याकुल होकर दूसरो की वस्तु चुराता है।

९५ तण्हाभिभूयस्स अदत्तहारिणो
भावे अतित्तस्स परिग्गहे य ।
मुस लोभदोसा
तत्थावि न विमुच्चई से ॥

भाव और परिग्रह मे अतृप्त तथा तृष्णा से अभिभूत होकर वह दूसरो की वस्तुओ का अपहरण करता है। लोभ के दोष से उसका और झूठ है। और झूठ से भी वह दुःख से नही हो पाता है।

९६. मोसस्स य पुरत्थओ य
पओगकाले य दुही दुरन्ते ॥
एवं अदत्ताणि समाययन्तो
भावे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो ।

झूठ बोलने के पहले, उसके बाद, और बोलने के समय वह दुःखी होता है। उसका अन्त भी दु है। इस प्रकार भाव मे अतृप्त होकर वह चोरी करता है, दुःखी और आश्रयहीन हो जाता है।

९७ णुरत्तस्स नरस्स एव कत्तो सुह होज्ज कयाइ किंच ? तत्थोवभोगे वि किलेसदुक्ख निव्वत्तई कएण दुक्ख ॥	इस प्रकार भाव मे अनुरक्त पुरुष को कहाँ, कब और कितना सुख होगा ? जिसे पाने के लिए दु ख उठाता है। उसके उपभोग मे भी क्लेश और दु ख ही होता है।
९८ एमेव म्मि गओ पओस उवेइ दुक्खोहपरपराओ। पदुट्ठचित्तो य चिणाइ ज से पुणो होइ दुह विवागे ॥	इसी प्रकार जो भाव के प्रति द्वेष करता है, वह उत्तरोत्तर अनेक दु खो की परम्परा को प्राप्त होता है। द्वेष-युक्त चित्त से जिन कर्मो का उपार्जन करता है, वे ही विपाक के समय मे दु ख के कारण बनते हैं।
९९ भावे विरत्तो मणुओ विसोगो एएण दुक्खोहपरपरेण । न लिप्पई भवमज्झे वि सन्तो जलेण वा पोक्खरिणीपलास ॥	भाव मे विरक्त मनुष्य शोक-रहित होता है। वह ससार मे रहता हुआ भी लिप्त नही होता है, जैसे जलाशय मे कमल का पत्ता जल से।
१०० एविन्दियत्था य स ा दुक्खस्स हेउ ॱ रागिणो। ते चेव थोव पि कयाइ दुक्ख न वीयरागस्स करेन्ति किचि ॥	इस प्रकार रागी मनुष्य के लिए इन्द्रिय और मन के जो विषय दु ख के हेतु है, वे ही वीतराग के लिए कभी भी किंचित् मात्र भी दु ख के कारण नही होते है।
१०१ न कामभोगा उवेन्ति न यावि भोगा विगइ उवेन्ति। जे तप्पओसी य परिग्गही य सो तेसु मोहा विगइ उवेइ ॥	काम-भोग न समता—समभाव लाते हैं, और न विकृति लाते है। जो उनके प्रति द्वेष और ममत्व रखता है, वह उनमे मोह के कारण विकृति को प्राप्त होता है।
१०२ कोह च च तहेव लोह छ अरइ रइ च। हास भय सोगपुमित्थिवेय नपु सवेय विविहे य भावे ॥	क्रोध, मान, माया, लोभ, जुगुप्सा, अरति, रति, हास्य, भय, शोक, पुरुष-वेद, स्त्री वेद, नपु सक वेद, तथा हर्ष-विषाद आदि विविध भावों को—

१०३ आवज्जई एवमणेगरूवे एवविहे कामगुणेसु सत्तो । य एयप्पभवे कारुण्णदीणे हिरिमे वइस्से ।।	अनेक प्रकार के विकारो को, उनसे अन्य अनेक कुपरिणामो को वह होता है, जो कामगुणो मे है । और वह , दीन, लज्जित और अप्रिय भी होता है ।
१०४ न इच्छिज्ज सहायलिच्छू पच्छाणुतावेय । वियारे असियप्पयारे आवज्जई इन्दियचोरवस्से ।।	शरीर की सेवारूप सहायता आदि की लिप्सा से कल्पयोग्य शिष्य की भी न करे । दीक्षित होने के बाद अनुतप्त होकर तप के की न करे । इन्द्रियरूपी चोरो के वशीभूत जीव अनेक के अपरिमित विकारो को है ।
१०५ तओ से जायन्ति पओयणाइ निमज्जिउ मोहमहण्णवम्मि । सुहेसिणो दुक्खविणोयणट्ठा य रागी ।।	विकारो के होने के बाद मोहरूपी महासागर मे डुबाने के लिए विषयासेवन एव हिंसादि अनेक प्रयोजन उपस्थित होते है । तब वह सुखाभिलाषी रागी व्यक्ति दु ख से मुक्त होने के लिए है ।
१०६ विरज्जमाणस्स य इन्दियत्था सद्दाइया । न वि य वा निव्वत्तयन्ती अमणुन्नय वा ।।	इन्द्रियो के जितने भी शब्दादि विषय हैं, वे सभी विरक्त व्यक्ति के मन मे मनोज्ञता अमनोज्ञता नहीं हैं ।
१०७ एव ससकप्पविकप्पणासु सजायई समयमुवट्ठियस्स । अत्थे य ओ तओ से पहीयए कामगुणेसु तण्हा ।।	"अपने ही -विकल्प सब दोषो के हैं, इन्द्रियो के विषय नहीं"—ऐसा जो है, उसके मन मे जागृत होती है और उससे उसकी काम-गुणो की क्षीण होती है ।

१०८. स वीयरागो व्वकिच्चो ।
तहेव ज विरेइ
ज पकरेइ ॥

वह वीतराग क्षण-भर मे का क्षय है। के आवरणो को हटाता है और कर्म को दूर है।

१०९. तओ पासए य
अमोहणे होइ निरन्तराए ।
अणासवे झाणसमाहिजुत्ते
आउक्खए मोक्खमुवेइसुद्धे ॥

उसके बाद वह सब जानता है और देखता है, तथा मोह और अन्तराय से रहित होता है। निराश्रव और शुद्ध होता है। -समाधि से सम्पन्न होता है। आयुष्य के क्षय होने पर मोक्ष को होता है।

११० सो मुक्को
ज बाहई जन्तुमेयं ।
दीहामयविप्पमुक्को पसत्थो
तो होइ अच्चन्तसुही कयत्थो ॥

जो जीव को —पीड़ा देते रहते हैं, उन दु खो से तथा दीर्घकालीन कर्मों से मुक्त होता है। तब वह , सुखी तथा कृतार्थ होता है।

१११ एसो
दुक्खस्स पमोक्खमग्गो ।
वियाहिओ ज समुविच्च
कमेण अच्चन्तसुही भवन्ति ॥

अनादि काल से होते आए सर्व दु खो से मुक्ति का यह मार्ग बताया है। उसे सम्यक् से स्वीकार कर जीव (अनन्त) सुखी होते है।

—त्ति । —ऐसा मैं कहता हूं।

,

३२

-प्रकृति

विभाव मे कर्म - होता है और मे बन्ध से मुक्ति होती है।

स्वरूप की अपेक्षा से ि के तमाम जीव समान है। उनमे मूलत कोई भेद नही है। जो भेद है वह कर्मो के होने न होने के कारण है। कर्म जड है, पुद्गल है। रागादि विभाव परिणति के कारण जीव का कर्म के साथ बन्ध होता है। बन्ध अनादि है। वह कब हुआ ? यह नही बताया जा सकता, क्योकि अबन्ध स्थिति पूर्व मे कभी थी ही नही।

कर्म आठ है। वस्तुत कर्मवर्गणा के परमाणुओ मे कोई भिन्नता नही है। किन्तु जीव के भिन्न-भिन्न अध्यवसायो के कारण कर्मो की प्रकृति मे तथा स्थिति मे भिन्नता आती है। जैसे ज्ञानी के की अवहेलनारूप अध्यवसाय मे जीव ज्ञानावरण-रूप मे कर्म-पुद्गलो को अपनी ओर आकृष्ट करता है। अवहेलना के अध्यवसाय मे तीव्र एव मन्द आदि अनेक भावनाएँ समाविष्ट हैं। अनेक प्रकार की उत्त`जनाएँ है। अध्यवसाय की स्थिति मे भिन्नता है। अत जिन कर्मपुद्गलो को जीव ग्रहण करता है, उनका अध्यव-साय की प्रमुखता से तीव्रता मन्दता मे वर्गीकरण होता है।

विशिष्ट बोधरूप को आच्छादित करने ज्ञानावरणीय कर्म होता है। इसी प्रकार अन्य कर्मो के मे भी समझ लेना चाहिए। सामान्य बोध को ढाँक देने वाला दर्शनावरणीय कर्म होता है। जो सुख और दु ख का हेतु है, वह वेदनीय कर्म है। जो दर्शन और चारित्र मे विकृति पैदा करता है, वह मोहनीय कर्म है। जीवन-काल का निर्धारण -कर्म

है। ऊँच अथवा नीच गोत्र का कारण गोत्र-कर्म है। शक्ति का अव-रोधक कर्म है। इनकी उत्तर प्रकृतियाँ १४८ है।

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोडाकोड सागर है और जघन्य अन्तमुंहूर्त। मोहनीय की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोडाकोड सागर है स्थिति अन्तमुंहूर्त। आयु-कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तैतीस सागर है जघन्य स्थिति अन्तमुंहूर्त। नाम और गोत्र-कर्म की उत्कृप्ट स्थिति बीस कोडाकोड सागर है और जघन्य स्थिति आठ र्त है।

कर्मो का अनुभाव अर्थात् फल तीव्र और परिणामो से बद्ध हुए कर्मो के अनुसार होता है।

तेत्तीसइमं : त्रयस्त्रिंश

कम्मपयडी : -प्रकृति

मूल	हिन्दी अनुवाद
१. वोच्छामि आणुपुव्वि जहक्कमं । जेहि बद्धो अयं संसारे परिवत्तए ॥	मैं अनुपूर्वी के क्रमानुसार आठ कर्मों का वर्णन करूँगा, जिनसे बँधा हुआ यह जीव मे परिवर्तन—परिभ्रमण है।
२. नाणस्सावरणिज्ज । वेयणिज्जं तहा मोहं तहेव य ॥	ज्ञानावरण दर्शनावरण, वेदनीय, मोह तथा आयु कर्म—
३. च गोय च तहेव य । एवमेयाइ व उ ओ ॥	नाम-कर्म, गोत्र और - सक्षेप से ये आठ कर्म हैं।
४. पचविहं सुय आभिणिबोहियं । ओहिनाण । च केवल ॥	कर्म पाँच का है— श्रुत-ज्ञ , आभिनिबोधिक-ज्ञानावरण, अवधि- ण, मनो-ज्ञानावरण, और केवल-ज्ञानावरण ।
५ निद्दा तहेव निद्दानिद्दा य य । तत्तो य थीणगिद्धी उ होइ ॥	निद्रा, , निद्रा-निद्रा, प्रचला और पाँचवी स्त्यानगृद्धि ।

६. चक्खुमचक्खु-ओहिस्स
दसणे केवले य ।
एव तु नवविगप्प
॥

चक्षु-दर्शनावरण, अचक्षु-दर्शनावरण, अवधि-दर्शनावरण और केवल-दर्शनावरण-ये नौ दर्शनावरण कर्म के विकल्प-भेद हैं।

७ वेयणीयं पि य दुविह
मसाय च आहिय ।
सा उ भेया
एमेव वि ॥

वेदनीय कर्म के दो भेद हैं—सात वेदनीय और वेदनीय। सात और वेदनीय के अनेक भेद हैं।

८. मोहणिज्ज पि दुविहं
दसणे चरणे ।
तिविह वुत्त
चरणे दुविहं भवे ॥

मोहनीय कर्म के भी दो भेद हैं—दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय। दर्शन मोहनीय के तीन और चारित्र-मोहनीय के दो भेद हैं।

९ मिच्छत्त
सम्मामिच्छत्तमेव य ।
एयाओ तिन्नि पयडीओ
मोहणिज्जस्स ॥

, मिथ्यात्व और सम्यक्-मिथ्यात्व—ये तीन दर्शन मोहनीय की प्रकृतियाँ हैं।

१०. चरित्तमोहण
दुविह तु वियाहिय ।
कसायमोहणिज्ज तु
नोकसायं तहेव य ॥

चारित्र मोहनीय के दो भेद हैं—मोहनीय और नोकषाय मोहनीय।

११ सोलसविहभेएण
तु ।
सत्तविह नवविह वा
नोक ॥

मोहनीय कर्म के सोलह भेद हैं। नोकषाय मोहनीय कर्म के सात नौ भेद है।

१२ नेरइय-तिरिक्खाउ
मणुस्साउ तहेव य ।
देवाउय तु
अ चउव्विह ॥

कर्म के चार भेद हैं—नैरयिक आयु, तिर्यंग् आयु, मनुष्य आयु और देव-आयु।

१३ तु दुविह
च आहिय ।
सुहस्स उ भेया
एमेव असुहस्स वि ॥

नाम कर्म के दो भेद हैं—शुभ नाम और अशुभ-नाम। शुभ के अनेक भेद हैं। इसी अशुभ के भी।

१४ गोय दुविहं
नीय च आहियं ।
अट्ठविहं होइ
नीयं पि आहियं ॥

गोत्र कर्म के दो भेद हैं—उच्च गोत्र और नीच गोत्र । इन दोनो के आठ-आठ भेद हैं ।

१५ लाभे य भोगे य
उवभोगे वीरिए तहा ।
पचविहम
समासेण वियाहियं ॥

सक्षेप से कर्म के पाँच भेद है—दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्त-राय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय ।

१६ एयाओ मूलपयडीओ
उत्तराओ य आहिया ।
पएसग्ग खेत्तकाले य
भावुत्तर सुण ॥

ये कर्मों की मूल प्रकृतियाँ और उत्तर प्रकृतियाँ कही गई हैं । इसके आगे उनके प्रदेशाग्र—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को सुनो ।

१७ सव्वेसि
पएसग्गमणन्तगं ।
गण्ठिय-सत्ताईयं
अन्तो सिद्धाण आहियं ॥

एक मे ग्राह्य-बद्ध होने वाले सभी कर्मों का प्रदेशाग्र-कर्मपुद्गलरूप द्रव्य होता है । वह ग्रन्थिग सत्वो से—अर्थात् ग्रन्थिभेद न करने वाले जीवो से गुण अधिक और सिद्धो के अनन्तवें भाग जितना होता है ।

१८ सव्वजीवाण तु
सगहे छद्दिसागयं ।
सव्वेसु वि पएसेसु
सव्वेण ॥

सभी जीवो के लिए सग्रह—बद्ध करने योग्य कर्म-पुद्गल छहो दिशाओ मे—आत्मा से स्पृष्ट—अवगाहित सभी प्रदेशो मे है । वे सभी कर्म-पुद्गल बन्ध के के सभी प्रदेशो के साथ बद्ध होते हैं ।

१९. उदहीसरिनामाण
तीसई कोडिकोडिओ ।
उक्कोसिया होइ
अन्तोमुहुत्त जहन्निया ॥

स्थिति तीस कोटि-कोटि उदधिसदृश-सागरोपम की है । और जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है —

२०. आवरणिज्जाण पि
वेयणिज्जे तहेव य ।
अन्तराए य कम्मम्मि
ठिई एसा वियाहिया ॥

दो आवरणीय कर्म अर्थात् ज्ञानावरण, दर्शनावरण तथा वेदनीय और कर्म की यह (उपर्युक्त) स्थिति बताई गई है ।

२१. उवहीसरिनामाण
सत्तरिं कोडिकोडिओ ।
मोहणिज्जस्स उक्कोसा
अन्तोमुहुत्त जहन्निया ॥

मोहनीय कर्म की स्थिति कोटि-कोटि सागरोपम की है। और स्थिति अन्तमुंहूर्त की है।

२२. सागरोवमा
उक्कोसेण वि हिया ।
उ
अन्तोमुहुत्त जहन्निया ॥

आयु-कर्म की स्थिति तेतीस सागरोपम की है, और स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है।

२३ उवहीसरि ाण
वीसई ।
नामगोत्ताण उक्कोसा
जहन्निया ॥

नाम और गोत्र-कर्म की स्थिति बीस कोटि-कोटि सागरोपम की है और स्थिति आठ की है।

२४ सिद्धाणऽणन्तभागो य
हवन्ति उ ।
सव्वेसु वि पएसग्ग
सव्वजीवेसुऽइच्छियं ॥

सिद्धो के अनन्तवें भाग जितने कर्मों के अनुभाग (रस विशेष) हैं। सभी अनुभागो का प्रदेश-परिमाण सभी भव्य और जीवो से अतिक्रान्त है, अधिक है।

२५. तम्हा एएसि ाण
अणुभागे वियाणिया ।
एएसिं सवरे
य अए ॥
—त्ति ।

इसलिए इन कर्मो के अनुभागो को बुद्धिमान् इनका सवर और क्षय करने का करे।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

३४

लेश्या

कषायश्लिष्ट आत्मपरिणाम ही • के हेतु हैं।

शुभाशुभ प्रवृत्ति का मूलाधार शुभाशुभ लेश्या है।

सामान्यत मन आदि योगो से अनुरंजित तथा विशेषत कषायानुरंजित आत्मपरिणामो से जीव एक विशिष्ट पर्यावरण पैदा करता है। यह पर्यावरण ही लेश्या है। वस्तुत पूर्व प्रतिबद्ध सस्कारो के अनुसार जीव के अध्यवसाय होते है और ो के अनुरूप ही जीवकी अच्छी-बुरी प्रवृत्ति होती है। भावी कर्मो की श्रृखला भी इसी अध्यवसाय की परम्परा से सम्बन्धित है। भाव से और से भाव की कार्यकारणरूप परम्परा है। अत लेश्या भी भाव और द्रव्य दोनो की है। लेश्याएँ पौद्गलिक होती है, अत इनके वर्ण, रस, गध, स्पर्श आदि का भी उल्लेख हुआ है। अथवा वह अन्तर्मन की शुभाशुभ विचारधारा के लिए सर्वसाधारण के बोधार्थ एक ीय भी हो सकत है। वैसे के विज्ञान ने मानव-मस्तिष्क मे स्फुरित होने वाले विचारो के चित्र भी लिए हैं, जिनमे अच्छे-बुरे रग उभरे है।

प्रस्तुत मे यह कहना चाहते हैं कि व्यक्ति के जीवन का निर्माण उसके अपने विचार मे है। वह जैसा भी चाहे, अपने को बना सकता है। बाह्य और आन्तरिक दोनो ही जगत् एक दूसरे से प्रभावित होते हैं। पुद्गल से जीव प्रभावित होता है और जीव से पुद्गल। दोनो का परस्पर प्रभाव ही है, है, कान्ति है, छाया है। इसे ही दर्शन की मे लेश्या कहा गया है।

चउती ं अज णं : चतुस्त्रिंश

ले ज ं : लेश्याध्ययन

मूल	हिन्दी अनुवाद
१. लेसज्झयण पवक्खामि आणुपुव्वि जहक्कम । छण्ह पि कम्मलेसाण अणुभावे सुणेह मे ॥	मैं अनुपूर्वी के क्रमानुसार लेश्या-अ का निरूपण करूँगा । मुझसे तुम छहो लेश्याओ के अनुभावो—रस-विशेषो को सुनो ।
२ नामाइ -रस-गन्ध— -परिणाम- ण । ठिइ ं लेसाण तु ` मे ॥	लेश्याओ के नाम, वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श, परिणाम, , स्थान, स्थिति, गति और आयुष्य को मुझसे सुनो ।
	नाम द्वार—
३. किण्हा नीला य य पम्हा तहेव य । सुक्कलेसा य उ तु जहक्कम ॥	लेश्याओ के नाम इस प्रकार हैं— , नील, कापोत, तेजस्, पद्म और शुक्ल ।
	वर्ण द्वार—
४. जीमूयनिद्धसकासा गवलऽरिट्ठगसन्निभा । जण-नयणनिभा किण्हलेसा उ वण्णओ ॥	लेश्या का वर्ण स्निग्ध अर्थात् मेघ, महिष, शृ ग, अरिष्टक (द्रोण-काक अरिष्ट फल-रीठा) खजन, और नेत्र-तारिका के समान ( ) है ।

५. नीला—ऽसोगस चासपिच्छसमप्पभा । वेरुलियनिद्धसंकासा नीललेसा उ वण्णओ ॥	नील लेश्या का वर्ण—नील अशोक वृक्ष, पक्षी के पंख और स्निग्ध वैडूर्य मणि के (नीला) है ।
६ अयसीपुप्फसंकासा कोइलच्छदसन्निभा । पारेवयगीवनिभा काउलेसा उ वण्णओ ॥	कापोत लेश्या का वर्ण—अलसी के फूल, कोयल के पंख और कबूतर की ग्रीवा के वर्ण के (कुछ और कुछ लाल-जैसा मिश्रित) है ।
७. हिंगुलुयध तरुणाइच्चसन्निभा । सुयतुण्ड-पईवनिभा तेउलेसा उ वण्णओ ॥	तेजोलेश्या का वर्ण—हिंगुल, धातु—गेरू, उदीयमान तरुण सूर्य, तोते की चोंच, प्रदीप की लौ के (लाल) होता है ।
८ हरियालभेयसंकासा हलिद्दाभेयसन्निभा । सणासणकुसुमनिभा पम्हलेसा उ वण्णओ ॥	पद्म लेश्या का वर्ण—हरिताल और हल्दी के , तथा सण और के फूल के (पीला) है ।
९ सखककुन् खीरपूरसमप्पभा । रययहारस सुक्कलेसा उ ओ ॥	शुक्ल लेश्या का वर्ण—शंख, (स्फटिक जैसा श्वेत रत्नविशेष), कुन्द-पुष्प, दुग्ध- चांदी के हार के समान (श्वेत) है ।

रस द्वार—

१० जह कडुयतुम्बगरसो निम्बरसो कडुयरोहिणिरसोवा । एत्तो वि अणन्तगुणो रसो उ किण्हाए नायव्वो ॥	कड़ुवा तूम्बा, नीम तथा कड़वी रोहिणी का रस जितना कडुवा होता है, उससे अनन्त गुण अधिक कडुवा लेश्या का रस है ।

११. जह तिगडुयस्स य रसो
तिक्खो जह हत्थिपिप्पलीए वा।
एत्तो वि अणन्तगुणो
रसो उ नीलाए नायव्वो ॥

त्रिकटु और गजपीपल का रस जितना तीखा है, उससे गुण अधिक तीखा नील लेश्या का रस है।

१२ गरसो
तुवरकविट्ठस्स वावि जारिसओ।
एत्तो वि अणन्तगुणो
रसो उ काऊए नायव्वो ॥

कच्चे आम और कच्चे कपित्थ का रस जैसे होता है, उससे अनन्त गुण अधिक कापोत लेश्या का रस है।

१३ परिणयम्बगरसो
पक्ककविट्ठस्स वावि जारिसओ।
एत्तो वि गुणो
रसो उ तेऊए नायव्वो ॥

पके हुए आम और पके हुए कपित्थ का रस जितना खट-मीठा होता है, उससे अनन्त गुण अधिक खट-मीठा तेजोलेश्या का रस है।

१४ वरवारुणीए व रसो
विविहाण व अ जारिसओ।
-मेर व रसो
एत्तो पम्हाए परएण।

सुरा, फूलों से बने विविध , मधु (मद्यविशेष), तथा मैरेयक (सरका) का रस जितना अम्ल-कसैला होता है, उससे अनन्त गुण अधिक अम्ल-कसैला पद्म लेश्या का रस है।

१५ र-मुद्दियरसो
खीररसो खण्ड रसो वा।
एत्तो वि अणन्तगुणो
रसो उ सुक्काए नायव्वो ॥

खजूर, मृद्वीका (द्राक्ष), क्षीर, खाँड और का रस जितना मीठा होता है उससे अनन्त गुण अधिक मीठा शुक्ल-लेश्या का रस है।

गन्ध द्वार—

१६ गोमडस्स गन्धो
सुणग व जहा अहिमडस्स।
एत्तो वि अणन्तगुणो
लेसाण ॥

गाय, कुत्ते और सर्प के मृतक शरीर की जैसे दुर्गन्ध होती है, उससे अनन्त गुण अधिक दुर्गन्ध तीनों अप्रशस्त लेश्याओं की होती है।

१७ सुरहिकुसुमगन्धो
पिस्समाणाणं।
एत्तो वि अणन्तगुणो
पसत्थलेसाण तिण्ह पि।

सुगन्धित पुष्प और पीसे जा रहे सुगन्धित पदार्थों की जैसी गन्ध है, उससे गुण अधिक सुगन्ध तीनों प्रशस्त लेश्याओं की है।

स्पर्श द्वार—

१८. जह करगयस्स ो
गोजिब्भाए व ाण।
एत्तो वि अणन्तगुणो
लेसाण अप्पसत्थाण ॥

(करवत), गाय की जीभ और
ृक्ष के पत्रो का स्पर्श जैसे कर्कश होता है, उससे अनन्त गुण अधिक कर्कश स्पर्श तीनो लेश्याओ का है।

१९ बूरस्स व फासो
नवणीयस्स व सिरीसकुसुमाण।
एत्तो वि तगुणो
पसत्थलेसाण तिण्ह पि ॥

बूर (वनस्पतिविशेष), नवनीत, सिरीष के पुष्पो का स्पर्श जैसे कोमल होता है, उससे अनन्त गुण अधिक कोमल स्पर्श तीनो लेश्याओ का है।

परिणाम द्वार—

२०. तिविहो व नवविहो वा
सत्तावीसइविहेक्कसीओ वा।
दुसओ तेयालो वा
लेसाण होइ परिणामो ॥

लेश्याओ के तीन, नौ, सत्ताईस, इक्कासी दो-सौ तेंतालीस परिणाम (जघन्य, मध्यम, आदि) होते है।

द्वार—

२१ सवप्पवत्तो
तीहिं अगुत्तो छसु अविरओ य।
तिव्वारम्भपरिणओ
खुद्दो साहसिओ नरो।

जो मनुष्य पाँच आश्रवो मे प्रवृत्त है, तीन गुप्तियो मे अगुप्त है, षट्काय मे अविरत है, तीव्र आरम्भ मे—हिंसा आदि मे सलग्न है, क्षुद्र है, साहसी अर्थात् अविवेकी है—

२२. निद्धन्धसपरिणामो
निस्ससो अजिइन्दिओ।
एयजोगसमाउत्तो
किण्हलेस तु परिणमे ॥

नि शक परिणाम वाला है, नृशस (क्रूर) है, अजितेन्द्रिय है—इन सभी योगो से युक्त है, वह लेश्या मे परिणत होता है।

२३. -अमरिस-अतवो
अविज्ज-माया अहीरिया य।
गेद्धी पओसे य
पमत्ते रसलोलुए सायगवेसए य ॥

जो ईर्ष्यालु है, अमर्ष—कदाग्रही है, अतपस्वी है, अज्ञानी है, मायावी है, लज्जा रहित है, विषयासक्त है, द्वेषी है, धूर्त है, प्रमादी है, रस-लोलुप है, का गवेषक है—

२४. आरम्भाओ अविरओ खुद्दो साहस्सिओ नरो। एयजोगसमाउत्तो नीललेस तु परिणमे ॥	जो आरम्भ से अविरत है, क्षुद्र है, दु साहसी है—इन योगो से युक्त मनुष्य नील लेश्या मे परिणत होता है।
२५ वंके वकसमायारे नियडिल्ले अणुज्जुए। पलिउ ओवहिए मिच्छदिट्ठी अणारिए ॥	जो मनुष्य वक्र है—वाणी से टेढा है, आचार से टेढा है, कपट करता है, सरलता से रहित है, प्रति-कुञ्चक है—अपने दोषो को छुपाता है, औपधिक है—सर्वत्र का प्रयोग है। मिथ्यादृष्टि है, अनार्य है—
२६ उप्फालग-दुट्ठवाई य तेणे यावि य मच्छरी। एयजोगसमाउत्तो काउलेस तु परिणमे ॥	उत्प्रासक है—मजाक करने है, दुष्ट वचन बोलता है, चोर है, मत्सरी है, इन सभी योगो से युक्त वह कापोत लेश्या मे परिणत होता है।
२७ नीयावित्ती अचवले अमाई अकुऊहले। विणीयविणए दन्ते जोगव उवहाणव ॥	जो नम्र है, अचपल है, माया से रहित है, अकुतूहल है, विनय करने मे निपुण है, दान्त है, योगवान् है—स्वाध्याय आदि के द्वारा समाधि-सम्पन्न है, उपधान (श्रुतोपचार अर्थात् श्रुत-अध्ययन के विहित तप) करने वाला है।
२८. पियधम्मे वज्जभीरू हिएसए। एयजोगसमाउत्तो तेउलेस तु परिणमे ॥	प्रियधर्मी है, दृढधर्मी है, पाप-भीरु है, हितैषी है—इन सभी योगो से युक्त वह तेजो लेश्या मे परिणत होता है।
२९ पयणुक्कोह य -लोभे य पयणुए। पसन्तचित्ते जोगव उवहाणव ॥	क्रोध, मान, माया और लोभ जिसके अल्प है, जो प्रशान्तचित्त है, अपनी का दमन करता है, योगवान् है, करने वाला है—

३०. तहा पयणुवाई य
उवसन्ते जिइन्दिए ।
एयजोगसमाउत्तो
पम्हलेस तु परिणमे ॥

जो मित-भाषी है, उपशान्त है जितेन्द्रिय है—इन सभी योगो से युक्त वह पद्म लेश्या मे परिणत होता है।

३१. अट्टरुद्दाणि वज्जित्ता
धम्मसुक्काणि झायए ।
पसन्तचित्ते
समिए गुत्ते य गुत्तिहिं ॥

आर्त्त और रौद्र ध्यानो को छोडकर जो धर्म और शुक्ल ध्यान मे लीन है, जो -चित्त और दान्त है, पाँच समितियो से समित और तीन गुप्तियो से गुप्त है—

३२ सरागे वीयरागे वा
उवसन्ते जिइन्दिए ।
एयजोग—समाउत्तो
सुक्कलेस तु परिणमे ॥

सराग हो या वीतराग, किन्तु जो उपशान्त है, जितेन्द्रिय है—इन सभी योगो से युक्त वह शुक्ल लेश्या मे परिणत होता है।

द्वार—

३३ असखिज्जाणोसप्पिणीण
उस्सप्पिणीण जे ।
सखाईया लोगा
लेसाण हुन्ति ठाणाइ ॥

असख्य अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल के जितने समय होते हैं, योजन प्रमाण लोक के जितने आकाश-प्रदेश होते है, उतने ही लेश्याओ के स्थान (शुभाशुभ भावो की चढती-उतरती भूमिकाएँ) होते है।

स्थिति द्वार—

३४. मुहुत्तद्ध तु जहन्ना
तेत्तीस मुहुत्तऽहिया ।
उक्कोसा होइ ठिई
नायव्वा किण्हलेसाए ॥

-लेश्या की जघन्य (कम से कम) स्थिति मुहूर्तार्ध अर्थात् अन्तर् मुहूर्त है और स्थिति एक मुहूर्त—अधिक तेतीस सागर है।

३५. तु जहन्ना
दस उवही पलियमसख-
भागमब्भहिया ।
उक्कोसा होइ ठिई
नायव्वा नीललेसाए ॥

नील लेश्या की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम के असख्यातवें भाग अधिक दस सागर है।

३६. मुहुत्तद्धं तु जहन्ना
तिण्णुदही पलियमसंख-
भागमब्भहिया।
उक्कोसा होइ ठिई
काउलेसाए ॥

कापोत लेश्या की स्थिति अन्तमुहूर्त है और स्थिति पल्योपम के भाग अधिक तीन है।

३७. मुहुत्तद्धं तु जहन्ना
दोउदही पलियमसंख-
भागमब्भहिया।
उक्कोसा होइ ठिई
न तेउलेसाए ॥

तेजो लेश्या की स्थिति अन्तर् है और स्थिति पल्योपम के भाग अधिक दो सागर है।

३८ तु जहन्ना
दस होन्ति मुहुत्तऽहिया।
उक्कोसा होइ ठिई
पम्हलेसाए ॥

पद्म लेश्या की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त है और स्थिति एक मुहूर्त-अधिक दस है।

३९ मुहुत्तद्धं तु जहन्ना
तेत्तीस । मुहुत्तहिया।
उक्कोसा होइ ठिई
ना सुक्कलेसाए ॥

शुक्ल लेश्या की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त है और स्थिति मुहूर्त—अधिक तेतीस है।

४० एसा खलु ले
ओहेण ठिई उ वण्णि होई।
चउसु वि गईसु एत्तो
लेसाण ठिइ तु वोच्छामि ॥

गति की अपेक्षा के बिना यह लेश्याओ की ओघ-सामान्य स्थिति है। अब चार गतियो की अपेक्षा से लेश्याओ की स्थिति का वर्णन करूंगा।

४१ दस वाससहस्साइं
काऊए ठिई जहन्निया होइ।
तिण्णुदही पलिओवम-
ग च उक्कोसा ॥

कापोत की जघन्य स्थिति दस हजार-वर्ष है और स्थिति पल्योपम के भाग अधिक तीन है।

४२. तिण्णुदही पलिय—
म जहन्नेण नीलठिई।
दस उदही पलिओवम-
अस च उक्कोसा ॥

नील लेश्या की जघन्य स्थिति पल्योपम के असख्यातवें भाग अधिक तीन सागर है और स्थिति पल्योपम के असख्यातवें भाग अधिक दस सागर है।

४३ उवही पलिय—
जहन्निया होइ ।
तेत्तीससागराइ उक्कोसा
होइ किण्हाए ॥

-लेश्या की जघन्य-स्थिति पल्योपम के ˇभाग अधिक दस सागर है और उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागर है ।

४४. एसा नेरइयाण
लेसाण ठिई उ वण्णिया होइ ।
तेण पर वोच्छामि
तिरिय-मणुस्साण देवाण ॥

नैरियक जीवो की लेश्याओ की स्थिति का यह वर्णन किया है । इसके बाद तिर्यंच, मनुष्य और देवो की लेश्या-स्थिति का वर्णन करूँगा ।

४५. अन्तोमुहुत्तमद्ध
लेसाण ठिई जहि जहि जा उ ।
तिरियाण वा
वज्जित्ता केवल लेस ॥

केवल शुक्ल लेश्या को छोडकर मनुष्य और तिर्यंचो की जितनी भी लेश्याएँ है, उन सब की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त है ।

४६ तु जहन्ना
उक्कोसा होइ पुव्वकोडी उ ।
नवहि वरिसेहि
सुक्कलेसाए ॥

शुक्ल लेश्या की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट स्थिति नौ वर्ष न्यून एक करोड पूर्व है ।

४७. एसा तिरिय-नराण
लेसाण ठिई उ वण्णिया होइ ।
तेण पर वोच्छामिं
लेसाण ठिई उ देवाण ॥

मनुष्य और तिर्यंचो की लेश्याओ की स्थिति का यह वर्णन किया है । इससे आगे देवो की लेश्याओ की स्थिति का वर्णन करूँगा ।

४८ दस वाससहस्साइ
किण्हाए ठिई जहन्निया होइ ।
पलियमसखिज्जइमो
उक्कोसा होइ किण्हाए ॥

लेश्या की स्थिति दस हजार वर्ष है और स्थिति पल्योपम का असख्यातवाँ भाग है ।

४९. जा किण्हाए ठिई
उक्कोसा सा उ हिया ।
जहन्नेण नीलाए
पलियमसख तु उक्कोसा ॥

लेश्या की जो स्थिति है, उससे एक अधिक नील लेश्या की स्थिति है, और स्थिति पल्योपम का असख्यातवाँ भाग अधिक है ।

५०. जा नीलाए ठिई
उक्कोसा सा उ समयमब्भहिया ।
जहन्नेण काऊए
पलियमसख च उक्कोसा ॥

नील लेश्या की जो स्थिति है, उससे एक अधिक कापोत लेश्या की स्थिति है, और पल्योपम का असख्यातवाँ भाग अधिक स्थिति है ।

५१ तेण परं वोच्छामि
तेउलेसा जहा सुरगणाणं ।
—भवणवइ—वाणमन्तर—
जोइस—वेमाणियाणं च ॥

इससे आगे भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवो की तेजो-लेश्या की स्थिति का निरूपण करूँगा ।

५२ पलिओवमं जहन्ना
उक्कोसा सागरा उ दुण्हऽहिया ।
पलियमसंखेज्जेणं
होई भागेण तेऊए ॥

तेजोलेश्या को जघन्य स्थिति एक पल्योपम है और उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम का असख्यातवाँ भाग अधिक दो सागर है ।

५३ दस वाससहस्साइं
तेऊए ठिई जहन्निया होइ ।
दुण्णुदही पलिओवम
असंखभागं च उक्कोसा ॥

तेजो लेश्या की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष की है और उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग अधिक दो सागर है ।

५४ जा तेऊए ठिई खलु
उक्कोसा सा उ समयमब्भहिया ।
जहन्नेणं पम्हाए दस उ
मुहुत्तऽहियाइ च उक्कोसा ।

तेजोलेश्या की जो उत्कृष्ट स्थिति है, उससे एक समय अधिक पद्म लेश्या की जघन्य स्थिति है और उत्कृष्ट स्थिति एक मुहूर्त अधिक दस सागर है ।

५५ जा पम्हाए ठिई खलु
उक्कोसा सा उ समयमब्भहिया ।
जहन्नेणं सुक्काए
तेत्तीस-मुहुत्तमब्भहिया ॥

जो पद्म लेश्या की उत्कृष्ट स्थिति है, उससे एक समय अधिक शुक्ल लेश्या की जघन्य स्थिति है, और उत्कृष्ट स्थिति एक मुहूर्त-अधिक तेतीस सागर है ।

गति द्वार—

५६ किण्हा नीला काऊ
तिन्नि वि एयाओ अहम्मलेसाओ ।
एयाहि तिहि वि जीवो
दुग्गइं उववज्जई बहुसो ॥

कृष्ण, नील और कापोत—ये तीनो अधर्म लेश्याएँ है । इन तीनो से जीव अनेक वार दुर्गति को प्राप्त होता है ।

५७ तेऊ पम्हा सुक्का
तिन्नि वि एयाओ धम्मलेसाओ ।
एयाहि तिहि वि जीवो
सुग्गइं उववज्जई बहुसो ॥

तेजो-लेश्या, पद्म लेश्या और शुक्ल-लेश्या—ये तीनो धर्म लेश्याएँ हैं । इन तीनो से जीव अनेक वार सुगति को प्राप्त होता है ।

द्वार—

५८ हि हि
पढमे म्मि परिणयाहि तु ।
न वि कस्सवि उववाओ
परे अत्थि जीवस्स ॥

समय मे परिणत सभी लेश्याओ से कोई भी जीव दूसरे भव मे उत्पन्न नही होता ।

५९ लेसाहि हि
चरमे म्मि परिणयाहि तु ।
न वि कस्सवि उववाओ
परे अत्थि जीवस्स ॥

अन्तिम समय मे परिणत सभी लेश्याओ से कोई भी जीव दूसरे भव मे उत्पन्न नही होता ।

६० अन्तमुहुत्तम्मि गए
अन्तमुहुत्तम्मि सेसए चेव ।
लेसाहि परिणयाहि
जीवा गच्छन्ति परलोय ॥

लेश्याओ की परिणति होने पर अन्तर् मुहूर्त व्यतीत हो जाता है और जब अन्तर्मु हूर्त शेप रहता है, उस समय जीव परलोक मे जाते है ।

उपसहार—

६१ तम्हा एयाण लेसाण
अणुभागे वियाणिया ।
स्थाओ वज्जित्ता
पसत्थाओ अहिट्ठेज्जासि ॥

—त्ति बेमि ।

अत लेश्याओ के अनुभाग को जानकर लेश्याओ का परित्याग कर प्रशस्त लेश्याओ मे अधिष्ठित होना चाहिए।

—ऐसा मैं कहता हूँ ।

३५

- ॅ-गति

वीतर ा का है।

केवल घर छोडने भर से ही कोई अनगार नही हो । अनगार धर्म एक सुदीर्घ साधना है, जिसके लिए सतर्क एव सजग रहना होता है। ऊँचे-नीचे, अच्छे-बुरे प्रसगो पर अपने को सभालना पडता है। अत अनगार मार्ग पर गति के लिए साधक को केवल शास्त्रविहित स्थूल क्रियाकाण्डो पर ही नही, सूक्ष्म बातो पर भी आवश्यक है। क्योकि बाहर मे सग से मुक्त होना है, किन्तु भीतर मे होना एक दूसरी ही है। और भीतर मे तभी हुआ जा है, जब देहादि से सम्बन्धित आसक्ति एव रागात्मक बन्धन हो जाएं। यहाँ तक कि साधक न मृत्यु को चाहे, न जीवन को। जीवन-मरण की चाह से ही जो मुक्त हो गया है, उसे और कौनसी दूसरी चाह हो सकती है? अनगार धर्म इच्छानिरोध का ही धर्म है। ससार का अर्थ ही कामना है, वासना है। और उससे मुक्त होना ही वस्तुत ससार-मुक्ति है।

़िसइमं ७ णं : पंचविंश
अणगारमग्गगई : ़ार- र्ग-गति

मूल	हिन्दी अनुवाद
१. सुणेह मेगग्गमणा ेहिं देसियं । जमायरन्तो भिक्खू दुक्खाणऽन्तकरो भवे ॥	मुझ से ज्ञानियो द्वारा उपदिष्ट मार्ग को एकाग्र मन से सुनो, जिसका आचरण कर भिक्षु दु खो का अन्त करता है ।
२ गिहवास परिच्चज्ज पवज्जअस्सिओ मुणी । इमे सगे वियाणिज्जा जेहिं सज्जन्ति ॥	गृहवास का परित्याग कर प्रव्रजित हुआ मुनि, इन सगो को जाने, जिनमे मनुष्य —प्रतिबद्ध होते है ।
३. तहेव हिंस अलिय चोज्जं अबम्भसेवणं । ाम च लोभ च सजओ परिवज्जए ॥	सयत भिक्षु हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य, -काम (अप्राप्त वस्तु की) और लोभ से दूर रहे ।
४ मणोहर चित्तहर मल्लधूवेण वासियं । ाड पण्डुरुल्लोय वि न पत्थए ॥	मनोहर चित्रो से युक्त, माल्य और धूप से सुवासित, किवाडो तथा सफेद चदोवा से युक्त—ऐसे चित्ताकर्षक स्थान की मन से भी इच्छा न करे ।
५ इन्दियाणि उ भिक्खुस्स तारिसम्मि उवस्सए । दुक्कराइ निवारेउ कामरागविवड्ढणे ॥	काम-राग को बढाने वाले इस प्रकार के मे इन्द्रियो का निरोध करना भिक्षु के लिए दुष्कर है ।

६ सुसाणे सुन्नगारे वा
रुक्खमूले व एगओ।
पइरिक्के वा
तत्थऽभिरोयए ॥

अत एकाकी भिक्षु श्मशान मे, शून्य गृह मे, वृक्ष के नीचे तथा परकृत (दूसरों के के लिए बनाए गए), प्रतिरिक्त— एकान्त मे रहने की अभिरुचि रखे।

७ फासुयम्मि अणाबाहे
इत्थीहिं अणभिद्दुए।
तत्थ ए वास
भिक्खू प जए॥

परम भिक्षु प्रासुक, अनाबाध, स्त्रियो के से रहित स्थान में रहने का सकल्प करे।

८ न सय गिहाइ कुव्वा
णेव हिं ए।
गिहकम्मसमारम्भे
भूयाण दीसई वहो॥

भिक्षु न स्वय घर बनाए, और न दूसरो से बनवाए। चूंकि गृह-कर्म के समारम मे प्राणियो का वध देखा जाता है।

९ ण च
ाण य।
तम्हा गिहसमारम्भ
सजओ परिवज्जए॥

त्रस और स्थावर तथा सूक्ष्म और बादर (स्थूल) जीवो का वध होता है, अत सयत भिक्षु गृह-कर्म के समारभ का परित्याग करे।

१० तहेव णेसु
पयण-पयावणेसु य।
-भूयदयट्ठाए
न पये न पयावए॥

इसी प्रकार भक्त-पान पकाने और पकवाने मे हिंसा होती है। अत प्राण और भूत जीवो की दया के लिए न स्वय पकाए न दूसरे से पकवाए।

११ जल-धन्ननिस्सिया जीवा
पुढवी-कट्ठनिस्सिया।
हम्मन्ति
तम्हा भिक्खू न ए॥

भक्त और पान के पकाने मे जल, धान्य, पृथ्वी और के आश्रित जीवो का वध होता है,—अत भिक्षु न पकवाए।

१२ विसप्पे सव्वओधारे
बहुपाणविणासणे।
नत्थि जोइसमे सत्थे
तम्हा जोइ न दीवए॥

अग्नि के समान दूसरा शस्त्र नही है, वह सभी ओर से प्राणिनाशक तीक्ष्ण धार से युक्त है, बहुत अधिक प्राणियो की विनाशक है, अत भिक्षु अग्नि न जलाए।

१३ हिरण्णं जायरूवं च
मणसा वि न पत्थए।
समलेट्ठुकंचणे भिक्खू
विरए कयविक्कए॥

क्रय-विक्रय से विरक्त भिक्षु सुवर्ण और मिट्टी को समान समझने वाला है, अत वह सोने और चाँदी की मन से भी इच्छा न करे।

१४ किणन्तो कइओ होइ
विक्किणन्तो य वाणिओ।
कयविक्कयम्मि वट्टन्तो
भिक्खू न भवइ तारिसो॥

वस्तु को खरीदने वाला क्रयिक—ग्राहक होता है और बेचने वाला वणिक्। अत क्रय-विक्रय मे प्रवृत्त साधु 'साधु' नही है।

१५. भिक्खियव्वं न केयव्वं
भिक्खुणा भिक्खवत्तिणा।
कयविक्कओ महादोसो
भिक्खावत्ती सुहावहा॥

भिक्षा-वृत्ति से ही भिक्षु को भिक्षा करनी चाहिए, क्रय-विक्रय से नही। क्रय-विक्रय महान् दोप है। भिक्षा-वृत्ति सुखावह है।

१६ समुयाणं उंछमेसिज्जा
जहासुत्तमणिन्दियं।
लाभालाभम्मि संतुट्ठे
पिण्डवायं चरे मुणी॥

मुनि श्रुत के अनुसार अनिन्दित और सामुदायिक उञ्छ (अनेक घरो से थोडा-थोडा आहार) की एषणा करे। वह लाभ और अलाभ मे सन्तुष्ट रहकर पिण्डपात—भिक्षा-चर्या करे।

१७ अलोले न रसे गिद्धे
जिब्भादन्ते अमुच्छिए।
न रसट्ठाए भुंजिज्जा
जवणट्ठाए महामुणी॥

अलोलुप, रस मे अनासक्त, रसनेन्द्रिय का विजेता, अमूर्च्छित महामुनि यापनार्थ-जीवन-निर्वाह के लिए ही खाए, रस के लिए नही।

१८ अच्चणं रयणं चेव
वन्दणं पूयणं तहा।
इड्ढीसक्कार-सम्माणं
मणसा वि न पत्थए॥

मुनि अर्चना (पुष्पादि से पूजा), रचना (स्वस्तिक आदि का न्यास), पूजा (वस्त्र आदि का प्रतिलाभ), ऋद्धि, सत्कार और सम्मान की मन से भी प्रार्थना न करे।

१९ सुक्कज्झाणं झियाएज्जा
अणियाणे अकिंचणे।
वोसट्ठकाए विहरेज्जा
जाव कालस्स पज्जाओ॥

मुनि शुक्ल अर्थात् विशुद्ध आत्म-ध्यान मे लीन रहे। निदानरहित और अकिंचन रहे। जीवन-पर्यन्त शरीर की आसक्ति को छोडकर विचरण करे।

२०. निज्जूहिऊण आहार
कालधम्मे उवट्ठिए।
जहिऊण बोन्दिं
दुक्खे विमुच्चई ॥

अन्तिम -धर्म उपस्थित होने पर मुनि आहार का परित्याग कर और मनुष्य-शरीर को छोडकर दुःखों से मुक्त-प्रभु हो जाता है।

२१ निम्ममो निरहंकारो
वीयरागो अणासवो।
सपत्तो के नाणं
परिणिव्वुए ॥

— बेमि।

निर्मम, निरहंकार, वीतराग और अनाश्रव मुनि केवल-ज्ञान को प्राप्त कर शा परिनिर्वाण को होता है।

—ऐसा मैं कहता हूं।

३६

जीवाजीव-विभक्ति

जीव और ीव की विभक्ति ही - का है ।
जीवाजीव का भेदि ान ही सम्यग्दर्शन है, सम्यग् है ।

जीव और अजीव द्रव्य समग्रता से आकाश के जिस भाग मे है, वह लोक कहा जाता है । और जहाँ ये नही है, केवल आकाश ही है, वह अलोक है । लोक स्वरूपत अनादि अनन्त है । अत इसका न कोई निर्माता है, कर्ता है और न कोई सहर्ता है ।

जीव और अजीव का सयोग अनादि है । यह सयोग ही ससारी जीवन है । देह, इन्द्रिय और मन, सुख और दु ख—इसी सयोग पर आधारित है । यह संयोग प्रवाह से अनादि है, फिर भी यह सान्त हो है । क्योकि राग और द्वेप ही उक्त सयोग के कारण है । कारण को मिटा देने पर कार्य स्वत समाप्त हो जाता है ।

जीव मूल चेतना की दृष्टि से विभिन्न श्रेणी के नही है । किन्तु शरीर, स्थान, क्रिया और गति आदि के भेदो से ही प्रस्तुत मे जीव के भेदो का निरूपण किया गया है ।

प्रस्तुत अध्ययन का उपसहार बहुत सुन्दर है । दुर्लभ बोधि, सुलभ-बोधि, बाल मरण, पडित मरण, कन्दर्प भावना, किल्बिषिक भावना, आसुरी भावना आदि का वर्णन बहुत ही सक्षिप्त है, किन्तु उसमे उत्तराध्ययन का एक प्रकार से समग्र विचार-नवनीत आ जाता है ।

छत्तीसइमं : षट्त्रिंश अध्ययन
ीवाजीवविभत्ती : जीवाजीव-विभक्ति

मूल	हिन्दी अनुवाद
१. जीवाजीवविभत्तिं मे ए इओ। ज जाणिऊण समणे सम्म जयइ सजमे ॥	जीव और अजीव के विभाग को तुम एकाग्र मन होकर मुझसे सुनो, जिसे जानकर भिक्षु सम्यक् प्रकार से सयम मे यत्नशील होता है।
२. जीवा अजीवा य एस लोए वियाहिए। अजीवदेसमागासे अलोए से वियाहिए ॥	यह लोक जीव और अजीवमय कहा गया है और जहाँ अजीव का एक देश (भाग) केवल आकाश है, वह अलोक कहा जाता है।
३. दव्वओ खेत्तओ चेव कालओ भावओ । जीवाणमजीवाण य ॥	द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से और भाव से जीव और अजीव की प्ररूपणा होती है।

निरूपण—

४. रूविणो चेवऽरूवी य अजीवा दुविहा भवे। अरूवी दसहा वुत्ता रूविणो वि चउव्विहा ॥	अजीव के दो हैं—रूपी और अरूपी। अरूपी दस का है, और रूपी चार का।

अरूपी अजीव—

५. धम्मत्थिकाए तद्दे से तप्पएसे य आहिए । अहम्मे य तप्पएसे य आहिए ॥	धर्मास्तिकाय और देश तथा प्रदेश। अधर्मास्तिकाय और देश तथा प्रदेश।
६. आगासे य तप्पएसे य आहिए। अद्धासमए चेव अरूवी दसहा भवे ॥	आकाशास्तिकाय और देश तथा प्रदेश। और एक ( )—ये दस भेद अरूपी अजीव के हैं।
७. धम्मे य बोऽवेए लोगमित्ता वियाहिया । लोगालोगे य आगासे समए समयखेत्तिए ॥	धर्म और अधर्म लोक- हैं। लोक और अलोक मे है। केवल -क्षेत्र (मनुष्य क्षेत्र) मे ही है।
८ वि एए । अपज्जवसिया तु वियाहिया ॥	धर्म, अधर्म, —ये तीनो द्रव्य अनादि, अपर्यवसित—अनन्त और सर्वकाल—नित्य है।
९. समए वि एवमेव वियाहिए । आएस साईए जवसिए वि य ॥	प्रवाह की अपेक्षा से भी अनादि है। आदेश अर्थात् प्रति-नियत व्यक्ति रूप एक-एक क्षण की अपेक्षा से सादि है।

—

१० • य खन्धदेसा य तप्पएसा तहेव य । परमाणुणो य बोद्धव्वा रूविणो य चउव्विहा ॥	रूपी द्रव्य के चार भेद हैं—स्कन्ध, -देश, • -प्रदेश और पर-माणु।

११ एगत्तेण पुहुत्तेण
खन्धा य परमाणुणो।
लोएगदेसे लोए य
ते उ खेत्तओ॥
इत्तो कालविभाग तु
तेंसि वुच्छ चउव्विह॥

परमाणुओ के एकत्व होने से स्कन्ध होते है। स्कन्ध के पृथक् होने से परमाणु होते है। यह द्रव्य की अपेक्षा से है। क्षेत्र की अपेक्षा से वे स्कन्ध आदि लोक के एक देश से लेकर सम्पूर्ण लोक तक में भाज्य हैं—असख्य विकल्पात्मक हैं। यहाँ से आगे स्कन्ध और परमाणु के काल की अपेक्षा से चार भेद कहता हूँ।

१२ पप्प ते
अपज्जवसिया वि य।
ठिइं पडुच्च साईया
सपज्जवसिया वि य॥

स्कन्ध आदि प्रवाह की अपेक्षा से अनादि अनन्त है और स्थिति (प्रतिनियत एक क्षेत्र मे स्थित रहने) की अपेक्षा से सादि सान्त है।

१३ लमुक्कोस
एग जहन्निया॥
अजीवाण य रूवीणं
ठिई एसा वियाहिया॥

रूपी अजीवो—पुद्गल द्रव्यो की स्थिति जघन्य एक समय और उत्कृष्ट काल की बताई गई है।

१४ अणन्तकालमुक्कोस
एग जहन्नय।
ीवाण य रूवीण
अन्तरेय वियाहिय॥

रूपी अजीवो का अन्तर (अपने पूर्वावगाहित स्थान से च्युत होकर फिर वापस वही आने तक का काल) जघन्य एक समय और उत्कृष्ट अनन्त काल है।

१५ ओ गन्धओ चेव
रसओ फासओ तहा।
ाे य विप्त ओ
परिणामो पचहा॥

वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और सस्थान की अपेक्षा से स्कन्ध आदि का परिणमन पाँच का है।

१६ वण्णओ परिणया जे उ
पचहा ते पकित्तिया।
किण्हा नीला य लोहिया
हालिद्दा सुक्किला तहा॥

जो स्कन्ध आदि पुद्गल वर्ण से परिणत है, वे पाँच के है—कृष्ण, नील, लोहित—रक्त, हारिद्र,—पीत और शुक्ल।

१७. गन्धओ परिणया जे उ
दुविहा ते वियाहिया।
सुब्भिगन्धपरिणामा
दुब्भिगन्धा तहेव य॥

जो पुद्गल गन्ध से परिणत है, वे दो प्रकार के हैं—सुरभिगन्ध और दुरभि-गन्ध।

१८. रसओ परिणया जे उ
पंचहा ते पकित्तिया।
तित्त-कडुय-कसाया
अम्बिला महुरा तहा॥

जो पुद्गल रस से परिणत है, वे पाँच प्रकार के है—तिक्त—तीता, कटु, कषाय—कसैला, अम्ल—खट्टा और मधुर।

१९ ओ परिणया जे उ
अट्ठहा ते पकित्तिया।
चेव
लहुया तहा॥

जो पुद्गल स्पर्श से परिणत है, वे आठ प्रकार के है—कर्कश, मृदु, गुरु, लघु (हलका)।

२० सीया उण्हा य निद्धा य
तहा लुक्खा य आहिया।
इइ फासपरिणया एए
पुग्गला समुदाहिया॥

शीत, उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष। इस प्रकार ये स्पर्श से परिणत पुद्गल कहे गये है।

२१ संठाणपरिणया जे उ
पंचहा ते पकित्तिया।
परिमण्डला य ।
चउरसमायया॥

जो पुद्गल संस्थान से परिणत हैं, वे पाँच प्रकार के है—परिमण्डल, वृत्त, त्र्यस्र—त्रिकोण, चतुरस्र—चौकोर और आयत—दीर्घ।

२२ वण्णओ जे भवे किण्हे
भइए से उ गन्धओ।
ो फासओ चेव
भइए संठाणओ वि य॥

जो पुद्गल वर्ण से है, वह गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान से भाज्य है—अर्थात् अनेक विकल्पो वाला है।

२३ वण्णओ जे भवे नीले
भइए से उ गन्धओ।
रसओ फासओ चेव
भइए संठाणओ वि य॥

जो पुद्गल वर्ण से नील है, वह गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान से भाज्य है।

२४. वण्णओ लोहिए जे उ
भइए से उ गन्धओ।
रसओ फासओ चेव
भइए सठाणओ वि य॥

जो पुद्गल वर्ण से रक्त है, वह गन्ध, रस, स्पर्श और से है।

२५ वण्णओ पीयए जे उ
से उ गन्धओ।
रसओ ाे चेव
भइए सठाणओ वि य॥

जो पुद्गल वर्ण से पीत है, वह गन्ध, रस, स्पर्श और से है।

२६ वण्णओ सुक्किले जे उ
से उ गन्धओ।
रसओ ओ चेव
भइए णओ वि य॥

जो पुद्गल वर्ण से शुक्ल है वह गन्ध, रस, स्पर्श और से है।

२७. गन्धओ जे भवे ाे
से उ वण्णओ।
रसओ फासओ चेव
ओ वि य॥

जो पुद्गल गन्ध से सुगन्धित है, वह वर्ण रस, स्पर्श और से है।

२८ गन्धओ जे भवे दुब्भी
भइए से उ वण्णओ।
रसओ फासओ चेव
सठाणओ वि य॥

जो पुद्गल गन्ध से दुर्गन्धित है, वह वर्ण, रस, स्पर्श और सस्थान से है।

२९ रसओ तित्तए जे उ
भइए से उ वण्णओ।
गन्धओ फासओ चेव
सठाणओ वि य॥

जो पुद्गल रस से तिक्त है, वह वर्ण, गन्ध, स्पर्श और सस्थान से भाज्य है।

३० ाे कडुए जे उ
भइए से उ वण्णओ
गन्धओ फासओ
भइए सठाणओ वि य॥

जो पुद्गल रस से कटु है—वह वर्ण, गन्ध, स्पर्श और सस्थान से भाज्य है।

३१. रसओ कसाए जे उ
से उ वण्णओ ।
गन्धओ फासओ चेव
भइए णओ वि य ॥

जो पुद्गल रस से कसैला है वह वर्ण, गन्ध, स्पर्श और सस्थान से भाज्य है ।

३२. रसओ अम्बिले जे उ
भइए से उ वण्णओ ।
गन्धओ फासओ चेव
भइए सठाणओ वि य ॥

जो पुद्गल रस से खट्टा है वह वर्ण, गन्ध, स्पर्श और सस्थान से भाज्य है ।

३३. रसओ महुरए जे उ
भइए से उ वण्णओ ।
गन्धओ फासओ चेव
भइए सठाणओ वि य ॥

जो पुद्गल रस से मधुर है वह वर्ण, गन्ध, स्पर्श और सस्थान से भाज्य है ।

३४ फासओ ` जे उ
से उ वण्णओ ।
गन्धओ रसओ
भइए सठाणओ वि य ॥

जो पुद्गल स्पर्श से कर्कश है वह वर्ण, गन्ध, रस और सस्थान से भाज्य है ।

३५. फासओ मउए जे उ
भइए से उ वण्णओ ।
गन्धओ रसओ चेव
भइए सठाणओ वि य ॥

जो पुद्गल स्पर्श से मृदु है वह वर्ण, गन्ध, रस और सस्थान से भाज्य है ।

३६ फासओ गुरुए जे उ
भइए से उ ओ ।
गन्धओ रसओ चेव
भइए सठाणओ वि य ॥

जो पुद्गल स्पर्श से गुरु है वह वर्ण, गन्ध, रस और सस्थान से भाज्य है ।

३७ फासओ लहुए जे उ
भइए से उ वण्णओ ।
गन्धओ ो चेव
भइए सठाणओ वि य ॥

जो पुद्गल स्पर्श से लघु है वह वर्ण, गन्ध, रस और सस्थान से भाज्य है ।

३८ फासओ सीयए जे उ
भइए से उ वण्णओ ।
गन्धओ रसओ चेव
भइए सठाणओ वि य ॥

जो पुद्गल स्पर्श से शीत है वह वर्ण, गन्ध, रस और सस्थान से भाज्य है ।

२४. वण्णओ लोहिए जे उ
भइए से उ गन्धओ।
रसओ फासओ चेव
भइए णओ वि य॥

जो पुद्गल वर्ण से रक्त है, वह गन्ध, रस, स्पर्श और सस्थान से है।

२५. वण्णओ पीयए जे उ
से उ गन्धओ।
रसओ ो चेव
भइए सठाणओ वि य॥

जो पुद्गल वर्ण से पीत है, वह गन्ध, रस, स्पर्श और से है।

२६ वण्णओ सुक्किले जे उ
भइए से उ गन्धओ।
रसओ ओ चेव
भइए णओ वि य॥

जो पुद्गल वर्ण से शुक्ल है वह गन्ध, रस, स्पर्श और से है।

२७. गन्धओ जे भवे ी
से उ वण्णओ।
रसओ फासओ चेव
भइए ओ वि य॥

जो पुद्गल गन्ध से सुगन्धित है, वह वर्ण रस, स्पर्श और से भाज्य है।

२८ गन्धओ जे भवे दुब्भी
भइए से उ वण्णओ।
रसओ फासओ चेव
भइए सठाणओ वि य॥

जो पुद्गल गन्ध से दुर्गन्धित है, वह वर्ण, रस, स्पर्श और सस्थान से भाज्य है।

२९ रसओ तित्तए जे उ
भइए से उ वण्णओ।
गन्धओ फासओ चेव
सठाणओ वि य॥

जो पुद्गल रस से तिक्त है, वह वर्ण, गन्ध, स्पर्श और सस्थान से भाज्य है।

३० ो जे उ
भइए से उ वण्णओ
गन्धओ फासओ चेव
भइए सठाणओ वि य॥

जो पुद्गल रस से कटु है—वह वर्ण, गन्ध, स्पर्श और से है।

३१. रसओ कसाए जे उ
से उ वण्णओ ।
गन्धओ फासओ चेव
भइए णओ वि य ॥

जो पुद्गल रस से कसैला है वह वर्ण, गन्ध, स्पर्श और सस्थान से भाज्य है ।

३२ रसओ अम्बिले जे उ
भइए से उ वण्णओ ।
गन्धओ ो चेव
भइए सठाणओ वि य ॥

जो पुद्गल रस से खट्टा है वह वर्ण, गन्ध, स्पर्श और सस्थान से भाज्य है ।

३३. रसओ महुरए जे उ
भइए से उ वण्णओ ।
गन्धओ फासओ चेव
भइए संठाणओ वि य ॥

जो पुद्गल रस से मधुर है वह वर्ण, गन्ध, स्पर्श और सस्थान से भाज्य है ।

३४ फासओ े जे उ
भइए से उ वण्णओ ।
गन्धओ रसओ चेव
भइए सठाणओ वि य ॥

जो पुद्गल स्पर्श से कर्कश है वह वर्ण, गन्ध, रस और सस्थान से भाज्य है ।

३५. फासओ मउए जे उ
भइए से उ वण्णओ ।
गन्धओ रसओ चेव
भइए सठाणओ वि य ॥

जो पुद्गल स्पर्श से मृदु है वह वर्ण, गन्ध, रस और सस्थान से भाज्य है ।

३६. फासओ गुरुए जे उ
भइए से उ वण्णओ ।
गन्धओ रसओ चेव
भइए सठाणओ वि य ॥

जो पुद्गल स्पर्श से गुरु है वह वर्ण, गन्ध, रस और सस्थान से भाज्य है ।

३७. फासओ लहुए जे उ
भइए से उ वण्णओ ।
गन्धओ ो चेव
भइए सठाणओ वि य ॥

जो पुद्गल स्पर्श से लघु है वह वर्ण, गन्ध, रस और सस्थान से भाज्य है ।

३८ फासओ सीयए जे उ
भइए से उ वण्णओ ।
गन्धओ रसओ चेव
भइए सठाणओ वि य ॥

जो पुद्गल स्पर्श से शीत है वह वर्ण, गन्ध, रस और सस्थान से भाज्य है ।

३९. फासओ उण्हए जे उ
भइए से उ वण्णओ ।
• ाो रसओ
भइए सठाणओ वि य ॥

जो पुद्गल स्पर्श से उष्ण है वह वर्ण, गन्ध, रस और से भाज्य है ।

४० फासओ निद्धए जे उ
भइए से उ व ाो ।
गन्धओ रसओ चेव
भइए सठाणओ वि य ॥

जो पुद्गल स्पर्श से स्निग्ध है वह वर्ण, गन्ध, रस और सस्थान से भाज्य है ।

४१. फासओ लुक्खए जे उ
भइए से उ वण्णओ ।
गन्धओ रसओ
ाो वि य ॥

जो पुद्गल स्पर्श से रूक्ष है वह वर्ण, गन्ध, रस और से भाज्य है ।

४२ परिम

भइए से उ वण्णओ ।
गन्धओ रसओ
ए ओ वि य ॥

जो पुद्गल सस्थान से परिमण्डल है वह वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श से भाज्य है ।

४३ सठाणओ भवे वट्टे
भइए से उ वण्णओ ।
गन्धओ रसओ
फासओ वि य ॥

जो पुद्गल से वृत्त है वह वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श से भाज्य है ।

४४ सठाणओ भवे तसे
ए से उ ाो ।
गन्धओ रसओ चेव
भइए फासओ वि य ॥

जो पुद्गल से त्रिकोण है वह वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श से भाज्य है ।

४५ ाो य चउरसे
से उ वण्णओ ।
ाो रसओ चेव
फासओ वि य ॥

जो पुद्गल मे चतुष्कोण है, वह वर्ण, गन्ध, रन और स्पर्श से भाज्य है ।

४६ जे ठाणे
भइए से उ वण्णओ ।
गन्धओ रसओ
भइए फासओ विय ॥

जो पुद्गल से आयत है वह वर्ण, गन्ध, रस, और स्पर्श से भाज्य है ।

४७. एसा अजीवविभत्ती
समासेण वियाहिया ।
इत्तो जीवविभत्ति
वुच्छामि अणुपुव्वसो ॥

यह संक्षेप से अजीव विभाग का निरूपण किया गया है । अब क्रमश. जीवविभाग का निरूपण करूँगा ।

जीव निरूपण—

४८ य सिद्धा य
दुविहा जीवा वियाहिया ।
सिद्धाऽणेगविहा वुत्ता
त मे कित्तयओ सुण ॥

जीव के दो भेद हैं—ससारी और सिद्ध । सिद्ध अनेक प्रकार के है । उनका करता हूँ, सुनो ।

सिद्ध जीव—

४९ इत्थी पुरिससिद्धा य
तहेव य नपु ।
सलिंगे अन्नलिंगे य
गिहिलिंगे तहेव य ॥

स्त्रीलिंग सिद्ध, पुरुषलिंग सिद्ध, नपुसकलिंग सिद्ध, और स्वलिंग सिद्ध, अन्यलिंग सिद्ध तथा गृहलिंग सिद्ध ।

५० उक्कोसोगाहणाए य
जहन्नमज्झिमाइ य ।
अहे य तिरिय च
समुद्दम्मि जलम्मि य ॥

उत्कृष्ट, जघन्य और मध्यम अवगाहना मे तथा ऊर्ध्व लोक मे, तिर्यक् लोक मे एव समुद्र और अन्य जलाशय मे जीव सिद्ध होते है ।

५१ दस चेव नपुसेसु
वीस इत्थियासु य ।
पुरिसेसु य अट्ठसय
समएणेगेण सिज्झई ॥

एक समय मे दस नपुसक, वीस स्त्रियाँ और एक-सौ आठ पुरुष सिद्ध हो सकते हैं ।

५२. चत्तारि य गिहिलिंगे
अन्नलिंगे य य ।
सलिंगेण य अट्ठसयं
समएणेगेण सिज्झई ॥

एक मे गृहस्थलिंग मे चार, अन्यलिंग मे दस, स्वलिंग मे एक-सौ आठ जीव सिद्ध हो सकते है ।

५३ उक्कोसोगाहणाए य
सिज्झन्ते जुगव दुवे ।
चत्तारि जहन्नाए
जवमज्झऽट्ठुत्तर सय ॥

एक समय मे उत्कृष्ट अवगाहना मे दो, जघन्य अवगाहना मे चार और मध्यम अवगाहना मे एक-सौ आठ जीव सिद्ध हो सकते हैं ।

४७. एसा अजीवविभत्ती
समासेण वियाहिया।
इत्तो जीवविभत्तिं
वुच्छामि अणुपुव्वसो ॥

यह संक्षेप से अजीव विभाग का निरूपण किया गया है। अब जीवविभाग का निरूपण करूँगा।

जीव निरूपण—

४८ संसारत्था य सिद्धा य
दुविहा जीवा वियाहिया।
सिद्धाऽणेगविहा वुत्ता
तं मे कित्तयओ सुण ॥

जीव के दो भेद है—संसारी और सिद्ध। सिद्ध अनेक के है। कथन करता हूँ, सुनो।

जीव—

४९. इत्थी पुरिससिद्धा य
तहेव य नपुं ।
सलिंगे अन्नलिंगे य
गिहिलिंगे तहेव य ॥

स्त्रीलिंग सिद्ध, पुरुषलिंग सिद्ध, नपुंसकलिंग सिद्ध, और स्वलिंग सिद्ध, अन्यलिंग सिद्ध तथा गृहलिंग सिद्ध।

५० उक्कोसोगाहणाए य
जहन्नमज्झिमाइ य।
अहे य तिरियं च
समुद्दम्मि जलम्मि य ॥

, और अवगाहना मे तथा ऊर्ध्व लोक मे, तिर्यक् लोक मे एवं समुद्र और अन्य मे जीव सिद्ध होते हैं।

५१ दस चेव नपुंसेसु
वीस इत्थियासु य।
पुरिसेसु य अट्ठसयं
समएणेगेण सिज्झई ॥

एक मे दस नपुंसक, बीस स्त्रियाँ और एक-सौ आठ पुरुष सिद्ध हो सकते है।

५२ चत्तारि य गिहिलिंगे
अन्नलिंगे दसेव य।
सलिंगेण य अट्ठसयं
समएणेगेण सिज्झई ॥

एक मे गृहस्थलिंग मे चार, अन्यलिंग मे दस, स्वलिंग मे एक-सौ आठ जीव सिद्ध हो सकते हैं।

५३ उक्कोसोगाहणाए य
सिज्झन्ते जुगवं दुवे।
चत्तारि जहन्नाए
सयं ॥

एक समय मे अवगाहना मे दो, जघन्य अवगाहना मे चार और अवगाहना मे एक-सौ आठ जीव सिद्ध हो सकते हैं।

५४ चउरुड्ढलोए य ` समुद्दे तओ जले वीसमहे तहेव । सय च अट्ठुत्तर तिरियलोए समएणेगेण उ सिज्झई उ ॥	एक मे ऊर्ध्व लोक मे चार, समुद्र मे दो, जलाशय मे तीन, अधो लोक मे वीस, तिर्यक् लोक मे एक-सौ आठ जीव सिद्ध हो सकते है ।
५५ कहिं पडिहया सिद्धा ? कहिं सिद्धा पइट्ठिया ? । कहिं बोन्दि चइत्ताणं ? गन्तूण सिज्झई ? ॥	सिद्ध कहाँ रुकते है ? कहाँ प्रतिष्ठित है ? शरीर को कहाँ छोडकर, कहाँ जाकर सिद्ध होते है ?
५६ अलोए पडिहया सिद्धा लोयग्गे य पइट्ठिया । बोन्दि गन्तूण सिज्झई ॥	सिद्ध अलोक मे रुकते है । लोक के मे प्रतिष्ठित है । मनुष्यलोक मे शरीर को छोडकर लोक के मे सिद्ध होते है ।
५७. बारसहिं जोयणेहिं सव्वट्ठस्सुवरिं ` । ईसीपब्भारनामा उ पुढवी छत्तसठिया ॥	सर्वार्थ-सिद्ध विमान से बारह योजन ऊपर ईषत्-प्राग्भारा नामक पृथ्वी है । वह है ।
५८ ालसयसहस्सा जोयणाण तु । चेव वित्थिण्णा तिगुणो तस्सेव परिरओ ॥	उसकी लम्बाई पैंतालीस लाख योजन की है । चौडाई उतनी ही है । उसकी परिधि उससे तिगुनी है ।
५९ अट्ठजोयणबाहल्ला सा मज्झम्मि वियाहिया । परिहायन्ती चरिमन्ते मच्छियपत्ता तणुयरी ॥	मध्य मे वह आठ योजन स्थूल है । पतली होती होती अन्तिम भाग मे मक्खी के पख से भी अधिक पतली हो जाती है ।
६० अज्जुणसुवण्णगमई सा पुढवी निम्मला सहावेण । उत्ताणगछत्तगसठिया य भणिया जिणवरेहिं ॥	जिनवरो ने कहा है—वह पृथ्वी अर्जुन अर्थात् श्वेत-स्वर्णमयी है, स्वभाव से निर्मल है और (उलटे) छत्राकार है ।

६१ -कुन्दसकासा
पण्डुरा निम्मला ।
सीयाए जोयणे तत्तो
लोयन्तो उ वियाहिओ ।।

वह शख, अकरत्न और कुन्द पुष्प के समान श्वेत है, निर्मल और शुभ है। इस सीता नाम की ईषत्-प्राग्भारा पृथ्वी से एक योजन ऊपर लोक का अन्त बतलाया है।

६२. जोयणस्स उ जो
कोसो उवरिमो भवे ।
तस्स कोसस्स छब्भाए
सिद्धाणोगाहणा भवे ।।

उस योजन के ऊपर का जो कोस है, उस कोस के छठे भाग मे सिद्धो की अवगाहना होती है।

६३. सिद्धा महाभागा
लोयग्गम्मि पइट्ठिया ।
भवप्पवचउम्मुक्का
सिद्धि वरगइ ।।

पच से मुक्त, महाभाग, परम गति 'सिद्धि' को सिद्ध वहाँ अग्रभाग मे स्थित है।

६४ उस्सेहो जो होइ
भवम्मि चरिमम्मि उ ।
तिभागहीणा तत्तो य
सिद्धाणोगाहणा भवे ।।

अन्तिम भव मे जिसकी जितनी ऊँचाई होती है, उससे त्रिभागहीन सिद्धो की अवगाहना होती है।

६५ एगत्तेण साईया
अपज्जवसिया वि य ।
ेण अणाईया
अपज्जवसिया वि य ।।

एक की अपेक्षा से सिद्ध सादि-अनन्त है। और बहुत्व की अपेक्षा से सिद्ध अनादि, अनन्त है।

६६ अरूविणो जी
नाणदसणसन्निया ।
सुह
नत्थि उ ।।

वे है, सघन हैं, ज्ञान-दर्शन से सपन्न हैं। जिसकी कोई उपमा नही है, ऐसा अतुल सुख उन्हें प्राप्त है।

६७ लोएगदेसे ते सव्वे
न्निया ।
ारमारनिच्छिन्ना
सिद्धि वरगइ ।।

ज्ञान-दर्शन से युक्त, ससार के पार पहुँचे हुए, परम गति सिद्धि को प्राप्त वे सभी सिद्ध लोक के एक देश मे स्थित हैं।

५४. चउरुड्ढलोए य ` समुद्दे
तओ जले वीसमहे तहेव।
सय च अट्ठुत्तर तिरियलोए
समएणेगेण उ सिज्झई उ ॥

एक मे ऊर्ध्व लोक मे चार, समुद्र मे दो, जलाशय मे तीन, अधो लोक मे बीस, तिर्यक् लोक मे एक-सौ आठ जीव सिद्ध हो सकते है।

५५ कहि पडिहया सिद्धा ?
कहि सिद्धा पइट्ठिया ?।
कहि बोन्दि ?
गन्तूण सिज्झई ? ॥

सिद्ध कहाँ रुकते है ? कहाँ प्रतिष्ठित है ? शरीर को कहाँ छोडकर, कहाँ जाकर सिद्ध होते हैं ?

५६ अलोए पडिहया सिद्धा
लोयग्गे य पइट्ठिया।
बोन्दि चइत्ताणं
गन्तूण सिज्झई ॥

सिद्ध अलोक मे रुकते है। लोक के अग्रभाग मे प्रतिष्ठित हैं। मनुष्यलोक मे शरीर को छोडकर लोक के अग्रभाग मे जाकर सिद्ध होते है।

५७ बारसहिं जोयणेहिं
सव्वट्ठस्सुवरिं भवे।
ईसीपब्भारनामा उ
पुढवी छत्तसठिया ॥

सर्वार्थ-सिद्ध विमान से बारह योजन ऊपर ईषत्-प्राग्भारा नामक पृथ्वी है। वह है।

५८ पणयालसयसहस्सा
जोय तु ।
चेव वित्थिण्णा
तिगुणो तस्सेव परिरओ ॥

उसकी लम्बाई पैंतालीस लाख योजन की है। चौडाई उतनी ही है। उसकी परिधि उससे तिगुनी है।

५९ अट्ठजोयणबाहल्ला
सा मज्झम्मि वियाहिया।
परिहायन्ती चरिमन्ते
मच्छियपत्ता तणुयरी ॥

मध्य मे वह आठ योजन स्थूल है। पतली होती होती अन्तिम भाग मे मक्खी के पख से भी अधिक पतली हो जाती है।

६०. अज्जुणसुवण्णगमई
सा पुढवी निम्मला सहावेण।
उत्ताणगछत्तगसठिया य
भणिया जिणवरेहिं ॥

जिनवरो ने कहा है—वह पृथ्वी अर्जुन अर्थात् श्वेत-स्वर्णमयी है, स्वभाव से निर्मल है और (उलटे) छत्राकार है।

७४ हरियाले हिंगुलुए
मणोसिला सासगंजण-पवाले।
अब्भपडलब्भवालुय
बायरकाए मणिविहाणा॥

हरिताल, हिंगुल, मैनसिल, सस्यक अथवा सासक (धातु-विशेष), अजन, प्रवाल—मूगा, अभ्र-पटल, अभ्रवालुक-अभ्रक की पडतो से मिश्रित वालू। और विविध मणि भी बादर पृथ्वी काय के अन्तर्गत है—

७५ गोमेज्जए य रुयगे
अंके फलिहे य लोहियक्खे य।
मरगय-मसारगल्ले
भुयमोयग-इन्दनीले य॥

गोमेदक, रुचक, अक, स्फटिक, लोहिताक्ष, मरकत, मसारगल्ल, भुज-मोचक, इन्द्रनील,

७६ चन्दण-गेरुय-हंसगब्भ-
पुलए सोगन्धिए य बोद्धव्वे।
चन्दप्पह-वेरुलिए
जलकन्ते सूरकन्ते य॥

चन्दन, गेरुक एव हसगर्भ, पुलक, सौगन्धिक, चन्द्रप्रभ, वैडूर्य, जलकान्त और सूर्यकान्त।

७७. एए खरपुढवीए
भेया छत्तीसमाहिया।
एगविहमणाणत्ता
सुहुमा तत्थ वियाहिया॥

ये कठोर पृथ्वीकाय के छत्तीस भेद है। सूक्ष्म पृथ्वीकाय के जीव एक ही प्रकार के है, अत वे अनानात्व है, अर्थात् नाना प्रकार के भेदो से रहित हैं।

७८ सुहुमा सव्वलोगम्मि
लोगदेसे य बायरा।
इत्तो कालविभाग तु
तेसि वुच्छं चउव्विहं॥

सूक्ष्म पृथ्वीकाय के जीव सम्पूर्ण लोक मे और बादर पृथ्वीकाय के जीव-लोक के एक देश—भाग मे व्याप्त है। अब चार प्रकार से पृथ्वीकायिक जीवो के काल-विभाग का कथन करूँगा।

७९ संतइं पप्पऽणाईया
अपज्जवसिया वि य।
ठिइं पडुच्च साईया
सपज्जवसिया वि य॥

पृथ्वीकायिक जीव प्रवाह की अपेक्षा से अनादि अनन्त है और स्थिति की अपेक्षा से सादि सान्त है।

८० बावीससहस्साइं
वासाणुक्कोसिया भवे।
आउठिई पुढवीणं
अन्तोमुहुत्तं जहन्निया॥

उनकी बाईस हजार वर्ष की उत्कृष्ट और अन्तर्मुहूर्त की जघन्य आयु—स्थिति है।

जीव—

६८ उ जे जीवा
दुविहा ते वियाहिया ।
तसा य चेव
तिविहा तहिं ॥

ससारी जीव के दो भेद है—त्रस और स्थावर । उनमे स्थावर तीन प्रकार के है ।

जीव—

६९ पुढवी ाेवा य
तहेव य वणस्सई ।
इच्चेए तिविहा
तेसिं भेए सुणेह मे ॥

पृथ्वी, जल और वनस्पति—ये तीन प्रकार के है । अब उनके भेदो को मुझसे सुनो ।

पृथ्वी —

७० दुविहा पुढवीजीवा उ
सुहुमा तहा ।

एवमेए पुणो ॥

पृथ्वीकाय जीव के दो भेद है—सूक्ष्म और ।

पुन दोनो के पर्याप्त और अपर्याप्त दो-दो भेद है ।

७१. ा जे उ
दुविहा ते वियाहिया ।
सण्हा खरा य बोद्धव्वा
सण्हा सत्तविहा तहिं ॥

पर्याप्त पृथ्वीकाय जीव के दो भेद है—

—मृदु और खर—कठोर, । मृदु के सात भेद है—

७२ किण्हा नीला य रुहिरा य
हालिद्दा सुक्किला तहा ।
पण्डु-पणगमट्टिया
खरा छत्तीसईविहा ॥

, नील, रक्त, पीत, श्वेत, पाण्डु—भूरी मिट्टी और पनक—अत्यन्त सूक्ष्म रज ।

कठोर पृथ्वी के छत्तीस है—

७३ पुढवी य बालुया य
उवले सिला य लोणूसे ।
अय-तम्ब —सीसग-
रुप्प-सुवण्णे य वइरे य ॥

शुद्ध पृथ्वी, शर्करा—ककराली, बालू, उपल-पत्थर, शिला, लवण, ऊष—क्षाररूप नौनी मिट्टी, लोहा, , त्रपुक—रागा, शीशा, चादी, सोना, वज्र—हीरा ।

७४ हरियाले हिंगुलुए
मणोसिला -पवाले।
अब्भपडलऽब्भवालुय
बायरकाए मणिविहाणा॥

हरिताल, हिंगुल, मैनसिल, सस्यक अथवा सासक (धातु-विशेष), अंजन, प्रवाल—मूंगा, अभ्र-पटल, अभ्रवालुक-की पडतो से मिश्रित बालू। और विविध मणि भी बादर पृथ्वी काय के अन्तर्गत है—

७५ गोमेज्जए य रुयगे
अंके फलिहे य लोहियक्खे य।
-मसारगल्ले
भुयमोयग-इन्दनीले य॥

गोमेदक, रुचक, अंक, स्फटिक, लोहिताक्ष, मरकत, मसारगल्ल, भुज-मोचक, इन्द्रनील,

७६. चन्दण-गेरुय-हंसगब्भ-
पुलए सोगन्धिए य बोद्धव्वे।
चन्दप्पह-वेरुलिए
जलकन्ते सूरकन्ते य॥

चन्दन, गेरुक एवं हंसगर्भ, पुलक, सौगन्धिक, चन्द्रप्रभ, वैडूर्य, जलकान्त और सूर्यकान्त।

७७. एए खरपुढवीए
भेया छत्तीसमाहिया।
एगविहमणाणत्ता
सुहुमा तत्थ वियाहिया॥

ये कठोर पृथ्वीकाय के छत्तीस भेद हैं। सूक्ष्म पृथ्वीकाय के जीव एक ही प्रकार के है, अतः वे अनानात्व हैं, अर्थात् नाना प्रकार के भेदो से रहित हैं।

७८ सुहुमा सव्वलोगम्मि
लोगदेसे य बायरा।
इत्तो कालविभागं तु
तेसिं वुच्छं चउव्विहं॥

सूक्ष्म पृथ्वीकाय के जीव सम्पूर्ण लोक मे और बादर पृथ्वीकाय के जीव-लोक के एक देश—भाग मे व्याप्त है। अब चार प्रकार से पृथ्वीकायिक जीवो के काल-विभाग का कथन करूंगा।

७९ संतइं पप्पऽणाईया
अपज्जवसिया वि य।
ठिइं पडुच्च साईया
सपज्जवसिया वि य॥

पृथ्वीकायिक जीव प्रवाह की अपेक्षा से अनादि अनन्त है और स्थिति की अपेक्षा से सादि सान्त हैं।

८० बावीससहस्साइं
वासाणुक्कोसिया भवे।
आउठिई पुढवीणं
अन्तोमुहुत्तं जहन्निया॥

उनकी बाईस हजार वर्ष की उत्कृष्ट और अन्तर्मुहूर्त की जघन्य आयु—स्थिति है।

८१ मुक्कोस
अन्तोमुहुत्त जह ।
कायठिई पुढवीण
त तु अमु चओ ॥

उनकी ी और अन्तमुंहूर्त की जघन्य काय-स्थिति है। पृथ्वी के शरीर को न छोडकर निरन्तर पृथ्वीकाय मे ही पैदा होते रहना, काय-स्थिति है।

८२ अणन्तकालमुक्कोस
अन्तोमुहुत्त जहन्नय ।
विजढमि सए काए
पुढवीजीवाण ॥

पृथ्वी के शरीरको एकवार छोड-कर फिर पृथ्वी के शरीरमे उत्पन्न होने के बीचका अन्तरकाल जघन्य अन्तमुंहूर्त और काल हैं।

८३. एएसि वण्णओ चेव
गन्धओ रसफासओ ।
सठाणावेसओ वा वि
विहाणाइं सहस्ससो ॥

वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और के आदेश (अपेक्षा) से तो पृथ्वी के हजारो भेद होते है।

अप्काय—

८४ दुविहा आउजीवा उ
सुहुमा तहा ।
एवमेए पुणो ॥

अप् काय जीवके दो भेद हैं-सूक्ष्म और बादर। पुन दोनो के पर्याप्त और अपर्याप्त दो-दो भेद हैं।

८५ बायरा जे उ
पचहा ते पकित्तिया ।
सुद्धोदए य उस्से
हरतणू महिया हिमे ॥

पर्याप्त अप्काय जीवो के पाँच भेद है—शुद्धोदक, -ओस, हरतनु—गीली भूमि से उत्पन्न वह जल, जो प्रात काल तृणाग्र पर बिन्दु रूप मे दिखाई देता है, महिका—कुहासा और हिम—बर्फ।

८६ एगविहमणाणत्ता
सुहुमा वियाहिया ।
सुहुमा सव्वलोगम्मि
लोगदेसे य ॥

सूक्ष्म के जीव एक प्रकार के है, उनके भेद नही हैं। सूक्ष्म के जीव सम्पूर्ण लोक मे और बादर अप्कायके जीव लोक के एक भाग मे है।

८७ पप्पऽणाईया वसिया वि य। ठिइ साईया सपज्जवसिया वि य॥	अप्कायिक जीव प्रवाह की अपेक्षा से अनादि-अनन्त है और स्थिति की अपेक्षा से सादि-सान्त है।
८८ व सहस्साइं वासाणुक्कोसिया भवे। आउट्ठिई अन्तोमुहुत्तं जहन्निया॥	उनकी सात हजार वर्ष की उत्कृष्ट और अन्तर्मुहूर्त की जघन्य आयु-स्थिति है।
८९ असंखकालमुक्कोसं अन्तोमुहुत्तं जहन्निया। कायट्ठिई तं तु अमुंचओ॥	उनकी काल की और अन्तर्मुहूर्त की जघन्य काय-स्थिति है। को छोड़कर निरन्तर मे ही पैदा होना, काय स्थिति है।
९० अणन्तकालमुक्कोसं अन्तोमुहुत्तं जहन्नयं। विजढंमि सए काए आऊजीवाण ॥	को छोड़कर पुन मे होने का जघन्य अन्तर्मुहूर्त और अनन्त-काल का है।
९१ एएसिं वण्णओ चेव गन्धओ रस-फासओ। संठाणादेसओ वावि विहाणाइं सहस्ससो॥	वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और की अपेक्षा से के हजारो भेद हैं।
९२. दुविहा वणस्सईजीवा तहा। एवमेए पुणो॥	—वनस्पति काय वनस्पति काय के जीवो के दो भेद है—सूक्ष्म और। पुन दोनो के पर्याप्त और अपर्याप्त दो-दो भेद है।
९३ रा के उ । दुविहा ते वियाहिया। साहारणसरीरा य पत्तेगा य तहेव य॥	पर्याप्त वनस्पतिकाय के जीवो के दो भेद है—साधारण-शरीर और प्रत्येक-शरीर।

९४ पत्तेगसरीरा उ
णेगहा ते पकित्तिया ।
रु गुच्छा य गु य
वल्ली तणा जहा

प्रत्येक-शरीर वनस्पति काय के जीवो के अनेक प्रकार है । जैसे—वृक्ष, गुच्छ—बैंगुन आदि, गुल्म—नवमालिका आदि, लता—चम्पकलता आदि, वल्ली—भूमि पर फैलने वाली ककडी आदि की बेल और तृण ।

९५ कुहुणा
जलरुहा ओसही-तिणा ।
हरियकाया य बोद्धव्वा
पत्तेया इति आहिया ॥

लता-वलय—केला आदि, पर्वज—ईख आदि, कुहण—भूमिस्फोट, कुक्कुर-मुत्ता आदि, जलरुह—कमल आदि, औषधि—जौ, चना आदि धान्य, तृण और हरितकाय—ये सभी प्रत्येक शरीरी है, ऐसा जानना चाहिए ।

९६. साहारणसरीरा उ
णेगहा ते पकि ।
आलुए मूलए चेव
सिंगबेरे तहेव य ॥

साधारणशरीरी अनेक प्रकार के है—आलुक, मूल—मूली, शृ गवेर—
 ।

९७ हिरिली सिरिली सिस्सिरिली
जावई केय-कन्दली ।
पलण्डू-लसणकन्दे य
कन्दली य बए ॥

हिरिलीकन्द, सिरिलीकन्द, सिस्सि-रिलीकन्द, जावईकन्द, केद-कदलीकन्द, पलाण्डु—प्याज, लहसुन, कन्दली, कुस्तुम्बक,

९८ लोहि णीहू व थिहू य
कुहगा य तहेव य ।
कण्हे य वज्जकन्दे य
कन्दे सूरणए तहा ॥

लोही, स्निहू, कुहक, कृष्ण, वज्र-कन्द और सूरण-कन्द,

९९ अस्सकण्णी य बोद्धव्वा
सीहकण्णी तहेव य ।
मुसुण्ढी य हलिद्दा य
ऽणेगहा एवमायओ ॥

अश्वकर्णी, सिंहकर्णी, मुसुण्ढी और हरिद्रा इत्यादि—अनेक प्रकार के जमी कन्द है ।

१००. एगविहमणाणत्ता
विया हिया।
सुहुमा सव्वलोगम्मि
लोगदेसे य । ॥

सूक्ष्म वनस्पति काय के जीव एक ही प्रकार के है, उनके भेद नही है। सूक्ष्म वनस्पतिकाय के जीव सम्पूर्ण लोक मे , और वनस्पति काय के जीव लोक के एक भाग मे व्याप्त है।

१०१ पप्पऽणाईया
वसिया वि य ।
ठिइं पडुच्च साईया
सपज्जवसिया वि य ॥

वे प्रवाह की अपेक्षा से अनादि अनन्त है , और स्थिति की अपेक्षा से सादि- है।

१०२. दस चेव सहस्साइं
वासाणुक्कोसिया भवे ।
वणप्फईण तु
अन्तोमुहुत्त जहन्नग ॥

उनकी दस हजार वर्ष की उत्कृष्ट और अन्तर्मुहूर्त की जघन्य आयु-स्थिति है ।

१०३ न्तकालमुक्कोस
अन्तोमुहुत्त जहन्नय ।
कायठिई ण
त तु अमु चओ ॥

उनकी अनन्त काल की और अन्तर्मुहूर्त की जघन्य काय-स्थिति है। वनस्पति के शरीर को न छोडकर निरन्तर वनस्पति के शरीर मे ही पैदा होना, कायस्थिति है।

१०४ कालमुक्कोस
अन्तोमुहुत्त जहन्नय।
विजढंमि सए काए
पणगजीवाण अन्तर ॥

वनस्पति के शरीर को छोडकर पुन वनस्पति के शरीर मे उत्पन्न होने मे जो अन्तर होता है, वह जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट असख्यात काल का है।

१०५. एएसिं व ओ चेव
गन्धओ रसफासओ।
सठाणादेसओ वावि
विहाणाइं सहस्सओ ॥

वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और सस्थान की अपेक्षा से वनस्पतिकाय के हजारो भेद है।

१०६ इच्चेए थावरा तिविहा
समासेण वियाहिया।
इत्तो उ तसे तिविहे
वुच्छामि अणुपुव्वसो ॥

इस प्रकार सक्षेप से तीन प्रकार के स्थावर जीवो का निरूपण किया गया। अब तीन प्रकार के त्रस जीवो का निरूपण करूंगा।

—

१०७ तेऊ य बोद्धव्वा
उराला य तसा तहा।
इच्चेए तिविहा
तेंसि भेए सुणेह मे ॥

तेजस्, वायु और उदार—अर्थात् एकेन्द्रिय त्रसो की अपेक्षा स्थूल द्वीन्द्रिय आदि त्रस—ये तीन के भेद है। उनके भेदो को मुझसे सुनो।

१०८. दुविहा ीवा उ
सुहुमा तहा।

एवमेए पुणो ॥

तेजस् —

तेजस् काय जीवो के दो भेद है— सूक्ष्म और बादर। पुन दोनो के पर्याप्त और अपर्याप्त दो-दो भेद हैं।

१०९ बायरा जे उ
णेगहा ते वियाहिया।
इंगाले मुम्मुरे अगणी
अच्चि तहेव य ॥

बादर पर्याप्त तेजस् काय जीवो के अनेक प्रकार है—

अगार, मुर्मुर—भस्ममिश्रित अग्नि-कण अर्थात् चिनगारियाँ, अग्नि, अर्चि—दीपशिखा आदि, —

११०. विज्जू य बोद्धव्वा
णेगहा एवमायओ।
एगविहमणाणत्ता
सुहुमा ते वियाहिया ॥

, विद्युत् इत्यादि।

सूक्ष्म तेजस्काय के जीव एक प्रकार के हैं, उनके भेद नही हैं।

१११. सुहुमा सव्वलोगम्मि
लोग य रा।
इत्तो कालविभाग तु
वुच्छ चउव्विह ॥

सूक्ष्म तेजस्काय के जीव सम्पूर्ण लोक मे और बादर तेजस्काय के जीव लोक के एक भाग मे है। इस निरू-पण के बाद चार प्रकार से तेजस्काय जीवो के काल-विभाग का कथन करूँगा।

११२ पप्पऽणाईया
अपज्जवसिया वि य।
ठिइ पडुच्च साईया
सपज्जवसिया वि य ॥

वे प्रवाह की अपेक्षा से अनादि अनन्त हैं और स्थिति की अपेक्षा से सादि सान्त हैं।

११३ तिण्णेव अहोरत्ता
उक्कोसेण वियाहिया।
आउट्ठिई तेऊण
अन्तोमुहुत्त जहन्निया ॥

तेजस्काय की आयु-स्थिति उत्कृष्ट तीन अहोरात्र (दिन-रात) की है और अन्तर्मुहूर्त की है।

११४. असखकालमुक्कोस अन्तोमुहुत्त जहन्नय। कायट्ठिई तेऊण त काय तु अमु ो॥	तेजस्काय की काय-स्थिति उत्कृष्ट अस काल की है और जघन्य अन्त-र्मुहूर्त की है। तेजस् के शरीर को छोड कर निरन्तर तेजस् के शरीर में ही पैदा होना, काय-स्थिति है।
११५. अणन्तकालमुक्कोसं अन्तोमुहुत्त जहन्नय। विजढंमि सए काए तेउजीवाण अन्तर॥	तेजस् के शरीर को छोडकर पुन. तेजस् के शरीर मे उत्पन्न होने मे जो है, वह जघन्य अन्तर्मुहूर्त और का है।
११६. एएसि वण्णओ चेव गन्धओ रसफासओ। सठाणादेसओ वावि विहाणाइं सहस्ससो॥	वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और सस्थान की अपेक्षा से तेजस् के हजारो भेद हैं।
	वायु —
११७. दुविहा वाउजीवा उ सुहुमा तहा। एवमेए पुणो॥	वायुकाय जीवो के दो भेद है—सूक्ष्म और बादर। पुन उन दोनो के पर्याप्त और अपर्याप्त दो-दो भेद है।
११८ जे उ पचहा ते पकिति । उक्कलिया-मण्डलिया— घण-गु जा सुद्धवाया य॥	बादर पर्याप्त वायुकाय जीवो के पाँच भेद है—उत्कलिका, मण्डलिका, घनवात, गु जावात और शुद्धवात।
११९ सवट्टगवाते य ऽणेगविहा एवमायओ। एगविहमणाणत्ता सुहुमा ते वियाहिया॥	सवर्तक-वात आदि और भी अनेक भेद हैं। सूक्ष्म वायुकाय के जीव एक के है, उनके भेद नही है।
१२०. सुहुमा सव्वलोगम्मि लोगदेसे य बायरा। इत्तो कालविभाग तु तेसिं वुच्छ चउव्विहं॥	सूक्ष्म वायुकाय के जीव सम्पूर्ण लोक मे, और बादर वायुकाय के जीव लोक के एक भाग मे व्याप्त हैं। इस निरूपण के बाद चार प्रकार से वायुकायिक जीवो के काल-विभाग का करूँगा।

१२१. ˙ ˙ ऽणाईया अपज्जवसिया वि य। ठिइं पडुच्च साईया सपज्जवसिया वि य॥	वे प्रवाह की अपेक्षा से अनादि अनन्त है और स्थिति की अपेक्षा से सादि सान्त हैं।
१२२ तिण्णेव सहस्साइ वासाणुक्कोसिया भवे। आउट्ठिई अन्तोमुहुत्त जहन्नि ॥	उनकी आयु-स्थिति उत्कृष्ट तीन हजार वर्ष की है और अन्तर्मुहूर्त की।
१२३ लमुक्कोस अन्तोमुहुत्त जहन्नय। कायट्ठिई त काय तु अमुचओ॥	उनकी कायस्थिति उत्कृष्ट असख्यात-काल की है और जघन्य अन्तर्मुहूर्त की है। वायु के शरीर को छोडकर निरन्तर वायु के शरीर मे ही पैदा होना, काय-स्थिति है।
१२४. अणन्तकालमुक्कोस अन्तोमुहुत्त जहन्नय। विजढमि सए काए वाउजीवाण ॥	वायु के शरीर को छोडकर पुन वायु के शरीर मे उत्पन्न होने मे जो अन्तर है, वह अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट काल का है।
१२५. एएसिं वण्णओ चेव गन्धओ ओ। वेसओ वावि विहाणाइ सहस्ससो॥	वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और सस्थान की अपेक्षा से वायुकाय के हजारो भेद होते हैं।

त्रस काय—

१२६ ओराला जे उ चउहा ते पकित्ति । बेइन्दिय-तेइन्दिय— चउरो-पचिन्दिया ॥	उदार त्रसो के चार भेद है—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय।

द्वीन्द्रिय त्रस—

१२७ बेइन्दिया उ जे जीवा दुविहा ते पकित्तिया। पज्जत्तमपज्जत्ता तेसिं भेए सुणेह मे॥	द्वीन्द्रिय जीव के दो भेद है—पर्याप्त और अपर्याप्त। उनके भेदो को मुझ से सुनो।

१२८. किमिणो सोमगला चेव माइवाहया । वासीमुहा य सिप्पीया तहा ॥	कृमि, सौमगल, , मातृवाहक, वासीमुख, सीप, शख, —
१२९. पल्लोयाणुल्लया तहेव य । जलूगा चेव य तहेव य ॥	पल्लोय, अणुल्लक, —कोडी, जोक, और चन्दनिया—
१३०. बेइन्दिया णेगहा एवमायओ । लोगेगदेसे ते न वियाहिया ॥	इत्यादि अनेक के द्वीन्द्रिय जीव है। वे लोक के एक भाग मे हैं, सम्पूर्ण लोक मे नही ।
१३१ पप्पऽणाईया अपज्जवसिया वि य । ठिइ पडुच्च साईया सपज्जवसिया वि य ॥	प्रवाह की अपेक्षा से वे अनादि है और स्थिति की अपेक्षा वे सादि सान्त है ।
१३२ बारसे व उ उक्कोसेण वियाहिया । बेइन्दियआउठिई अन्तोमुहुत्तं जहन्नि ॥	उनकी आयु-स्थिति बारह वर्ष की, और जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है ।
१३३ संखिज्जकालमुक्कोस अन्तोमुहुत्त जहन्नय । बेइन्दियकायठिई त तु चओ ॥	उनकी काय-स्थिति उत्कृष्ट काल की और अन्तर्मुहूर्त की है । द्वीन्द्रिय के शरीर को न छोडकर निरंतर द्वीन्द्रिय शरीर मे ही पैदा होना, काय-स्थिति है ।
१३४ अणन्तकालमुक्कोस अन्तोमुहुत्त य । बेइन्दियजीवाण अन्तरेय वियाहिय ॥	द्वीन्द्रिय के शरीर को छोडकर पुन द्वीन्द्रिय शरीर मे होने मे जो अतर है, वह अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट काल का है ।

१३५. एएसिं वण्णओ चेव
गन्धओ र सओ।
वेसओ वावि
विहाणाइ सहस्ससो॥

वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और
की अपेक्षा से उनके हजारो भेद होते है।

त्रीन्द्रिय त्रस—

१३६ तेइन्दिया उ जे जीवा
दुविहा ते पकि ।
पज्जत्तमपज्जत्ता
तेसि भेए सुणेह मे॥

त्रीन्द्रिय जीवो के दो भेद है—पर्याप्त और अपर्याप्त। उनके भेदो को मुझ से सुनो।

१३७. कुन्थु-पिवीलि
उक्कलुद्देहिया तहा।
तणहार-कट्ठहारा
मालुगा पत्तहारगा॥

कुथु, चीटी, उड्स—खटमल, —मकडी, उपदेहिका—दीमक, तृणाहारक, काष्ठाहारक—घुन, मालुक, पत्राहारक—

१३८. कप्पासऽट्ठिमिजा य
तिदुगा तउसमिजगा।
सदावरी य गुम्मी य
बोद्धव्वा ॥

कर्पासास्थि-मिजक, तिन्दुक, त्रपुष-मिजक, शतावरी, गुम्मी—कान-खजूरा, इन्द्रकायिक—

१३९. इन्दगोवगमाईया
णेगहा एवमायओ।
लोएगदेसे ते सव्वे
न वियाहिया॥

इन्द्रगोपक इत्यादि त्रीन्द्रिय जीव अनेक के हैं। वे लोक के एक भाग मे है, सम्पूर्ण लोक मे नही।

१४० पप्पऽणाईया
अपज्जवसिया वि य।
ठिइ साईया
सपज्जवसिया वि य॥

प्रवाह की अपेक्षा से वे अनादि अनत है और स्थिति की अपेक्षा से सादि सान्त है।

१४१ एगूणपण्णऽहोरत्ता
उक्कोसेण वियाहिया।
तेइन्दियआउठिई
अन्तोमुहुत्तं जहन्निया॥

उनकी आयु-स्थिति उन-दिनो की और जघन्य अन्तर्मुहूर्त की है।

१४२. संखिज्जकालमुक्कोसं
अन्तोमुहुत्तं जहन्नयं
तेइन्दियकायठिई
तं कायं तु अमुंचओ ॥

उनकी काय-स्थिति उत्कृष्ट संख्यात काल की और जघन्य अन्तर्मुहूर्त की है। त्रीन्द्रिय शरीर को न छोडकर, निरंतर त्रीन्द्रिय शरीर मे ही पैदा होना काय-स्थिति है।

१४३. अणन्तकालमुक्कोसं
अन्तोमुहुत्तं जहन्नयं ।
तेइन्दियजीवाणं
अन्तरेयं वियाहियं ॥

त्रीन्द्रिय शरीर को छोडकर पुन त्रीन्द्रिय के शरीर मे उत्पन्न होने मे अन्तर जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अनन्तकाल का है।

१४४ एएसिं वण्णओ चेव
गन्धओ रसफासओ ।
संठाणादेसओ वावि
विहाणाइं सहस्ससो ॥

वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान की अपेक्षा से उनके हजारो भेद है।

चतुरिन्द्रिय त्रस—

१४५ चउरिन्दिया उ जे जीवा
दुविहा ते पकित्तिया ।
पज्जत्तमपज्जत्ता
तेसिं भेए सुणेह मे ॥

चतुरिन्द्रिय जीव के दो भेद है— पर्याप्त और अपर्याप्त। उनके भेद तुम मुझ से सुनो।

१४६ अन्धिया पोत्तिया चेव
मच्छिया मसगा तहा ।
भमरे कीड-पयंगे य
ढिंकुणे कुंकणे तहा ॥

अन्धिका, पोत्तिका, मक्षिका, मशक—मच्छर, भ्रमर, कीट, पतग, ढिंकुण, कुंकुण—

१४७ कुक्कुडे सिंगिरीडी य
नन्दावत्ते य विंछिए ।
डोले भिंगारी य
विरली अच्छिवेहए ॥

कुक्कुड, भृंगिरीटी, नन्दावर्त, बिच्छू, डोल, भृंगरीटक, विरली, अक्षिवेधक—

१४८ अच्छिले माहए अच्छि-
रोडए विचित्ते चित्तपत्तए ।
ओहिंजलिया जलकारी य
नीया तन्तवगाविया ॥

अक्षिल, मागध, अक्षिरोडक, विचित्र, चित्रपत्रक, ओहिंजलिया, जलकारी, नीचक, तन्तवक—

१४९ इइ चउरिन्दिया एए
ऽणेगहा एवमायओ ।
लोगस्स एगदेसम्मि
ते सव्वे परिकित्तिया ॥

इत्यादि चतुरिन्द्रिय के अनेक प्रकार है। वे लोक के एक भाग मे व्याप्त हैं, सम्पूर्ण लोक मे नही ।

१५० पप्पऽणाईया
अपज्जवसिया वि य ।
ठिइं पडुच्च साईया
सपज्जवसिया वि य ॥

प्रवाह की अपेक्षा से वे अनादि-अनत और स्थिति की अपेक्षा से सादि सान्त है ।

१५१ छच्चेव य उ
उक्कोसेण वियाहिया ।
चउरिन्दियआउठिई
अन्तोमुहुत्त जहन्निया ॥

उनकी आयु-स्थिति उत्कृष्ट छह मास की और जघन्य अन्तमुंहूर्त की है ।

१५२ सखिज्जकालमुक्कोसं
अन्तोमुहुत्तं जहन्नय ।
चउरिन्दियकायठिई
तं तु अमु चओ ॥

उनकी काय-स्थिति सख्यात-काल की और जघन्य अन्तमुंहूर्त्त की है। चतुरिन्द्रिय के शरीर को न छोडकर निरतर चतुरिन्द्रिय के शरोर मे ही पैदा होते रहना, काय-स्थिति है ।

१५३ अणन्तकालमुक्कोस
अन्तोमुहुत्त जहन्नय ।
विजढमि सए
अन्तरेय वियाहिय ॥

चतुरिन्द्रिय शरीर को छोडकर पुन चतुरिन्द्रिय शरीर मे उत्पन्न होने मे अन्तर जघन्य अन्तमुंहूत और उत्कृष्ट अनन्तकाल का है ।

५४ एएसिं वण्णओ चेव
गन्धओ रसफासओ ।
संठाणादेसओ वावि
विहा सहस्ससो ॥

वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और सस्थान की अपेक्षा से उनके हजारो भेद हैं ।

पचेन्द्रिय त्रस—

१५५ पंचिन्दिया उ जे जीवा
चउव्विहा ते वियाहिया ।
नेरइया तिरिक्खा य
मणुया देवा य आहिया ॥

पचेन्द्रिय जीव के चार भेद हैं— नैरयिक, तिर्यंच, मनुष्य और देव ।

त्रस—

१५६. नेरइया सत्तविहा पुढवीसु सत्तसू भवे। — सक्कराभा वालुयाभा य आहिया॥	नैरयिक जीव सात प्रकार के है— रत्नाभा, शर्कराभा, वालुकाभा।
१५७. धूमाभा तहा। नेरइया सत्तहा परिकित्तिया॥	पकाभा, धूमाभा, तम प्रभा और तमस्तमा—इस सात पृथ्वियो मे होने वाले नैरयिक सात के हैं।
१५८ लोगस्स एगदेसम्मि ते सव्वे उ ाहिया। एत्तो कालविभाग तु तेसिं चउव्विह॥	वे लोक के एक भाग मे हैं। इस निरूपण के बाद चार प्रकार से नैरयिक जीवो के काल-विभाग का करूँगा।
१५९ पप्पऽणाईया अपज्जवसिया वि य। ठिइ पडुच्च साईया सिया वि य॥	वे प्रवाह की अपेक्षा से अनादि हैं। और स्थिति की अपेक्षा से सादि- है।
१६०. सागरोवममेग तु उक्कोसेण वियाहिया। पढमाए जहन्नेण दसवाससहस्सिया॥	पहली पृथ्वी मे नैरयिक जीवो की आयु-स्थिति जघन्य दस हजार वर्ष की, और एक सागरोपम की है।
१६१ तिण्णेव ऊ उक्कोसेण वियाहिया। दोच्चाए जहन्नेण एग तु सागरोवम॥	दूसरी पृथ्वी मे नैरयिक जीवो की आयु-स्थिति तीन सागरोपम की और जघन्य एक सागरोपम की है।
१६२ व ऊ उक्कोसेण वियाहिया। तइयाए ेण तिण्णेव उ सागरोवमा॥	तीसरी पृथ्वी मे नैरयिक जीवो की आयु स्थिति उत्कृष्ट सात सागरोपम और तीन सागरोपम है।

१४९ चउरिन्दिया एए ऽणेगहा एवमायओ। लोगस्स एगदेसम्मि ते सव्वे परिकित्तिया॥	इत्यादि चतुरिन्द्रिय के अनेक है। वे लोक के एक भाग मे हैं, सम्पूर्ण लोक मे नही।
१५० पप्पऽणाईया अपज्जवसिया वि य। ठिइ पडुच्च साईया सिया वि य॥	प्रवाह की अपेक्षा से वे अनादि-अनत और स्थिति की अपेक्षा से सादि सान्त है।
१५१ छच्चेव य उ उक्कोसेण वियाहिया। चउरिन्दियआउठिई अन्तोमुहुत्त जहन्निया॥	उनकी आयु-स्थिति छह मास की और जघन्य अन्तर्मुहूर्त की है।
१५२ सखिज्जकालमुक्कोस अन्तोमुहुत्तं जहन्नय। चउरिन्दियकायठिई त तु अमु चओ॥	उनकी काय-स्थिति - काल की और जघन्य अन्तर्मुहूर्त की है। चतुरिन्द्रिय के शरीर को न छोडकर निरतर चतुरिन्द्रिय के शरीर मे ही पैदा होते रहना, काय-स्थिति है।
१५३ अणन्तकालमुक्कोस अन्तोमुहुत्त जहन्नय। विजढंमि सए काए अन्तरेय वियाहिय॥	चतुरिन्द्रिय शरीर को छोडकर पुन चतुरिन्द्रिय शरीर मे उत्पन्न होने मे अन्तर जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट का है।
५४ एएसिं वण्णओ चेव गन्धओ रसफासओ। सठाणादेसओ वावि विहा सहस्ससो॥	वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और सस्थान की अपेक्षा से उनके हजारो भेद हैं।

पचेन्द्रिय त्रस—

१५५ पचिन्दिया उ जे जीवा चउव्विहा ते वियाहिया। नेरइया तिरिक्खा य मणुया य आहिया॥	पचेन्द्रिय जीव के चार भेद हैं—नैरयिक, तिर्यंच, मनुष्य और देव।

त्रस—

१५६. नेरइया सत्तविहा पुढवीसु सत्तसू भवे । — सक्कराभा वालुयाभा य आहिया ॥	नैरयिक जीव सात के है— रत्नाभा, , वालुकाभा ।
१५७ धूमाभा तहा । नेरइया सत्तहा परिकित्तिया ॥	प , धूमाभा, तम प्रभा और तमस्तमा—इस प्रकार सात पृथ्वियो मे होने वाले नैरयिक सात के है ।
१५८ लोगस्स एगदेसम्मि ते उ वियाहिया । एत्तो कालविभाग तु तेसिं चउव्विहं ॥	वे लोक के एक भाग मे हैं । इस निरूपण के बाद चार से नैरयिक जीवो के काल-विभाग का करूँगा ।
१५९ पप्पऽणाईया अपज्जवसिया वि य । ठिइ साईया सिया वि य ॥	वे प्रवाह की अपेक्षा से अनादि हैं । और स्थिति की अपेक्षा से सादि- सान्त है ।
१६० सागरोवममेग तु उक्कोसेण वियाहिया । पढमाए जहन्नेण दसवाससहस्सिया ॥	पहली पृथ्वी मे नैरयिक जीवो की आयु-स्थिति जघन्य दस हजार वर्ष की, और एक सागरोपम की है ।
१६१ तिण्णेव ऊ उक्कोसेण वियाहिया । दोच्चाए जहन्नेण एग तु सागरोवम ॥	दूसरी पृथ्वी मे नैरयिक जीवो की आयु-स्थिति तीन सागरोपम की और एक सागरोपम की है ।
१६२ व ऊ उक्कोसेण वियाहिया । तइयाए जहन्नेण तिण्णेव उ सागरोवमा ॥	तीसरी पृथ्वी मे नैरयिक जीवो की आयु स्थिति उत्कृष्ट सात सागरोपम और तीन सागरोपम है ।

१६३ दस सागरोवमा ऊ
उक्कोसेण वियाहिया।
चउन्थीए जहन्नेण
ेव उ सागरोवमा ॥

चौथी पृथ्वी मे नैरयिक जीवो की आयु-स्थिति उत्कृष्ट दस सागरोपम और जघन्य सात सागरोपम है।

१६४ ऊ
उक्कोसेण वियाहिया।
ए जहन्नेण
दस चेव उ सागरोवमा ॥

पाँचवी पृथ्वी मे नैरयिक जीवो की आयु-स्थिति सतरह सागरोपम और दस सागरोपम है।

१६५ बावीस ऊ
उक्कोसेण वियाहिया।
छट्ठीए जहन्नेण
सागरोवमा ॥

छठी पृथ्वी मे नैरयिक जीवो की आयु-स्थिति बाईस सागरोपम और सतरह सागरोपम है।

१६६ तेत्तीस ऊ
ोसेण वियाहिया।
सत्तमाए जहन्नेणं
बावीस सागरोवमा ॥

सातवी पृथ्वी मे नैरयिक जीवो की आयु-स्थिति तेतीस सागरोपम और बाईस सागरोपम है।

१६७ जा चेव उ आउठिई
नेरइयाण वियाहिया।
सा तेसिं कायठिई
न्नुक्कोसिया भवे ॥

नैरयिक जीवो की जो आयु-स्थिति है, वही उनकी और काय-स्थिति है।

१६८ अणन्तकालमुक्कोस
अन्तोमुहुत्तं जहन्नय।
विजढम्मि सए काए
नेरइयाण तु ॥

नैरयिक शरीर को छोडकर पुन नैरयिक शरीर मे होने मे अन्तर जघन्य अन्तर्मुहूर्त और अनन्त-काल का है।

१६९. एएसिं वण्णओ चेव
गन्धओ सओ।
सठाणादेसओ वावि
विहाणाइ सहस्ससो ॥

वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और सस्थान की अपेक्षा से उनके हजारो भेद हैं।

पचेन्द्रिय-तिर्यञ्च त्रस—

१७०. पचिन्दियतिरिक्खाओ
दुविहा ते वियाहिया ।
सम्मुच्छिमतिरिक्खाओ
गब्भवक्कंति तहा ॥

पचेन्द्रिय-तिर्यञ्च जीव के दो भेद है—
सम्मूर्च्छिम-तिर्यञ्च और गर्भज-तिर्यञ्च ।

१७१. दुविहावि ते भवे तिविहा
। तहा ।
खहयरा य बोद्धव्वा
भेए सुणेह मे ॥

इन दोनो के पुन र, स्थलचर और खेचर—ये तीन-तीन भेद है । उनको तुम मुझसे सुनो ।

त्रस—

१७२ य य
गाहा य मगरा तहा ।
सु सुमारा य बोद्धव्वा
पचहा जलयराहिया ॥

जलचर पाँच के हैं—मत्स्य, , ग्राह, मकर और सु सुमार ।

१७३ लोएगदेसे ते सव्वे
न वियाहिया ।
एत्तो कालविभागं तु
तेसिं चउव्विह ॥

वे लोक के एक भाग मे है, सम्पूर्ण लोक मे नही । इस निरूपण के बाद चार प्रकार से उनके कालविभाग का कहूँगा ।

१७४. पप्पऽणाईया
अपज्जवसिया वि य ।
ठिइ पडुच्च साईया
सपज्जवसि वि य ॥

वे प्रवाह की अपेक्षा से अनादि-अनन्त हैं और स्थिति की अपेक्षा से सादि- है ।

१७५. एगा य पुव्वकोडीओ
उक्कोसेण वियाहिया ।
आउट्ठिई जलयराण
अन्तोमुहुत्तं जहन्निया ॥

जलचरो की आयु-स्थिति उत्कृष्ट एक करोड पूर्व की, और जघन्य अन्त-मुहूर्त की है ।

१७६ पुव्वकोडीपुहत्तं तु
उक्कोसेण वियाहिया ।
कायट्ठिई जलयराण
अन्तोमुहुत्तं जहन्निया ॥

जलचरो की काय-स्थिति उत्कृष्ट एक करोड पूर्व की है और जघन्य अन्त-मुहूर्त की है ।

१७७ अणन्तकालमुक्कोस
अन्तोमुहुत्त जहन्नयं ।
विजढमि सए काए
तु ॥

जलचर के शरीर को छोडकर पुन जलचर के शरीर मे उत्पन्न होने मे जघन्य अन्तमुंहूर्त और अनन्त-काल का है ।

१७८ एएसिं वण्णओ चेव
गधओ रसफासओ ।
णादेसओ वा वि
विहाणाइ सहस्ससो ॥

वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और की अपेक्षा से उनके हजारो भेद हैं ।

त्रस—

१७९ य परिसप्पा
दुविहा भवे ।
या चउविहा
ते मे कित्तयओ सुण ॥

स्थलचर जीवो के दो भेद हैं—चतुष्पद और परिसर्प । चतुष्पद चार प्रकार के है, उनको मुझसे सुनो ।

१८० एगखुरा दुखुरा चेव
गण्डीपय ।
हयमाइ-गोणमाइ—
-सीहमाइणो ॥

एकखुर—अश्व आदि, द्विखुर—बैल आदि, गण्डीपद—हाथी आदि, और —सिंह आदि ।

१८१ भुओरगपरिसप्पा य
परिसप्पा दुविहा भवे ।
गोहाई अहिमाई य
एक्केक्का ऽणेगहा भवे ॥

परिसर्प दो प्रकार के हैं—भुजपरि-सर्प—गोह आदि, उर परिसर्प—साप आदि । इन दोनो के अनेक प्रकार है ।

१८२. लोए ते
न वियाहिया ।
एत्तो कालविभाग तु
वुच्छं चउव्विहं ॥

वे लोक के एक भाग मे हैं, सम्पूर्ण लोक मे नही । इस निरूपण के बाद चार से स्थलचर जीवो के काल-विभाग का करूँगा ।

१८३. पप्पऽणाईया
अपज्जवसिया वि य ।
ठिइ पडुच्च साईया
सपज्जवसिया वि य ॥

की अपेक्षा से वे अनादि अनन्त हैं । स्थिति की अपेक्षा से सादि-सान्त है ।

१८४ पलिओवमाउ तिण्णि उ
उक्कोसेण वियाहिया।
आउट्ठिई
अन्तोमुहुत्त जहन्निया ॥

उनकी आयु स्थिति उत्कृष्ट तीन पल्योपम की, और जघन्य अन्तर्मुहूर्त की है।

१८५ पलिओवमाउ तिण्णि उ
उक्कोसेण तु साहिया।
पुव्वकोडीपुहत्तेण
अन्तोमुहुत्त जहन्निया ॥

उत्कृष्टत पृ करोड पूर्व अधिक तीन पल्योपम और जघन्यत अन्तर्मुहूर्त—

१८६ कायट्ठिई
अन्तर तेसिम ।
कालमणन्तमुक्कोस
अन्तोमुहुत्तं जहन्नय ॥

स्थलचर जीवो की कायस्थिति है।
और उनका अन्तर जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अनन्त काल का है।

१८७ एएसि वण्णओ चेव
गंधओ रसफासओ।
संठाणादेसओ वावि
विहाणाइ सहस्ससो ॥

वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श और सस्थान की अपेक्षा से उनके हजारो भेद है।

१८८ चम्मे उ लोमपक्खी य
समुग्गपक्खिया।
विययप य बोद्धव्वा
पक्खिणो य चउव्विहा ॥

खेचर त्रस—
खेचर जीव के चार प्रकार हैं—चर्म-पक्षी, रोम पक्षी, समुद्ग पक्षी और वितत-पक्षी।

१८९ लोगेगदेसे ते सव्वे
न वियाहिया।
इत्तो कालविभाग तु
वुच्छ तेसि चउव्विह ॥

वे लोक के एक भाग मे व्याप्त है, सम्पूर्ण लोक मे नही। इस निरूपण के बाद चार प्रकार से खेचर जीवो के -विभाग का कथन करूँगा।

१९०. सतइ पप्पऽणाईया
अ सिया वि य।
ठिइ पडुच्च साईया
सपज्जवसिया वि य ॥

प्रवाह की अपेक्षा से वे अनादि अनन्त है। स्थिति की अपेक्षा से सादि सान्त हैं।

१९१ पलिओवमस्स भागो
खेज्जइमो भवे।
आउट्ठिई खहयराण
अन्तोमुहुत्त जहन्निया॥

उनकी आयु स्थिति उत्कृष्ट पल्योपम के भाग की है और जघन्य अन्तर्मुहूर्त है।

१९२. असखभागो पलियस्स
उक्कोसेण उ साहिओ।
पुव्वकोडीपुहुत्तेण
अन्तोमुहुत्त जहन्निया॥

उत्कृष्टत पृथक्त्व करोड पूर्व अधिक पल्योपम का असख्यातवाँ भाग और जघन्यत अन्तर्मुहूर्त—

१९३ कायठिई खहयराण
तेसिम ।
काल अणन्तमुक्कोस
अन्तोमुहुत्त जहन्नय॥

खेचर जीवो की काय-स्थिति है।
और उनका अन्तर जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अनन्त काल का है।

१९४. एएसि वण्णओ चेव
गन्धओ रसफासओ।
सठाणादेसओ वावि
विहा सहस्ससो॥

वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और सस्थान की अपेक्षा से उनके हजारो भेद है।

मनुष्य त्रस—

१९५ मणुया दुविहभेया उ
ते मे कित्तयओ सुण।
समुच्छिमा य
गब्भवक्कन्तिया तहा॥

मनुष्य दो प्रकार के है—सम्मूर्च्छिम और गर्भावक्रान्तिक—गर्भोत्पन्न।

१९६ गब्भवक्कं जे उ
तिविहा ते वियाहिया।
अ -कम्मभूमा य
अन्तरद्दीवया तहा॥

अकर्म-भूमिक, कर्म-भूमिक और अन्त द्वीपक—ये तीन भेद गर्भ से मनुष्यो के हैं।

१९७ पन्नरस-तीसइ-विहा
भेया अट्ठवीसइ।
उ कमसो तेसि
इइ एसा वियाहिया॥

कर्म-भूमिक मनुष्यो के पन्द्रह, अकर्म भूमिक मनुष्यो के तीस, और अन्तर्द्वीपक मनुष्यो के अट्ठाईस भेद है।

१९८ समुच्छिमाण एसेव
भेओ होइ आहिओ।
लोगस्स एगदेसम्मि
ते वि वियाहिया ॥

सम्मूर्च्छिम मनुष्यो के भेद भी इसी प्रकार है। वे सब भी लोक के एक भाग मे व्याप्त है।

१९९ पप्पऽणाईया
अपज्जवसिया वि य।
ठिय पडुच्च साईया
सपज्जवसि वि य ॥

उक्त मनुष्य प्रवाह की अपेक्षा से अनादि है, स्थिति की अपेक्षा से सादि हैं।

२००. पलिओवमाइ तिण्णि उ
उक्कोसेण ठि हिया
आउट्ठिई
अन्तोमुहुत्त जहन्निया ॥

मनुष्यो की आयु-स्थिति तीन पल्योपम और जघन्य अन्तमुं हूर्त की है।

२०१. पलिओवमाइ तिण्णि उ
उक्कोसेण वियाहिया।
पुव्वकोडीपुहत्तेण
अन्तोमुहुत जहन्निया ॥

उत्कृष्टत पृथक्त्व करोड पूर्व अधिक तीन पल्योपम, और जघन्य अन्तर्मुहूर्त—

२०२ कायट्ठिई मणुयाण
तेसिम ।
अणन्तकालमुक्कोस
अन्तोमुहुत्त जहन्नय ॥

मनुष्यो की काय-स्थिति है उनका अन्तर्मुहूर्त और अनन्त का है।

२०३ एएसि वण्णओ चेव
गन्धओ रसफासओ।
सठाणादेसओ वावि
विहाणाइ सहस्ससो ॥

वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और सस्थान की अपेक्षा से उनके हजारो भेद हैं।

देवत्रस—

२०४. देवा चउव्विहा वुत्ता
ते मे कित्तयओ सुण।
भोमिज्ज-वाणमन्तर-
जोइस-वेमाणिया तहा ॥

भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक—ये देवो के चार भेद हैं।

२०५ दसहा उ भवणवासी
वणचारिणो ।
पचविहा जोइसिया
दुविहा वेमाणिया तहा ॥

भवनवासी देवो के दस, व्यन्तर देवो के आठ, ज्योतिष्क देवो के पाँच, और वैमानिक देवो के दो भेद है ।

२०६ असुरा -सुवण्णा
विज्जू अग्गी य आहिया ।
दीवोदहि-दिसा
थणिया सिणो ॥

असुर कुमार, नागकुमार, सुपर्णकुमार, विद्युत्कुमार, अग्निकुमार, द्वीपकुमार, उदधिकुमार, दिक्कुमार, वायुकुमार और स्तनितकुमार—ये दस भवनवासी देव हैं ।

२०७ ि - य
किंनरा य किंपुरिसा ।
महोरगा य गन्धव्वा
अट्ठविहा ॥

पिशाच, भूत, यक्ष, , किन्नर, किंपुरुष, महोरग और गन्धर्व—ये आठ देव हैं ।

२०८. सूरा य ता
गहा तहा ।
दिसाविचारिणो चेव
पचहा जोइस ॥

चन्द्र, सूर्य, , ग्रह और तारा—ये पाँच ज्योतिष्क देव है । ये दिशाविचारी अर्थात् मेरुपर्वत की प्रदक्षिणा करते हुए करने वाले ज्योतिष्क है ।

२०९ वेमाणिया उ जे देवा
दुविहा ते वियाहिया ।
कप्पोवगा य बोद्धव्वा
कप्पाईया तहेव य ॥

वैमानिक देवो के दो भेद है—कल्पोपग—कल्प से सहित और कल्पातीत—इन्द्रादि के रूप मे कल्प अर्थात् आचार-मर्यादा व -व्यवस्था वाले ।

२१० कप्पोवगा बारसहा
सोहम्मीसाणगा तहा ।
सणकुमार-माहिन्दा
बम्भलोगा य ॥

कल्पोपग देव के बारह प्रकार हैं—सौधर्म, ईशानक, सनत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्मलोक, —

२११. महासुक्का सहस्सारा
।
अच्चुया चेव
इइ कप्पोवगा सुरा ॥

महाशुक्र, सहस्रार, , प्राणत आरण और अच्युत—ये कल्पोपग देव है ।

२१२. कप्पाईया उ जे देवा
दुविहा ते वियाहिया ।
गेविज्जाऽणुत्तरा चेव
गेविज्जा नवविहा तहिं ॥

कल्पातीत देवों के दो भेद हैं—ग्रैवेयक और अनुत्तर । ग्रैवेयक नौ के हैं—

२१३. हेट्ठिमा-हेट्ठिमा चेव
हेट्ठिमा-मज्झिमा तहा ।
हेट्ठिमा-उवरिमा चेव
मज्झिमा-हेट्ठिमा तहा ॥

-अधस्तन, -मध्यम, -उपरितन, -अधस्तन—

२१४. मज्झिमा-मज्झिमा चेव
मज्झिमा-उवरिमा तहा ।
उवरिमा-हेट्ठिमा
उवरिमा-मज्झिमा ॥

-मध्यम, -उपरितन, उपरितन , उपरितन-मध्यम—

२१५. उवरिमा-उवरिमा चेव
गेविज्जगा सुरा ।
विजया वेजयन्ता य
अपराजिया ॥

और उपरितन-उपरितन—ये नौ ग्रैवेयक हैं ।
विजय, वैजयन्त, , अपराजित–

२१६ सव्वट्ठसिद्धगा चेव
पचहाऽणुत्तरा सुरा ।
वेमाणिया देवा
णेगहा एवमायओ ॥

और सर्वार्थसिद्धक—ये पाँच अनुत्तर देव हैं ।
इस वैमानिक देव अनेक के हैं ।

२१७. लोगस्स एगदेसम्मि
ते सव्वे परिकित्तिया ।
इत्तो कालविभाग तु
चउव्विहं ॥

वे सभी लोक के एक भाग मे हैं ।
इस निरूपण के बाद चार से उनके -विभाग का करूँगा ।

२१८ पप्पऽणाईया
अपज्जवसिया वि य ।
ठिइं साईया
सपज्जवसिया वि य ॥

वे प्रवाह की अपेक्षा से अनादि- हैं । स्थिति की अपेक्षा से सादि- हैं ।

२१९. साहियं उक्कोसेण भवे ।
भोमेज्जाण जहन्नेण
दसवाससहस्सिया ॥

भवनवासी देवो की आयु-स्थिति किंचित् अधिक एक सागरोपम की और दस हजार वर्ष की है ।

२२०. पलिओवममेग तु
उक्कोसेण ठिई भवे ।
जहन्नेणं
दसवाससहस्सिया ॥

देवो की आयु-स्थिति एक पल्योपम की, और दस हजार वर्ष की है ।

२२१. पलिओवम एग तु
वासलक्खेण साहियं ।
पलिओवमऽट्ठभागो
जोइसेसु जहन्निया ॥

ज्योतिष्क देवो की आयु-स्थिति एक लाख वर्ष अधिक एक पल्योपम की, और पल्योपमक का आठवां भाग है ।

२२२ दो
उक्कोसेण वियाहिया ।
सोहम्मंमि जहन्नेण
एगं च पलिओवमं ॥

सौधर्म देवो की आयु-स्थिति दो सागरोपम और एक पल्योपम है ।

२२३. साहिया दुन्नि
उक्कोसेण वियाहिया ।
ईसाणम्मि जहन्नेणं
साहियं पलिओवमं ॥

ईशान की आयु-स्थिति किंचित् अधिक सागरोपम, और जघन्य किंचित् अधिक एक पल्योपम है ।

२२४ सागराणि य व
कोसेण ठिई ।
सणकुमारे जहन्नेण
दुन्नि ऊ सागरोवमा ॥

सनत्कुमार देवो की आयु-स्थिति सात सागरोपम और जघन्य दो सागरोपम है ।

२२५ साहिया
उक्कोसेण ।
माहिन्दम्मि जहन्नेणं
साहिया दुन्नि ॥

माहेन्द्रकुमार देवो की आयु-स्थिति किंचित् अधिक सात सागरोपम, और किंचित् अधिक दो सागरोपम है ।

२२६ सागराइं
उक्कोसेण ठिई भवे।
ोए जहन्नेण
ऊ सागरोवमा॥

ब्रह्मलोक देवो की आयु-स्थिति दस सागरोपम और जघन्य सात सागरोपम है।

२२७. चउद्दस
उक्कोसेण ठिई भवे।
लन्तगम्मि जहन्नेण
ऊ सागरोवमा॥

लान्तक देवो की आयु-स्थिति चौदह सागरोपम, जघन्य दस सागरोपम है।

२२८. सागराइ
उक्कोसेण ठिई भवे।
महासुक्के न्नेणं
चउद्दस सागरोवमा॥

महाशुक्र देवो की आयुस्थिति सतरह सागरोपम, और चौदह सागरोपम है।

२२९. अट्ठारस सागराइं
उक्कोसेण ठिई भवे।
सहस्सारे जहन्नेण
सागरोवमा॥

सहस्रार देवो की ष्ट आयु-स्थिति अठारह सागरोपम, सतरह सागरोपम है।

२३०. अउणवीस तु
उक्कोसेण भवे।
आणयम्मि जहन्नेण
रोवमा॥

देवो की आयु-स्थिति उन्नीस सागरोपम, अठारह सागरोपम है।

२३१. वीस तु सागराइ
उक्कोसेण भवे।
पाणयम्मि जहन्नेण
सागरा अउणवीसई॥

देवो की आयु-स्थिति बीस सागरोपम और जघन्य उन्नीस सागरोपम है।

२३२. इक्कवीसं तु
उक्कोसेण भवे।
आरणम्मि ेणं
वीसई सागरोवमा॥

आरण देवो की आयु-स्थिति इक्कीस सागरोपम, बीस सागरोपम है।

२१९ साहियं एक्कं
उक्कोसेण ठिई भवे।
भोमेज्जाण जहन्नेण
दसवाससहस्सिया ॥

भवनवासी देवों की आयु-स्थिति किंचित् अधिक एक सागरोपम की और जघन्य दस हजार वर्ष की है।

२२० पलिओवममेगं तु
उक्कोसेण ठिई भवे।
जहन्नेण
दसवाससहस्सिया ॥

व्यन्तर देवों की आयु-स्थिति एक पल्योपम की, और जघन्य दस हजार वर्ष की है।

२२१. पलिओवम एगं तु
वासलक्खेण साहियं।
पलिओवमऽट्ठभागो
जोइसेसु जहन्निया ॥

ज्योतिष्क देवों की आयु-स्थिति एक लाख वर्ष अधिक एक पल्योपम की, और पल्योपमक का आठवाँ भाग है।

२२२ दो
उक्कोसेण वियाहिया।
सोहम्मम्मि जहन्नेण
एगं च पलिओवमं ॥

सौधर्म देवों की आयु-स्थिति दो सागरोपम और एक पल्योपम है।

२२३. साहिया दुन्नि
उक्कोसेण वियाहिया।
ईसाणम्मि जहन्नेण
साहियं पलिओवमं ॥

ईशान देवों की आयु-स्थिति किंचित् अधिक सागरोपम, और जघन्य किंचित् अधिक एक पल्योपम है।

२२४ सागराणि य ेव
उक्कोसेण ठिई भवे।
सणंकुमारे जहन्नेण
दुन्नि ऊ सागरोवमा ॥

सनत्कुमार देवों की उत्कृष्ट आयु-स्थिति सात सागरोपम और जघन्य दो सागरोपम है।

२२५ साहिया
उक्कोसेण ठिई भवे।
माहिन्दम्मि जहन्नेण
साहिया दुन्नि ॥

माहेन्द्रकुमार देवों की उत्कृष्ट आयु-स्थिति किंचित् अधिक सात सागरोपम, और जघन्य किंचित् अधिक दो सागरोपम है।

२२६. चेव सागराइ
उक्कोसेण ठिई भवे।
ाेए जहन्नेण
ऊ सागरोवमा ॥

ब्रह्मलोक देवो की आयु-स्थिति उत्कृष्ट दस सागरोपम और जघन्य सात सागरोपम है।

२२७ चउद्दस
उक्कोसेण ठिई भवे।
लन्तगम्मि जहन्नेण
ऊ सागरोवमा ॥

देवो की उत्कृष्ट आयु-स्थिति चौदह सागरोपम, जघन्य दस सागरोपम है।

२२८. सागराइं
उक्कोसेण ठिई भवे।
महासुक्के जहन्नेण
चउद्दस सागरो ॥

महाशुक्र देवो की आयुस्थिति सतरह सागरोपम, और चौदह सागरोपम है।

२२९. अट्ठारस सागराइं
उक्कोसेण ठिई भवे।
सहस्सारे जहन्नेणं
सागरोवमा ॥

सहस्रार देवो की उत्कृष्ट आयु-स्थिति अठारह सागरोपम, जघन्य सतरह सागरोपम है।

२३०. अउणवीस तु
उक्कोसेण भवे।
आणयम्मि जहन्नेण
सागरोवमा ॥

आनत देवो की आयु-स्थिति उन्नीस सागरोपम, अठारह सागरोपम है।

२३१. वीस तु सागराइ
उक्कोसेण भवे।
पाणयम्मि जहन्नेण
सागरा अउणवीसई ॥

देवो की आयु-स्थिति बीस सागरोपम और जघन्य उन्नीस सागरोपम है।

२३२ सागरा इक्कवीसं तु
उक्कोसेण ठिई भवे।
आरणम्मि ेण
वीसई सागरोवमा ॥

आरण देवो की आयु-स्थिति इक्कीस सागरोपम, जघन्य बीस सागरोपम है।

२३३ बावीस सागराइं
उक्कोसेण ठिई भवे।
अच्चुयम्मि जहन्नेण
सागरा इक्कवीसई ॥

अच्युत देवो की आयु-स्थिति उत्कृष्ट बाईस सागरोपम, जघन्य इक्कीस सागरोपम है।

२३४ तेवीस सागराइं
उक्कोसेण ठिई ।
पढमम्मि जहन्नेणं
बावीसं सागरोवमा ॥

ग्रैवेयक देवो की उत्कृष्ट आयु-स्थिति तेईस सागरोपम, जघन्य बाईस सागरोपम है।

२३५. चउवीस सागराइं
उक्कोसेण ठिई ।
बिइयम्मि जहन्नेण
तेवीसं सागरोवमा ॥

द्वितीय ग्रैवेयक देवो की आयु-स्थिति चौबीस सागरोपम, तेईस सागरोपम है।

२३६. पणवीस सागराइ
उक्कोसेण ठिई भवे।
म्मि जहन्नेण
चउवीस सागरोवमा ॥

तृतीय ग्रैवेयक देवो की आयु-स्थिति पच्चीस सागरोपम, जघन्य चौबीस सागरोपम है।

२३७. छव्वीस सागराइ
उक्कोसेण ठिई भवे।
चउत्थम्मि जहन्नेण
पणुवीसई ॥

चतुर्थ ग्रैवेयक देवो की आयु-स्थिति छब्बीस सागरोपम, जघन्य पच्चीस सागरोपम है।

२३८ सत्तवीस तु
उक्कोसेण ठिई ।
पंचमम्मि जहन्नेण
उ छवीसई ॥

पञ्चम ग्रैवेयक देवो की आयु-स्थिति सत्ताईस सागरोपम, जघन्य छब्बीस सागरोपम है।

२३९ अट्ठवीस तु
उक्कोसेण ठिई भवे।
छट्ठम्मि जहन्नेण
सत्तवीसई ॥

षष्ठ ग्रैवेयक देवो की उत्कृष्ट आयु-स्थिति अट्ठाईस सागरोपम, और जघन्य सत्ताईस सागरोपम है।

२४०. अउणतीस तु
उक्कोसेण ।
मम्मि जहन्नेणं
अट्ठवीसई ॥

ग्रैवेयक देवो की उत्कृष्ट आयु-स्थिति उनतीस सागरोपम, और जघन्य अट्ठाईस सागरोपम है।

२४१. तु
उक्कोसेण ठिई ।
अट्ठमम्मि जहन्नेण
अउणतीसई ॥

ग्रैवेयक देवो की उत्कृष्ट आयु-स्थिति तीस सागरोपम, और जघन्य उनतीस सागरोपम है।

२४२. इक्कतीस तु
उक्कोसेण भवे ।
नवमम्मि जहन्नेण
तीसई सागरोवमा ॥

ग्रैवेयक देवो की उत्कृष्ट आयु-स्थिति इकत्तीस सागरोपम, और तीस सागरोपम है।

२४३. तेत्तीस उ
उक्कोसेण ठिई ।
चउसु पि विजयाईसु
जहन्नेणेक्कतीसई ॥

विजय, वैजयन्त, और अपराजित देवो की आयु-स्थिति तैतीस सागरोपम, और इकत्तीस सागरोपम है।

२४४ अजहन्नमणुक्कोसा
तेत्तीस सागरोवमा ।
महाविमाण — सव्वट्ठे
ठिई एसा वियाहिया ॥

महाविमान सर्वार्थ-सिद्ध के देवो की -अनुत्कृष्ट अर्थात् न और न एक जैसी आयु-स्थिति तैतीस सागरोपम की है।

२४५ जा चेव उ आउठिई
देवाण तु वियाहिया ।
सा कायठिई
जहन्नुक्कोसिया भवे ॥

देवो की पूर्व-कथित जो आयु-स्थिति है, वही उनकी और काय-स्थिति है।

२४६ अणन्तकालमुक्कोस
अन्तोमुहुत्त जहन्नय ।
विजढमि सए काए
देवाण अन्तर ॥

देव के शरीर को छोडकर पुन देव के शरीर मे होने मे अन्तमुंहूर्त और - काल का है।

२४७. एएसि वण्णओ चेव
गन्धओ रसफासओ।
संठाणादेसओ वा वि
विहा सहस्सओ ॥

वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और सस्थान की अपेक्षा से उनके हजारो भेद होते हैं।

उपसहार—

२४८ य सिद्धा य
जीवा वियाहिया।
रूविणो चेवऽरूवी य
ीवा दुविहा वि य ॥

इस प्रकार ससारी और सिद्ध जीवो का व्याख्यान किया गया। रूपी और अरूपी के भेद से दो प्रकार के अजीवो का भी हो गया।

२४९. जीवमजीवे य
सोच्चा सद्दहिऊण य।
अणुमए
रमेज्जा सजमे मुणी ॥

जीव और अजीव के व्याख्यान को सुनकर और उसमे श्रद्धा करके ज्ञान एव क्रिया आदि सभी नयो से अनुमत सयम मे मुनि रमण करे।

२५० तओ बहूणि णि
सामण्णमणुपालिया।
इमेण कमजोगेण
अप्पाण सलिहे मुणी ॥

तदनन्तर अनेक वर्षों तक श्रामण्य का करके मुनि इस अनुक्रम से की सलेखना—विकारो से क्षीणता करे।

२५१. बारसेव उ
सलेहुक्कोसिया भवे।
मज्झिमिया
य जहन्निया ॥

सलेखना बारह वर्ष की होती है। एक वर्ष की, और जघन्य छह मास की है।

२५२. पढमे वासचउक्कम्मि
विगईनिज्जूहण करे।
बिइए उक्कम्मि
विचित्त तु तव चरे ॥

चार वर्षों मे दुग्ध आदि विकृतियो का निर्यूहण—त्याग करे, दूसरे चार वर्षों मे विविध प्रकार का तप करे।

२५३. एगन्तरमायाम
सवच्छरे दुवे।
तओ तु
नाइविगिट्ठ तव चरे ॥

फिर दो वर्षों तक एकान्तर तप (एक दिन और फिर एक दिन भोजन) करे। भोजन के दिन आयाम—आचाम्ल करे। उसके बाद ग्यारहवें वर्ष मे पहले छह महिनो तक कोई भी अतिविकृष्ट (तेला, चौला आदि) तप न करे।

२५४. तओ संवच्छरद्धं तु
विगिट्ठं तु तवं चरे।
परिमियं चेव आयामं
तंमि संवच्छरे करे॥

उसके बाद छह महिने तक विकृष्ट तप करे। इस पूरे वर्ष मे परिमित (पारणा के दिन) आचाम्ल करे।

२५५. कोडीसहियमायाम
कट्टु संवच्छरे मुणी।
मासद्धमासिएण तु
आहारेण तवं चरे॥

बारहवें वर्ष मे एक वर्ष तक कोटि-सहित अर्थात् निरन्तर आचाम्ल करके फिर मुनि पक्ष या एक मास का आहार से तप अर्थात् अनशन करे।

२५६ कन्दप्पमाभिओगं
किब्बिसियं मोहमासुरत्तं च।
एयाओ दुग्गईओ
मरणम्मि विराहिया होन्ति॥

कादर्पी, आभियोगी, किल्विषिकी, मोही और आसुरी भावनाएँ दुर्गति देने वाली है। ये मृत्यु के समय मे संयम की विराधना करती है।

२५७ मिच्छादंसणरत्ता
सनियाणा हु हिंसगा।
इय जे मरन्ति जीवा
तेसिं पुण दुल्लहा बोही॥

जो मरते समय मिथ्या-दर्शन मे अनुरक्त हैं, निदान से युक्त है और हिंसक है, उन्हे बोधि बहुत दुर्लभ है।

२५८. सम्मद्दंसणरत्ता
अनियाणा सुक्कलेसमोगाढा।
इय जे मरन्ति जीवा
सुलहा तेसिं भवे बोही॥

जो सम्यग्-दर्शन मे अनुरक्त है, निदान से रहित हैं, शुक्ल लेश्या मे अवगाढ-प्रविष्ट है, उन्हे बोधि सुलभ है।

२५९. मिच्छादंसणरत्ता
सनियाणा कण्हलेसमोगाढा।
इय जे मरन्ति जीवा
तेसिं पुण दुल्लहा बोही॥

जो मरते समय मिथ्या-दर्शन मे अनुरक्त है, निदान सहित हैं, कृष्ण लेश्या मे अवगाढ है, उन्हे बोधि बहुत दुर्लभ है।

२६०. जिणवयणे अणुरत्ता
जिणवयणं जे करेन्ति भावेण।
अमला असंकिलिट्ठा
ते होन्ति परित्तसंसारी॥

जो जिन-वचन मे अनुरक्त है, जिन-वचनो का भावपूर्वक आचरण करते हैं, वे निर्मल और रागादि से असंक्लिष्ट होकर परीतसंसारी (परिमित संसार वाले) होते है।

२४७ एएसि वण्णओ चेव
गन्धओ रसफासओ।
संठाणादेसओ वा वि
विहा सहस्सओ॥

वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और की अपेक्षा से उनके हजारो भेद होते हैं।

उपसहार—

२४८. य सिद्धा य
जीवा वियाहिया।
रूविणो चेवऽरूवी य
अजीवा दुविहा वि य॥

इस ससारी और सिद्ध जीवो का किया गया। रूपी और अरूपी के भेद से दो प्रकार के अजीवो का भी हो गया।

२४९ जीवमजीवे य
सोच्चा सद्दहिऊण य।
अणुमए
रमेज्जा सजमे मुणी॥

जीव और अजीव के को सुनकर और उसमे करके ज्ञान एव क्रिया आदि सभी नयो से अनुमत मे मुनि रमण करे।

२५०. तओ बहूणि णि
सामण्णमणुपालिया।
इमेण कमजोगेण
सलिहे मुणी॥

अनेक वर्षों तक का पालन करके मुनि इस अनुक्रम से की सलेखना—विकारो से क्षीणता करे।

२५१. बारसेव उ
संलेहुक्कोसिया भवे।
मज्झिमिया
य जहन्निया॥

सलेखना बारह वर्ष की होती है। एक वर्ष की, और छह मास की है।

२५२ पढमे वासचउक्कम्मि
विगईनिज्जूहण करे।
बिइए उक्कम्मि
विचित्त तु तव चरे॥

चार वर्षों मे दुग्ध आदि विकृतियो का निर्यूहण—त्याग करे, दूसरे चार वर्षों मे विविध का तप करे।

२५३. एगन्तरमायाम
सवच्छरे दुवे।
तओ तु
नाइविगिट्ठ तव चरे॥

फिर दो वर्षों तक एकान्तर तप (एक दिन और फिर एक दिन भोजन) करे। भोजन के दिन आयाम—आचाम्ल करे। उसके बाद ग्यारहवें वर्ष मे पहले छह महिनो तक कोई भी अतिविकृष्ट (तेला, चौला आदि) तप न करे।

२५४. तओ सवच्छरद्ध तु
विगिट्ठ तु चरे।
परिमिय चेव
तमि सवच्छरे करे ॥

उसके बाद छह महिने तक विकृष्ट तप करे। इस पूरे वर्ष मे परिमित (पारणा के दिन) आचाम्ल करे।

२५५. कोडीसहियमायामं
सवच्छरे मुणी।
मासद्धमासिएण तु
आहारेण चरे ॥

बारहवें वर्ष मे एक वर्ष तक कोटि-सहित अर्थात् निरन्तर आचाम्ल करके फिर मुनि पक्ष या एक मास का आहार से तप अर्थात् करे।

२५६. कन्दप्पमाभिओग
किब्बिसिय मोहमासुरत्त च।
एयाओ दुग्गईओ
मरणम्मि विराहिया होन्ति ॥

कादर्पी, आभियोगी, किल्विषिकी, मोही और आसुरी भावनाएँ दुर्गति देने वाली है। ये मृत्यु के समय मे की विराधना करती है।

२५७. मि
सनियाणा हु हिंसगा।
इय जे मरन्ति जीवा
तेसि पुण दुल्लहा बोही ॥

जो मरते समय मिथ्या-दर्शन मे अनुरक्त हैं, निदान से युक्त है और हिंसक हैं, उन्हे बोधि बहुत दुर्लभ है।

२५८ सम्मद्द
अनियाणा सुक्कलेसमोगाढा।
इय जे मरन्ति जीवा
सुलहा तेसि भवे बोही ॥

जो सम्यग्-दर्शन मे अनुरक्त है, निदान से रहित हैं, शुक्ल लेश्या मे -प्रविष्ट है, उन्हे बोधि सुलभ है।

२५९. मिच्छादसणरत्ता
सनियाणा कण्हलेसमोगाढा।
इय जे मरन्ति जीवा
तेसि पुण दुल्लहा बोही ॥

जो मरते समय मिथ्या-दर्शन मे अनुरक्त है, निदान सहित है, लेश्या मे है, उन्हे बोधि बहुत दुर्लभ है।

२६०. जिणवयणे अणुरत्ता
जिणवयण जे करेन्ति भावेण।
अमला असकिलिट्ठा
ते होन्ति परित्तससारी ॥

जो जिन-वचन मे अनुरक्त है, जिन-वचनो का भावपूर्वक आचरण करते है, वे निर्मल और रागादि से असक्लिष्ट होकर परीतससारी (परिमित ससार वाले) होते है।

२६१. बालमरणाणि बहुसो
अकाममरणाणि चेव य बहूणि ।
मरिहिन्ति ते
जिणवयण जे न जाणन्ति ॥

जो जीव जिन-वचन से अपरिचित है, वे बेचारे अनेक बार बाल-मरण तथा अकाम-मरण से मरते रहेगे ।

२६२ बहुआगमविन्नाणा
समाहिउप्पायगा य गुणगाही ।
एएण कारणेण
अरिहा आलोयण सोउ ॥

जा अनेक शास्त्रो के वेत्ता, आलोचना करने वालो को समाधि (चित्तस्वास्थ्य) करने वाले और गुणग्राही होते है, वे इसी कारण आलोचना सुनने मे समर्थ होते हैं ।

२६३. -कोक्कुयाइ
सील-सहाव-हास-विगहाहि ।
विम्हावेन्तो य पर
कुणइ ॥

जो कन्दर्प—कामकथा करता है, कौत्कुच्य—हास्योत्पादक कुचेष्टाएँ है, तथा शील, स्वभाव, हास्य और विकथा से दूसरो को हँ है, वह कादर्पी भावना का आचरण करता है ।

२६४. -जोग
भूईकम्म च जे पउजन्ति ।
-रस-इड्ढिहेउ
अभिओग भ ॥

जो सुख, घृतादि रस और समृद्धि के लिए मत्र, योग (चीजो को मिला कर किया जाने वाला तत्र) और भूति (भस्म आदि) कर्म का प्रयोग करता है, वह अभियोगी भावना का आचरण करता है।

२६५ केवलीणं
धम्मायरियस्स -साहूण ।
माई अवण्णवाई
किब्बिसिय कुणइ ॥

जो ज्ञान की, केवल-ज्ञानी की, धर्माचार्य की, सघ की तथा साधुओ की अवर्ण—निन्दा करता है, वह मायावी किल्बिषिकी भावना का आचरण करता है ।

२६६. अणुबद्धरोसपसरो
य निमित्त मि होइ पडिसेवी ।
एएहि कारणेहि
आसुरिय ॥

जो निरन्तर क्रोध को रहता है और निमित्त विद्या का प्रयोग करता है, वह इन कारणो से आसुरी भावना का आचरण है ।

२६७. सत्थग्गहणं विसभक्खणं च
 च जलप्पवेसो य ।
 —भण्डसेवा
 -मरणाणि न्ति ॥

जो से, विषभक्षण से,
अग्नि मे जलकर तथा पानी मे डूबकर
आत्महत्या है, जो साध्वाचार से
विरुद्ध —उपकरण है, वह
अनेक जन्म-मरणो का बन्धन है ।

२६८. पाउकरे
नायए परिनिव्वुए ।
छत्तीस उत्तरज्झाए
भवसिद्धीयसम्मए ॥
 —त्ति

इस भव्य-जीवो को अभिप्रेत
छत्तीस को—उत्तम
को कर बुद्ध, ज्ञातवंशीय,
भगवान् महावीर निर्वाण को प्राप्त हुए ।
—ऐसा मैं कहता हूँ ।

टिप्प

सिन्धु है, एक-एक से
दिव्यार्थों का रत्नाकर।
रत्नहेतु लो गहरी डुबकी,
मत तैरो ऊपर-ऊपर॥

—उपाध्याय अमरमुनि

१

गाथा १—सयोग का अर्थ आसक्तिमूलक सम्बन्ध है। वह वाह्य (परिवार तथा सपत्ति आदि) और आभ्यन्तर (विषय, आदि) के रूप मे दो प्रकार का है।

' भिक्खुणो'—मे अनगार और भिक्षु दो शब्द हैं। अनगार का अर्थ है—अगार (गृह) से रहित। शान्त्याचार्य ने अनगार के आगे षष्ठी विभक्ति का प्रयोग न कर 'अणगारस्सभिक्खुणो' इस सामासिक रूप देकर 'अणगार' और 'अस्सभिक्खु' ऐसा भी एक पदच्छेद किया है। अस्सभिक्खु अर्थात् अ-स्वभिक्षु, जो भिक्षु, आहार या वसति आदि की प्राप्ति के लिए जाति, कुल आदि का परिचय देकर दूसरो को अपनी ओर आकृष्ट कर आत्मीय (स्वजन) नही बनाता है।

विनय का एक अर्थ आचार है, और दूसरा है विनमन अर्थात् । 'विनम साधुजनासेवित , विनमन वा विनयम्'—शान्त्याचार्य कृत वृहद्वृत्ति।

गाथा २—आज्ञा और निर्देश समानार्थक है। फिर भी उत्तराध्ययन चूर्णि के अनुसार वैकल्पिक रूप मे आज्ञा का अर्थ होता है—' का उपदेश' और निर्देश का अर्थ होता है—'आगम से अविरुद्ध गुरुवचन।'

इ गित और शरीर की चेष्टाविशेषो के हैं। किसी कार्य के विधि या निषेध के लिए शिर आदि की सूक्ष्म चेष्टा इ गित है और इधर-उधर दिशाओ को देखना, जॅभाई लेना, आसन आदि स्थूल चेष्टाएँ 'आकार' है, जिनका फलितार्थ साधारण बुद्धि के लोग भी सकते हैं।

'सपन्ने' का अर्थ (युक्त) भी है और (जानने) भी। वृत्ति मे दोनो अर्थ हैं।

उत्तराध्ययन चूर्णि के मतानुसार 'कणकुण्डग' के दो अर्थ है—चावलो की भूसी अथवा चावलमिश्रित भूसी। यह पुष्टिकारक एव सूअर का प्रिय भोजन है। ' नाम , कुडगा कणमिस्सो वा कुडक'—चूर्णि।

गाथा १२—'गलियस्स' का अर्थ है—अविनीत घोडा। 'गलि'—अविनीत अर्थात् दुष्ट को कहते है। 'गलि –अविनीत '—बृहद् वृत्ति।

'आकीर्ण' विनीत और बैल को कहते है।

गाथा १८—कृति का अर्थ—वन्दन है। जो के योग्य हो, वह कृत्य अर्थात् गुरु एव आचार्य है।

गाथा १९—'पल्हत्थिय' और 'पक्खपिण्ड' के रूपान्तर है—पर्यस्तिका और पक्षपिण्ड। घुटनो और जघाओ को कपडे से बाँधकर बैठना, पर्यस्तिका है, और दोनो भुजाओ से घुटनो और जघाओ को आवेष्टित करके बैठना, पक्षपिण्ड है।

गाथा २६—चूर्णिकार 'समर' का अर्थ—लोहार की 'शाला' करते है, और शान्त्याचार्य नाई की दुकान, लोहार की तथा अन्य इसी प्रकार के साधारण निम्न करते हैं। 'समर' का दूसरा अर्थ—युद्ध भी किया गया है।

चूर्णि मे अगार का अर्थ—सूना घर है।

दो या बहुत घरो के बीच की जगह 'सधि' है। दो दीवारो के बीच के को भी सधि कहते है।

गाथा ३५—'अप्पपाण' और 'अप्पबीय' मे 'अल्प' शब्द अभाववाची है। 'अल्पा अविद्यमाना प्राणा प्राणिनो यस्मिस्तदल्पप्राणम्'—बृहद्वृत्ति।

गाथा ४७—'पुज्जसत्थे' का अर्थ 'पूज्यशास्त्र' किया जाता है। इसका दूसरा रूप 'पूज्यशास्ता' भी हो है। का अर्थ है—अनुशास्ता, आचार्य, गुरु।

कर्मसपदा के दो अर्थ ह—साधुओ के द्वारा समाचरित सामाचारी और योगज विभूति।

२

गाथा ३—'कालीपव्वगसकासे' मे 'कालीपव्व' का अर्थ—काकजघा नामक तृणविशेष है। मुनि श्री नथमलजी के मतानुसार इसे हिन्दी मे गु जा या घु घची का वृक्ष कहते है। डा० हर्मन जेकोबी तथा डा० साडेसरा आदि आधुनिक विद्वान् सीधा ही अर्थ 'कौए की जाघ' करते है।

गाथा १३—चूर्णि के अनुसार मुनि जिनकल्प मे अचेलक रहता है। स्थविरकल्प मे शिशिररात्र (पौष और माघ), वर्षारात्र (भाद्रपद और आश्विन), वर्षा बरसते समय तथा प्रात काल भिक्षा के लिए जाते समय रहता

है। इसके विपरीत दिन मे एव ग्रीष्म ऋतु आदि मे अचेलक। शान्त्याचार्य के मतानुसार जिनकल्पी मुनि अचेलक रहते हैं। स्थविरकल्पी भी प्ति के मे अचेलक रह है।

गाथा ३३—बृहद्वृत्ति के अनुसार जिनकल्पी मुनि के लिए चिकित्सा करना और सर्वथा निषिद्ध है। स्थविरकल्पी —पापकारी चिकित्सा न करे, न कराए। चूर्णिकार ने सामान्य रूप से सभी मुनियो के लिए चिकित्सा करने-कराने का निषेध किया है।

३९—चूर्णि के अनुसार 'अणु ाई' के दो रूप होते है—अणुकपायी—अल्पकषाय वाला और अनुत्कशायी—सत्कार-सम्मान आदि के लिए । न रखने ।

४३—आगमो का विधिवत् करते समय परम्परागत निश्चित विधि के अनुसार जो आयबिल आदि का तप किया जाता है, वह उपधान है। आचार-दिनकर तथा योगोद्वहनविधि आदि ग्रन्थो मे प्रत्येक आगम के लिए तप के दिन और तप की विधि का विस्तार से वर्णन है।

पडिमा—प्रतिमा का अर्थ—कायोसर्ग है।

३

गाथा ४—चूर्णि और बृहद्वृत्ति के अनुसार 'क्षत्रिय' शब्द से ब्राह्मण-वैश्य आदि उच्च जातियो, 'चाण्डल' शब्द से निपाद- आदि नीच जातियो और बुक्कस शब्द से सूत, वैदेह आदि सकीर्ण जातियो का ग्रहण होता है।

और श्वपचो के काम मनुस्मृति (१०, ५१-५२) के अनुसार गाँव से बाहर रहना, फूटे पात्रो मे भोजन करना, मृतक के वस्त्र लेना, लोहे के बने आभूषण पहनना आदि हैं। कुत्ते और गधे ही इनकी धन-सपत्ति हैं।

गाथा १४—यक्ष शब्द 'यज्' धातु से बना है, जो पहले अच्छे देव के अर्थ मे व्यवहृत होता था। बाद मे यह निम्न कोटि की देवजाति के लिए प्रयुक्त होने लगा।

'महासुक्क' के महासुक्ल और महाशुक्र दोनो रूप होते है। चन्द्र, सूर्य आदि कान्ति वाले ग्रह महासुक्ल कहलाते है और निर्धूम महान् अग्नि 'महाशुक्र।'

१५—'पूर्व' शब्द जैन-परम्परा मे एक विशेष का है। ८४ लाख को ८४ से गुणन करने पर जो होती है, वह पूर्व है। अर्थात् ७०

हजार करोड़ (७०,५६०००,०००,००००) वर्षों को पूर्व कहते है। बृहद्वृत्ति मे लिखा है—'पूर्वाणि—वर्ष सप्ततिकोटिलक्ष—षट् पंचाशत्कोटिसहस्रपरिमितानि।'

गाथा १७—उत्तराध्ययन सूत्र की आचार्य नेमिचन्द्र कृत 'सुखबोधा' वृत्ति के अनुसार 'कामस्कन्ध' का अर्थ होता है—"काम अर्थात् मनोज्ञ शब्द-रूपादि के हेतुभूत पुद्गलो का स्कन्ध—समूह। भोग-विलास के मनोज्ञ साधन।

'दास पोरुस' मे आए दास का अर्थ है—'वह गुलाम, जो खरीदा हुआ है,-जो क्रेता स्वामी की वैधानिक सपत्ति जाता है।' दास और कर्मकर अर्थात् नौकर मे यही अन्तर है कि दास खरीदा हुआ होने से स्वामी की सम्पत्ति है और कर्मकर वेतन लेकर अमुक समय तक काम करता है, फिर छुट्टी। उस पर काम कराने वाले स्वामी का खरीदने-बेचने जैसा कोई अधिकार नही होता।

सुप्रसिद्ध चूर्णिकार श्री जिनदास गणी की निशीथ चूर्णि (भा० ३ पृ० २६३, भा०गा० ३६७६) मे दस प्रकार के दास बताए है—(१) परम्परागत, (२) खरीदा हुआ, (३) कर्ज अदा न करने पर निगृहीत किया हुआ, (४) दुर्भिक्ष आदि होने पर भोजन-वस्त्र आदि के लिए दासत्व स्वीकार करने वाला, (५) किसी अपराध के कारण किया गया जुर्माना अदा न करने पर राजा द्वारा दास बनाया गया, (६) बन्दी के रूप मे जो दास बना लिया गया हो, वह।

मनुस्मृति (८।४१५) मे दासो के सात प्रकार बताए है—(१) ध्वजाहृत—सग्राम मे पराजित, (२) भक्त—भोजन आदि के लिए बना दास, (३) गृहज—अपने घर की दासी से उत्पन्न, (४) क्रीत—खरीदा हुआ, (५) दात्रिम—किसी के द्वारा उपहारस्वरूप दिया हुआ, (६) पैतृक—पैतृक धन के रूप मे पुत्र को प्राप्त, (७) दण्ड—ऋण चुकाने के लिए दासत्व स्वीकार करने ।

मनुस्मृति (८।४१६) मे दासो को 'अधन' गया है। दास जो भी धन सग्रह करते है, वह सब उनका होता है, जिनके वे दास होते हैं।

धर्मसाधना की फलश्रुति के रूप मे दासो की प्राप्ति का उल्लेख आध्यात्मिक एव सामाजिक न्याय की दृष्टि से उचित नही प्रतीत होता।

४

गाथा ६—'घोरा मुहुत्ता' मे मुहूर्त शब्द सामान्य रूप से समग्र काल का है। प्राणी की आयु हर क्षण क्षीण होती रहती है, इसलिए काल को घोर अर्थात् रौद्र कहा है।

भारण्ड पक्षी पौराणिक युग का एक विराट पक्षी माना गया है। पचतन्त्र आदि मे उसके दो ग्रीवा और एक पेट माना है—'एकोदरा पृथग् ग्रीवा'। कल्पसूत्र

की किरणावली टीका मे भी उसके दो मुख और दो जिह्वा होने का उल्लेख है।

अर्थ है कि दो ग्रीवा एव दो मुख होने से उसके आँख, कान आदि सब दो-दो हैं। जब वह एक ग्रीवा से भोजन है, तो दूसरी ग्रीवा को ऊपर किए हुए आँखो से देखता रहता है कि कोई मुझ पर तो नही करता है। इस दृष्टि से साधक को के लिए भारण्ड पक्षी की उपमा दी जाती है। कल्पसूत्र मे भगवान महावीर को भी अप्रमत्तता एव सतत जागरूकता के लिए भारड पक्षी की उपमा दी है। उक्त पक्षी का वर्णन वसुदेवहिण्डी आदि अनेक प्राचीन जैन-कथा-ग्रन्थो मे भी है।

५

गाथा २—' ' के दो प्रकार है— और सकाम। अकाम मरण वह है, जो व्यक्ति विषयो व भोगो की तमन्ना मे जीना ही चाहता है, मरना नही। वह हरक्षण मरण से रहता है। फिर भी आयुक्षय होने पर उसे लाचारी मे मरना होता है। बृहद् वृत्ति मे इसी भाव को इन शब्दो मे अभिव्यक्ति दी है—'ते हि विषया-भिष्वङ्गतो मरणमनिच्छन्त एव म्रियन्ते।' मरण कामनासहित मरण है। इसका यह अर्थ नही कि साधक मरने की कामना करता है। मरण की तो साधना का दोष है। इसका केवल इतना ही अभिप्रेत अर्थ है कि जो विषयो के प्रति रहता है, जीवन और मरण दोनो ही स्थितियो मे सम होता है, वह मरण काल के भयभीत एव नही होता, अपितु अपनी पूर्ण आध्यात्मिक तैयारी के साथ भाव से मृत्यु का स्वागत करता है। इस बाल मरण है, और पण्डित मरण।

गाथा १०—'दुहओ मल सचिणाइ सिसुनागुव्व मट्टिय' मे है कि जैसे शिशुनाग दोनो ओर से मिट्टी का सचय है, वैसे ही बाल-जीव भी दोनो ओर से का सचय है। चूर्णिकार ने दुहओ के स्वय पापाचार करना और दूसरो से कराना, मन और वाणी, राग और द्वेष, पुण्य और पाप आदि अनेक विकल्प किए है।

शिशुनाग गडूपद अर्थात् अलसिया को कहते है। वह मिट्टी मे मल का सचय करता है, और शरीर की स्निग्धता के कारण बाहर मे भी इधर-उधर रेंगते हुए अपने शरीर पर मिट्टी चिपका लेता है।

गाथा १३—जीवो की उत्पत्ति के तीन हैं—गर्भ, सम्मूर्च्छन और उपपात। गर्भ से पैदा होने वाले पशु, पक्षी और मनुष्य आदि गर्भज हैं। बिना गर्भ के

अशुचि स्थानो मे यो ही जन्म लेने वाले द्वीन्द्रिय आदि जीव सम्मूर्च्छनज है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति के जीव भी शास्त्रदृष्टि से सम्मूर्च्छनज ही माने जाते है। नारक और देव बिना गर्भ के अन्तर्मुहूर्त मात्र मे पूर्ण शरीर पा लेते हैं, अत उनका जन्म औपपातिक है। प्रस्तुत मे औपपातिक जन्म का उल्लेख इसलिए है कि नारक जीव गर्भ काल के अभाव मे उत्पन्न होते ही नरक की भयकर वेदनाओ को भोगने लगते हैं।

गाथा १६—'कलि' और 'कृत' जुए के दो प्रकार हैं। कलि हार का दाव है, और कृत जीत का। सूत्र के अनुसार कलि—एकक, द्वापर—द्विक, त्रेता—त्रिक और कृत—चतुष्क के रूप मे जुआ चार अक्षो से खेला जाता था। चारो पासे सीधे या ओधे एक से पडते है, वह कृत है। यह जीत का दाव है। एक, दो या तीन पडते हैं, सब नही, उन्हे कलि, द्वापर और त्रेता कहा है। छान्दोग्य उपनिषद् (४।१।४) मे 'कृत' जीत का दाव है। महाभारत (सभापर्व—५२।१३) मे सुप्रसिद्ध द्यूतविशेषज्ञ शकुनि को 'कृतहस्त' कहा है, जो सदैव कृत अर्थात् जीत का दाव खेलने मे सिद्धहस्त था।

गाथा १८—चूर्णिकार ने 'वुसीमओ' के 'वुसीम' शब्द के तीन अर्थ किए हैं—इन्द्रियो को वश मे रखने , साधुगुणो मे वसने और सविग्न। 'वुसीम' का स रूप वृषीमत् भी होता है, जिसका अर्थ होता है—वृषीवाला। अभिधान-चिन्तामणि (३।४८०) के अनुसार वृषी का अर्थ है—'मुनि का कुश आदि से निर्मित आसनविशेष। सूत्रकृताग (२।२।३२) मे श्रमणो के दण्ड, छत्र, भाण्ड तथा यष्टिका आदि उपकरणो मे एक 'भिसिग' उपकरण भी उल्लिखित है। सभव है, वह वृषी—वृषिक ही हो।

६

गाथा ७—'दोगुछी' का चूर्णिकार ने 'जुगुप्सी' अर्थ किया है। उनके मतानुसार जुगुप्सा का अर्थ है—सयम। से जुगुप्सा अर्थात् विरक्ति ही सयम है। —'दुगुछा—सजमो। किं दुगु ? ।'

गाथा १७—'नायपुत्ते' का अर्थ 'ज्ञातपुत्र' है, जो भगवान् महावीर का ही एक नाम है। चूर्णि मे स्पष्टार्थ है—'ज्ञातकुल मे प्रसूत सिद्धार्थ क्षत्रिय का पुत्र। 'णातकुलप्पसूते सिद्धत्थखत्तियपुत्ते।' यद्यपि आगम साहित्य मे भगवान् महावीर का वश और गोत्र है। वश के रूप मे 'ज्ञात' का उल्लेख नही है। अस्तु, है, इक्ष्वाकु वशी काश्यपगोत्रीय क्षत्रियो का ही ज्ञात भी एक शाखाविशेष हो। तत्कालीन वज्जी देश के लिच्छवियो के नौ गण थे। 'ज्ञात' उन्ही मे का एक भेद है। यह से सम्बन्धित क्षत्रिय जाति थी।

विद्वानो की दृष्टि मे 'ज्ञात' आज के विहार प्रदेश के 'भूमिहार' हैं। भूमिहार अपने को ब्राह्मण भी कहते है और क्षत्रिय भी। कुछ तो सीधा ही अपने को 'ब्राह्मण राजपूत' कह देते हैं।

भगवान् महावीर का विशाला अर्थात् वैशाली (उपनगर-कुण्डग्राम) मे जन्म होने से उन्हे वेसालिय-वैशालिक कहा है। यद्यपि चूर्णि एव टीकाओ मे, जिसके गुण विशाल हैं, जिसकी माता वैशाली है, जिसका कुल, एव शासन विशाल है, वह वैशालिक है—ऐसा कहा गया है। परन्तु इतिहास के मे 'वेसालिय' का वैशाली नगरी से है, यह प्रमाणित हो चुका है।

भगवान् महावीर की त्रिशला वैशाली गणराज्य के अधिपति की बहन थी, अत चूर्णिकार ने 'वैशाली जननी यस्य' ऐसा जो कहा है, सभव है, वह वैशाली की ओर ही सकेत हो।

७

१—'जवस' का सस्कृतरूप है। टीकाकार इसका अर्थ—मूग, उरद आदि करते हैं। जबकि अभिधानचिन्तामणि (४।२६१) आदि शब्द-कोशो मे का अर्थ—तृण, घास, गेहूँ आदि धान्य किया गया है।

गाथा १०—टीकाकारो ने आसुरीय दिशा के दो अर्थ किए हैं—एक तो जहाँ सूर्य न हो, वह दिशा। और दूसरा रौद्र कर्म करने वाले असुरो की दिशा। दोनो का ही फलितार्थ नरक है। ईशावास्य उपनिषद् मे भी आत्महन्ता जनो को अन्धतमस् से आवृत असुर्य लोक मे जाना है—'असुर्या नाम ते लोका, अन्धेन तमसावृता.।'

गाथा ११—चूर्णि के अनुसार 'काकिणी' एक अर्थात् रुपये के अस्सीवें भाग का जितना क्षुद्र सिक्का है। वृत्तिकार शान्त्याचार्य ने बीस कौडियो की एक काकिणी मानी है।

सहस्र से हजार 'कार्षापण' अभीष्ट है। कार्षापण प्राचीन युग मे एक बहु-प्रचलित सिक्का था, जो सोना, चाँदी और ताँबा—तीनो धातुओ का होता था। सामान्यत सोने का कार्षापण १६ , चाँदी का ३२ रत्ती और ताँबे का ८० रत्ती जितना भार होता था।

८

गाथा १२—'प्रान्त' निम्न स्तर का नीरस भोजन है। उसके सम्बन्ध मे दो बात हैं। गच्छवासी स्थविरकल्पी मुनि को यदि नीरस भोजन मिल जाए तो उसे नही, खाना ही चाहिए। जिनकल्पी मुनि के लिए सदैव प्रान्त भोजन का ही विधान है।

अशुचि स्थानो मे यो ही जन्म लेने वाले द्वीन्द्रिय आदि जीव सम्मूर्च्छनज हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति के जीव भी शास्त्रदृष्टि से सम्मूर्च्छनज ही माने जाते है। और देव बिना गर्भ के अन्तर्मुहूर्त मात्र मे पूर्ण शरीर पा लेते हैं, अत उनका जन्म औपपातिक है। प्रस्तुत मे औपपातिक जन्म का उल्लेख इसलिए है कि नारक जीव गर्भ काल के मे उत्पन्न होते ही नरक की भयकर वेदनाओ को भोगने लगते हैं।

गाथा १६—'कलि' और 'कृत' जुए के दो है। कलि हार का दाव है, और कृत जीत का। सूत्र कृताग के अनुसार कलि—एकक, —द्विक, त्रेता—त्रिक और कृत—चतुष्क के रूप मे जुआ चार अक्षो से खेला जाता था। चारो पासे सीधे या ओधे एक से पडते है, वह कृत है। यह जीत का दाव है। एक, दो या तीन पडते हैं, सब नही, उन्हे कलि, और त्रेता कहा जाता है। छान्दोग्य उपनिषद (४।१।४) मे 'कृत' जीत का दाव है। महाभारत (—५२।१३) मे सुप्रसिद्ध द्यूतविशेषज्ञ शकुनि को 'कृतहस्त' कहा है, जो सदैव कृत अर्थात् जीत का दाव खेलने मे सिद्धहस्त था।

गाथा १८—चूर्णिकार ने 'वुसीमओ' के 'वुसीम' शब्द के तीन अर्थ किए है—इन्द्रियो को वश मे रखने वाला, साधुगुणो मे बसने और सविग्न। 'वुसीम' *का सस्कृत रूप वृषीमत् भी होता है, जिसका अर्थ होता है—वृषीवाला।* अभिधान-चिन्तामणि (३।४८०) के अनुसार वृषी का अर्थ है—'मुनि का आदि से निर्मित आसनविशेष। सूत्रकृताग (२।२।३२) मे श्रमणो के दण्ड, छत्र, तथा यष्टिका आदि उपकरणो मे एक 'भिसिग' उपकरण भी उल्लिखित है। सभव है, वह वृषी—वृषिक ही हो।

६

गाथा ७—'दोगु छी' का चूर्णिकार ने 'जुगुप्सी' अर्थ किया है। उनके मतानुसार जुगुप्सा का अर्थ है—सयम। से जुगुप्सा अर्थात् विरक्ति ही सयम है। —'दुगु छा—सजमो। कि दुगु ? ।'

गाथा १७—'नायपुत्ते' का अर्थ 'ज्ञातपुत्र' है, जो भगवान् महावीर का ही एक नाम है। चूर्णि मे स्पष्टार्थ है—'ज्ञातकुल मे प्रसूत सिद्धार्थ क्षत्रिय का पुत्र। 'णातकुलप्पसूते सिद्धत्थखत्तियपुत्ते।' यद्यपि आगम साहित्य मे भगवान् महावीर का वश इक्ष्वाकु और गोत्र है। वश के रूप मे 'ज्ञात' का उल्लेख नही है। अस्तु, है, इक्ष्वाकु वशी काश्यपगोत्रीय क्षत्रियो का ही ज्ञात भी एक अवान्तर शाखाविशेष हो। तत्कालीन वज्जी देश के लिच्छवियो के नौ गण थे। 'ज्ञात' उन्ही मे का एक भेद है। यह गणराज्य से सम्बन्धित क्षत्रिय जाति थी।

विद्वानो की दृष्टि मे 'ज्ञात' आज के विहार प्रदेश के 'भूमिहार' हैं। भूमिहार अपने को ब्राह्मण भी कहते है और क्षत्रिय भी। कुछ तो मीधा ही अपने को 'ब्राह्मण राजपूत' कह देते है।

भगवान् महावीर का विशाला अर्थात् वैशाली (उपनगर-कुण्डग्राम) मे जन्म होने से उन्हे वेसालिय-वैशालिक कहा है। यद्यपि चूर्णि एव टीकाओ मे, जिसके गुण विशाल है, जिसकी माता वैशाली है, जिसका कुल, प्रवचन एव विशाल है, वह वैशालिक है—ऐसा कहा गया है। परन्तु इतिहास के आलोक मे 'वेसालिय' का वैशाली नगरी से है, यह प्रमाणित हो चुका है।

भगवान् महावीर की माता ि वैशाली गणराज्य के अधिपति की बहन थी, अत चूर्णिकार ने 'वैशाली जननी यस्य' ऐसा जो कहा है, सभव है, वह वैशाली की ओर ही सकेत हो।

७

गाथा १—'जवस' का है। टीकाकार इसका अर्थ—मूग, उरद आदि करते हैं। जबकि अभिधानचिन्तामणि (४।२६१) आदि शब्द-कोशो मे का अर्थ—तृण, घास, गेहूँ आदि धान्य किया गया है।

गाथा १०—टीकाकारो ने आसुरीय दिशा के दो अर्थ किए हैं—एक तो जहाँ सूर्य न हो, वह दिशा। और दूसरा रौद्र कर्म करने वाले असुरो की दिशा। दोनो का ही फलितार्थ नरक है। ईशावास्य उपनिषद मे भी आत्महन्ता जनो को अन्धतमस् से आवृत असुर्य लोक मे जाना है—'असुर्या नाम ते लोका, अन्धेन तमसावृताः।'

गाथा ११—चूर्णि के अनुसार 'काकिणी' एक अर्थात् रुपये के अस्सीवें भाग का जितना क्षुद्र सिक्का है। वृत्तिकार शान्त्याचार्य ने बीस कोडियो की एक काकिणी मानी है।

सहस्र से हजार 'कार्षापण' अभीष्ट है। कार्षापण प्राचीन युग मे एक बहु-प्रचलित सिक्का था, जो सोना, चाँदी और ताँबा—तीनो धातुओ का होता था। सामान्यत सोने का कार्षापण १६ , चाँदी का ३२ रत्ती और ताँबे का ८० रत्ती जितना भार होता था।

८

गाथा १२—'प्रान्त' निम्न स्तर का नीरस भोजन है। उसके सम्बन्ध मे दो बात हैं। गच्छवासी स्थविरकल्पी मुनि को यदि नीरस भोजन मिल जाए तो उसे फेंकना नहीं, ही चाहिए। जिनकल्पी मुनि के लिए सदैव प्रान्त भोजन का श्री- विधान है।

गाथा १५—स्थानाग सूत्र मे बोधि के तीन बताए है—ज्ञानबोधि, दर्शनबोधि और चारित्र बोधि।

६

गाथा ७—साधारण गृह होता है, और सात या उससे अधिक मजिलो का भवन कहलाता है। देवमन्दिर और राजभवन कहलाते है—"प्रासादेषु-सप्तभूम्यादिषु, गृहेषु सामान्यवेश्मसु। प्रासादो देवतानरेन्द्राणमिति व प्रासादेषु देवतानरेन्द्रसम्बन्धिभ्वास्पदेषु, गृहेषु तदितरेषु"—बृहद्वृत्ति।

गाथा ८—साध्य के मे जिसका निश्चित हो, उसे हेतु कहते है। रूपाकार इस प्रकार है। जैसे कि इन्द्र कहता है—तुम्हारा अभिनिष्क्रमण अनुचित है, क्योकि तुम्हारे अभिनिष्क्रमण के कारण समूचे नगर मे हृदयद्रावक कोलाहल हो रहा है। पहला अश प्रतिज्ञा वचन है, अत वह पक्ष है। और दूसरा, क्योकि हेतु है, जो अभिनिष्क्रमण के अनौचित्य को सिद्ध है।

जिसके अभाव मे कार्य की उत्पत्ति कथमपि न हो, अर्थात् जो नियत रूप से कार्य का पूर्ववता हो, उसे कारण कहते है। जैसे धूमरूप कार्य का अग्नि पूर्ववर्ती कारण है। प्रस्तुत मे इन्द्र ने जो यह कहा है कि 'यदि तुम अभिनिष्क्रमण नही करते, तो हृदयद्रावक कोलाहल नही होता। इसमे कोलाहल कार्य है, अभि निष्क्रमण है—"अनुचितमिद भवतोऽभिनिष्क्रमणमिति प्रतिज्ञा, आक्रन्दादि-शब्दहेतुत्वादिति। आक्रन्दादिदारुणशब्दहेतुत्व भवदभिनिष्क्रमणानुचितत्व विनाऽनुपपन्नमित्येतावन्मात्र कारणम्"—सुखबोधावृत्ति।

२४—'वर्धमान' वह घर होता है, जिसमे दक्षिण की ओर द्वार न हो। वर्धमान गृह धनप्रद एव क भी माना था। 'दक्षिणद्वाररहित धनप्रदम्'—वाल्मीक रामायण ५।८

गाथा ४२—मूल 'पोसह' शब्द के श्वेताम्बर साहित्य मे 'पोषध' तथा 'प्रोषध' दोनो है। दिगम्बर साहित्य मे इसे 'प्रोषध' और बौद्ध साहित्य मे 'उपोसथ' कहते है। बृहद्वृत्तिकार शान्त्याचार्य ने पोषध की व्युत्पत्ति की है—'धर्म के पोष अर्थात् पुष्टि को धारण करने व्रतविशेष'—'पोष धर्मपुष्टि ।'

यह का ग्यारहवाँ व्रत है। इसमे भगवतीसूत्र (१२।१) के अनुसार अश-नादि चार आहार का, तथा मणि, सुवर्ण, माला, , विलेपन और शस्त्र प्रयोग का किया जाता है। ब्रह्मचर्य का भी किया जाता है। भगवती (१२।१) के अनुसार शख के वर्णन पर से ज्ञात होता है कि , पान आदि आहार का

त्याग किए बिना भी पोषध किया था। स्थानाग सूत्र (४।३।३१४) के अनुसार पोषध की आराधना अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा, अमावस्या—इन पर्व दिनों मे की जाती है। स्थानाग (३।१।१५० तथा ४।३।३१४) मे 'पोषधोपवास' और 'परिपूर्ण पोषध'—ये दो शब्द मिलते है। पोषध (पर्व दिन) मे जो किया जाता है, वह 'पोषधोपवास' है। तथा पर्व तिथियो मे पूरे दिन और रात तक आहार, शरीर सस्कार आदि का परित्याग कर ब्रह्मचर्यपूर्वक जो धर्माराधना की जाती है वह 'परिपूर्ण पोषध' है।

दिगम्बर परम्परा के वसुनन्दि (२८०-२९४) मे उत्तम, मध्यम और के भेद से प्रोषध के तीन रूप बताए है। उत्तम प्रोषध मे चतुर्विध आहार का तथा मध्य मे जल को छोडकर शेष त्रिविध आहार का त्याग होता है। आयविल ( ), निर्विकृति, एक और एक भक्त को जघन्य प्रोषध कहते है।

बौद्ध परम्परा मे अगुत्तर निकाय (भा० १, पृ० २१२) के अनुसार प्रत्येक पक्ष की अष्टमी, चतुर्दशी और पचदशी (पूर्णिमा और) को उपोसथ होता है। उपोसथ मे प्राणियो की हिंसा, चोरी, मैथुन और मृषावाद का होता है। रात्रि मे भोजन नही किया जाता। दिन मे भी विकाल मे एक बार ही भोजन होता है। माला, गन्ध आदि का उपयोग नही किया जाता है।

'उपोसथ' मे 'उ' कार का लोप होने के बाद 'थ' को 'ह' हो जाने पर उच्चारणविज्ञान के अनुसार सहज ही का 'पोसहरूप' निष्पन्न हो है।

प्रस्तुत मे ब्राह्मणरूपधारी इन्द्र नमिराजर्षि से 'पोषध' करने की बात कहता है। अत स्पष्ट होता है कि वह जैन परम्परा के 'पोषध' का प्रयोग नही बता रहा है। ही वैदिक परम्परा मे भी किसी न किसी रूप मे 'पोषध' का प्रयोग उस युग मे होता होगा। उत्तर मे नमिराजर्षि ने इन्द्र-निर्दिष्ट उक्त तप को कहकर जो निषेध किया है, वह भी उक्त 'पोषध' को जैन परम्परा का सिद्ध नही करता है।

गाथा ४४—'कुसग्गेण तु भु जए' मे आए कुशाग्र के दो अर्थ होते है। एक तो वही प्रसिद्ध अर्थ है कि जितना कुश के अग्रभाग पर टिके, , अधिक नही। सुखबोधा वृत्ति मे दूसरा अर्थ है—कुश के से ही , अगुली आदि से नही—'कुशाग्रेणैव धर्माग्रेणैव भु क्ते, न तु करागुल्यादिभि ।'

गाथा ६०—सूत्र चूर्णि (पृ० ३६०) के अनुसार तीन शिखरो मुकुट और चौरासी शिखरो वाला सिरीड अर्थात् किरीट होता है। वैसे सामान्यतया मुकुट और किरीट—दोनो पर्यायवाची माने जाते है।

१०

गाथा २७—चरक सहिता (२०।६८) के अनुसार 'अरति' का एक अर्थ पित्तरोग भी है। प्रस्तुत मे शरीर के रोगो का ही वर्णन है, अत यह अर्थ भी सगत लगता है।

गाथा ३५—'कलेवर' का अर्थ शरीर है। मुक्त आत्माएँ शरीररहित होने से अकलेवर हैं। अकलेवरत्व स्थिति को प्राप्त कराने वाली विशुद्ध भावश्रेणी को श्रेणी कहते हैं। अर्थात् कर्मो का मूल से क्षय करने वाली आन्तरिक विशुद्ध विचारश्रेणी अर्थात् भावविशुद्धि की धारा।

११

गाथा २१—बृहद्वृत्ति के अनुसार वासुदेव के शख का नाम पाञ्चजन्य, चक्र का सुदर्शन और गदा का नाम कौमोदकी है। लोहे के दण्डविशेष को गदा कहते हैं।

गाथा २२—जिसके राज्य के उत्तर दिगन्त मे हिमवान् पर्वत और शेष तीन दिगन्तो मे समुद्र हो, वह 'चातुरन्त' कहाता है।

चक्रवर्ती के १४ रत्न इस प्रकार हैं—(१) सेनापति, (२) गाथापति, (३) पुरोहित, (४) गज, (५) अश्व, (६) मनचाहा भवन का निर्माण करने वाला वर्द्धकि अर्थात् बढई, (७) स्त्री, (८) चक्र, (९) छत्र, (१०) चर्म, (११) मणि, (१२) जिससे पर्वत शिलाओ पर लेख या अकित किए जाते है, वह काकिणी, (१३) और (१४) दण्ड।

गाथा २३—इन्द्र के सहस्राक्ष और पुरन्दर नाम वैदिक पुराणो के कथानको पर आधारित है। वृत्तिकार ने 'पुरन्दर' के लिए तो लोकोक्ति शब्द का प्रयोग किया ही है। चूर्णि मे सहस्राक्ष का प्रथम अर्थ किया है—'इन्द्र के पाँच सौ देव मन्त्री होते है। राजा मन्त्री की आँखो से देखता है, अर्थात् उनकी दृष्टि से अपनी नीति निर्धारित करता है, इसलिए इन्द्र सहस्राक्ष है। दूसरा अर्थ अधिक अर्थसगत है। जितना हजार आँखो से दीखता है, इन्द्र उससे अधिक अपनी दो आखो से देख लेता है, इसलिए वह सहस्राक्ष है। 'ज सहस्सेण दीसति, त सो दोहिं अक्खीहिं अब्भहियतराग पेच्छति'—चूर्णि। उक्त अर्थ वैसे ही अलकारिक है, जैसेकि चतुष्कर्ण अर्थात् चौकन्ना शब्द अधिक रहने के अर्थ मे प्रयुक्त होता है।

अध्ययन १२

गाथा १—सामान्यत का अर्थ लिया जाता है। किन्तु यह एक निम्न श्रेणी की नीच जाति थी। चूर्णि के अनुसार इस जाति मे कुत्ते का

मास पकाया जाता था। 'श्वेन ीति ।' की तुलना वाल्मीकि रामायण (१।५९।१९-२१) मे वर्णित मुष्टिक लोगो से होती है। ये श्वमासभक्षी, मुर्दे के वस्त्रो का उपयोग करने वाले, वीभत्स वाले एव दुराचारी होते थे।

११—यज्ञ का भोजन केवल ब्राह्मणो को ही दिया है, ब्राह्मणेतर दूसरे लोगो को नही, इसलिए यज्ञीय अन्न को 'एकपाक्षिक' कहा गया है।

१८—उपज्योतिष्क का अर्थ है—अग्नि के समीप रहने रसोइया।

चूर्णि मे दण्ड और फल का अर्थ कोहनी का प्रहार तथा एडी का प्रहार किया है। यह शब्द ऐसे ही लगते है, जैसे कल किसी को लात और घूसो से मारना।

२४—'वेयावडिय' की व्युत्पत्ति चूर्णिकार ने वडी ही महत्त्वपूर्ण की है। जिससे कर्मों का विदारण होता है, उसे 'वेयावडिय' कहते हैं—'विदारयति वेदारयति वा कर्म वेदावडिता।'

२७—'आशीविष' एक योगजन्य लब्धि अर्थात् विभूति है। आशीविष लब्धि के किसी का भी मनचाहा अनुग्रह और निग्रह करने मे हो है। वैसे आशीविष सर्प को भी कहते है। मुनि को छेडना, आशीविष सर्प को छेडना है।

१३

१—धर्माचरण के बदले मे भोग प्राप्ति के लिए किया जाने निदान है। यह आर्तध्यान का ही एक भेद है।

गाथा ६—चूर्णि और सर्वार्थ सिद्धि के अनुसार गगा प्रतिवर्ष अपना मार्ग बदलती रहती है। जो पहले का मार्ग छोड देती है, उस चिरत्यक्त मार्ग को मृतगगा कहते है।

१४

गाथा ८-९—मनुस्मृति (६।३७) कहती है—"जो वेदो को पढे बिना, पुत्रो को किए विना, और यज्ञ किए बिना मोक्ष चाहता है, वह अधोगति अर्थात् नरक मे है।"

—अनधीत्य वेदानुत्पाद्य तथा ।
अनिष्ट्वा चैव यज्ञैश्च मोक्षमिच्छन्व्रजत्यधः ॥

गाथा २१—अमोघ का शाब्दिक अर्थ व्यर्थ न होना है। जो चूकता नही है, वह अमोघ है। काल अमोघ है, जो किसी क्षण भी ठहरता नही है।

केवल रात्रि ही अमोघ नही है। से काल का हरक्षण अमोघ है।

१५

गाथा १—सस्तव के दो अर्थ है—स्तुति और परिचय। यहाँ परिचय अर्थ अभिप्रेत है। चूर्णि के अनुसार सस्तव के दो प्रकार है—सवास सस्तव और । असाधु जनो के साथ रहना 'सवास सस्तव' है, और उनके साथ सलाप करना 'वचनसस्तव' है। के लिए दोनो ही निषिद्ध है।

बृहद्वृत्ति मे आगे के २१वें अ की २१वी मे आए के दो प्रकार बताए है—पितृपक्ष का सम्बन्ध 'पूर्व सस्तव' और पश्चाद्भावी श्वशुरपक्ष एव मित्रादि का सम्बन्ध 'पश्चात्सस्तव' है।

गाथा ७—यहाँ दश विद्याओ का उल्लेख है। उनमे दण्ड, वास्तु और स्वर से सम्बन्धित तीनो विद्याओ को छोडकर शेष सात विद्याएँ निमित्त के अगो मे परिगणित है। अगविज्जा (१-२) के अनुसार अग, स्वर, , व्यजन, स्वप्न, छिन्न, भौम और अन्तरिक्ष—ये निमित्त हैं। उत्तराध्ययन की उक्त गाथा मे का उल्लेख नही है।

वस्त्र आदि मे चूहे या काटे आदि के द्वारा किए गए छेदो पर से शुभाशुभ का ज्ञान , छिन्न निमित्त है।

भूकम्प आदि के द्वारा, मे होने वाले बेमौसमी पुष्प-फल आदि से शुभाशुभ का ज्ञान करना, भौम निमित्त है। भूमिगत धन एव धातु आदि का ज्ञान करना भी 'भौम' है।

मे होने वाल गन्धर्व नगर, दिग्दाह और धूलिवृष्टि आदि तथा ग्रहयोग आदि से शुभाशुभ का ज्ञान करना, अन्तरिक्ष निमित्त है।

पर से शुभाशुभ का ज्ञान स्वप्न निमित्त है।

शरीर के तथा आँख आदि अगविकारो पर से शुभाशुभ का ज्ञान , क्रमश लक्षणनिमित्त और अग विकार निमित्त है।

दण्ड के गाठ आदि विभिन्न रूपो पर से शुभाशुभ का ज्ञान , दण्ड विद्या है।

मकानो के आगे-पीछे के विस्तार आदि लक्षणो पर से शुभाशुभ का ज्ञान करना, वास्तु-विद्या है।

, आदि सात कण्ठ स्वरो पर से शुभाशुभ का ज्ञान करना, स्वर विद्या है।

उक्त विद्याओ के प्रयोग से भिक्षा प्राप्त करना, भिक्षा का 'उत्पादना' एक दोष है।

८—'धूमनेत्त' को 'धूमनेत्र' के रूप मे एक सयुक्त शब्द माना है। जबकि टीकाकार धूम और नेत्र दो भिन्न शब्द मानते है। उनके मतानुसार धूम का अर्थ है—मन शिला आदि धूप से शरीर को धूपित करना, और नेत्र का अर्थ है—नेत्रसस्कारक आदि से नेत्र 'आजना'। सुप्रसिद्ध विचारक मुनिश्री नथमल जी अपने सपादित दशवैकालिक और उत्तराध्ययन मे धूमनेत्र का 'धुँए की नली से धुँआ लेना'—अर्थ करते है। उनके तर्क और उद्धरण है।

स्नान से यहाँ वह स्नानविद्या अभिप्रेत है, जिसमे पुत्र प्राप्ति के लिए मन्त्र एव औषधि से सस्कारित जल से स्नान कराया जाता है—'स्नानम्—'अपत्यार्थ मत्रौषधि-सस्कृतजलाभिषेचनम्'—बृहद्वृत्ति।

९—आवश्यकनिर्युक्ति (गा० १९८) के अनुसार भगवान् देव ने चार वर्ग स्थापित किये थे[1]—(१) उग्र—आरक्षक, (२) भोग—गुरुस्थानीय, (३) राजन्य—समवयस्क या मित्र स्थानीय, (४) क्षत्रिय—अन्य शेष लोग। इस से ध्वनित होता है कि लोगो को छोडकर अधिकाश जन क्षत्रिय ही थे।

भोगिक का अर्थ भी होता है। शान्त्याचार्य 'राजमान्य पुरुष' अर्थ करते हैं। नेमिचन्द्र ने सुबोधा मे 'विशिष्ट वेशभूषा का भोग करने वाले आदि' अर्थ किया है।

'गण' से अभिप्राय के लोगो से है। भगवान् महावीर के मे लिच्छवि एव आदि अनेक शक्तिशाली राज्य थे। वृज्जी मे ९ लिच्छवि और ९ मल्लकी—ये काशी-कौशल के १८ गण राज्य सम्मिलित थे। कल्पसूत्र मे इन्हे 'गणरायाणो' लिखा है। अतएव बृहद्वृत्ति मे भी उक्त की करते हुए शान्त्याचार्य लिखते हैं—'गणा मल्लादिसमूहा।

---

१ "उग्गा भोगा , खत्तिया सगहो भवे ।
-गुरु-वयसा, सेसा जे खत्तिया ते उ॥"

गाथा १४—शान्त्याचार्य की दृष्टि मे भयभैरव का अर्थ ' भय करने वाला' है। जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति सूत्र की टीका मे आकस्मिक भय को 'भय' और सिंह आदि से होने वाले भय को 'भैरव' कहा है।

गाथा १५—बृहद्वृत्ति मे 'खेद' का अर्थ है, और 'खेदानुगता' का अर्थ सयमी है।

दूसरो का न करने किसी को बाधा न पहुँचाने वाला 'अविहेटक' होता है।

१६

सूत्र ३—ब्रह्मचर्य के लाभ मे सन्देह होना 'शका' है। अब्रह्मचर्य—मैथुन की इच्छा 'काक्षा' है। अभिलाषा की तीव्रता होने पर चित्तविप्लव का होना, विचिकित्सा है। विचिकित्सा के तीव्र होने पर चारित्र का विनाश होना, 'भेद' है।

सूत्र ९—प्रणीत वह पुष्टिकारक भोजन है, जिससे घृत तथा तैल आदि की बूँदें टपकती हो। 'प्रणीत—गलत्स्नेह तैलघृतादिभि.'—उत्तराध्ययन चूर्णि।

१७

गाथा १५—विकृति और रस दोनो समानार्थक है। विकृति के नौ प्रकार हैं—दूध, दही, नवनीत, घृत, तैल, गुड, मधु, मद्य और मास।

गाथा १७—पाषण्ड का अर्थ व्रत है। जो व्रतधारी है, वह पाषण्डी है। परपाषण्ड से यहाँ अभिप्राय सौगत आदि अन्य मतो से है।

गाणगणिक का अर्थ है—जल्दी-जल्दी गण बदलने । जैन परम्परा की सघव्यवस्था है कि भिक्षु जिस गण (समुदाय) मे दीक्षित हो, उसी मे यावज्जीवन रहे। अध्ययन आदि विशिष्ट प्रयोजन से यदि गण बदले तो गुरु की से अपने साधर्मिक गणो मे जा सकता है। परन्तु दूसरे गण मे जाकर भी कम से कम छह महीने तक तो गण का पुन परिवर्तन नही किया जा । अत जो मुनि बिना कारणविशेष के छह मास के भीतर ही गण परिवर्तन करता है, वह गाणगणिक पापश्रमण है। 'गणाद् गण एव ोति णिक इत्यागमिकी परिभाषा'—बृहद्वृत्ति।

गाथा १९—सामुदानिक भिक्षा का अर्थ शान्त्याचार्य ने बृहद्वृत्ति मे दो प्रकार से किया हैं—(१) अनेक घरो से लाई हुई भिक्षा, और (२) अज्ञात —अर्थात् अपरिचित घरो से थोडी-थोडी लाई हुई भिक्षा। 'बहुगृहसम्बन्धित भिक्षासमूहम्-अज्ञातोञ्छमिति यावत्।'

१८

गाथा २०—क्षत्रिय मुनि का अपना मूल नाम क्या था, और वे कहाँ के निवासी थे, ऐसा नही गया है ।

गाथा २३—प्राचीन युग मे दार्शनिक विचारधारा के चार वाद थे—'क्रियावाद, अक्रियावाद, और विनयवाद ।'

(१) क्रियावादी आत्मा के अस्तित्व को तो मानते थे, पर उसके सर्व- या , कर्ता या ˝, मूर्त या अमूर्त आदि स्वरूप के सम्बन्ध मे संशयाकुल थे ।

(२) अक्रियावादी के अस्तित्व को ही नही मानते थे । अत उनके यहाँ पुण्य, पाप, लोक, परलोक, और मोक्ष आदि की कोई भी मान्यता नही थी । यह प्राचीन युग की नास्तिक परम्परा है ।

(३) अज्ञानवादी अज्ञान से ही सिद्धि मानते थे । उनके मत मे ज्ञान ही सारे पापो का मूल है । द्वन्द्व ज्ञान मे से ही खडे होते है । ज्ञान के सर्वथा उच्छेद मे ही उनके यहा मुक्ति है ।

(४) विनयवादी एकमात्र विनय से ही मुक्ति मानते थे । उनके विचार मे देव, , राजा, रक, तपस्वी, भोगी, हाथी, घोडा, गाय, भैस, श्रृगाल आदि हर किसी मानव एव पशु-पक्षी आदि को श्रद्धापूर्वक नमस्कार करने से ही क्लेशो का नाश होता है । अहकारमुक्ति का यह एक विचित्र धार्मिक अभियान था ।

क्रियावादियो के १८०, अक्रियावादियो के ८४, अज्ञानवादियो के ६८ और विनयवादियो के ३२ भेद थे । इस कुल मिला कर ३६३ पाषण्ड थे ।

२८—महाप्राण, ब्रह्मलोक पाँचवें देवलोक का एक विमान है ।

क्षत्रिय मुनि के कहे हुए 'दिव्यवर्षशतोपम' का यह अभिप्राय है कि जैसे मनुष्य यहाँ वर्तमान मे लोकदृष्टि से सौ वर्ष की पूर्ण आयु भोगता है, वैसे ही मैंने वहाँ देवलोक मे दिव्य सौ वर्ष की आयु का भोग किया है । इस की वैदिक पुराणो के के दीर्घकालिक वर्ष आदि से तुलना की जा सकती है ।

'पाली' से पल्योपम और 'महापाली' से सागरोपम अर्थ अभीष्ट है । 'पाली' साधारण से उपमित है, और 'महापाली' सागर से ।

एक योजन के ऊँचे और विस्तृत पल्य (बोरा आदि या कूप) को सात दिन के जन्म लिए के केशाग्रो से भर दिया जाए, अनन्तर सौ-सौ वर्ष के

बाद क्रम से एक-एक केशखण्ड को निकाला जाए। जितने काल मे वह पल्य अर्थात् कूप रिक्त हो, उतने काल को एक पल्य कहते है। इस प्रकार के दस कोडाकोडी पल्यो का एक सागर होता है। सागर अर्थात् समुद्र के जलकणो जितना विराट कालचक्र। यह एक उपमा है, अत उसे पल्योपम और सागरोपम भी कहते है।

गाथा ५१—'सिरसा सिर'[1] का अर्थ है—शिर देकर शिर लेना। अर्थात् जीवन की कामना से निरपेक्ष रहकर मानवशरीर मे सर्वोपरिस्थ शिर के समान सर्वोपरिवर्ती मोक्ष को प्राप्त करना।[2] 'सिर' के स्थान मे 'सिरि' पाठ भी मिलता है, ि अर्थ 'श्री' होता है। 'श्री' अर्थात् भावश्री—सयम, सिद्धि।

अध्ययन १६

गाथा २—मृगापुत्र का मूल नाम बलश्री था। माता मृगा का पुत्र होने के नाते उसे मृगापुत्र भी कहते थे। प्राचीन युग मे बहुविवाह की प्रथा होने के कारण पुत्रो के नाम पहचानने की दृष्टि से माता के नाम पर प्रचलित हो जाते थे, जैसे कि पृथा का पुत्र पार्थ, सुभद्रा का सौभद्रेय, द्रौपदी का द्रौपदेय, आदि।

गाथा ३—त्रायस्त्रिश जाति के देवो को 'दोगुन्दुग' कहते हैं। ये जैन और बौद्ध परम्परा मे बडे ही महत्त्व के देव माने गए है। शान्त्याचार्य ने पुराने आचार्यो का देते हुए उन्हे सदा भोगपरायण कहा है। **'तथा च वृद्धा-'त्रायस्त्रिशा नित्य भोगपरायणा दोगुन्दुगा इति भणति।'**

गाथा ४—चन्द्रकान्त, सूर्यकान्त आदि मणि कहलाते है, और शेष गोमेदक आदि रत्न।

गाथा १४—अत्यन्त बाधा करने वाले कुष्ठ आदि रोग व्याधि कहे जाते है। और इनसे भिन्न ज्वर आदि रोग हैं। **"व्याधय—अतीव बाधाहेतव कुष्ठादयो, रोगा** '—बृहद्वृत्ति।

गाथा १७—'किम्पाक' एक विष वृक्ष होता है। उसके फल खाने मे सुस्वादु होते है, किन्तु परिपाक मे भयकर कटु अर्थात् । किंपाक का शब्दार्थ ही है—'किम्' अर्थात् कुत्सित-बुरा 'पाक' अर्थात् विपाक-परिणाम है जिसका।

गाथा ३६—सामान्यतया जैन मुनियो की भिक्षा के लिए गोचर (गोचरी) शब्द का प्रयोग होता है। यहाँ कापोती वृत्ति का उल्लेख है। कबूतर भाव से

---

१ शिरसा शिर प्रदानेनेव जीवितनिरपे । सिर ति शिर इव शिर सर्वजगदुपरिव मोक्ष '—बृहद्वृत्ति।

२ 'शिरसा मस्तकेन 'अत्यादरख्यापकमेतत्, भावश्रिय सृतीयभवे परिनिवृ'त इति''—सर्वार्थसिद्धि वृत्ति।

बड़ी के साथ एक-एक दाना चुगता है, इसी प्रकार एषणा के दोषों की को मे रखते हुए भिक्षु भी थोडा-से-थोडा आहार अनेक घरो से ग्रहण है। महाभारत के शान्ति पर्व (२४३-२४) मे भी कापोती वृत्ति का उल्लेख है।

४६—ससार रूपी अटवी के नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव—ये चार अन्त होते है, अत आगमो मे ससार को 'चाउरत' कहा गया है।

गाथा ४९—आगमानुसार नरक और स्वर्ग मे बादर अग्नि के जीव नही होते है। प्रस्तुत मे जो हुताशन—अग्नि का उल्लेख है, वह अग्नि जैसे जलते हुए प्रकाशमान अचित्त पुद्गलो के लिए है। अतएव बृहद्वृत्तिकार ने लिखा है—'तत्र च बादराग्नेर-भावात् पृथिव्या एव तथाविध इति गम्यते।'

५४—'कोलसुणएहिं' मे 'कोलशुनक' शब्द को एक मानकर शान्त्याचार्य ने अर्थ शूकर किया है। किन्तु 'कोल' शब्द अकेला ही शूकर का है। अत आगे के 'शुनक' शब्द का शब्दानुसारी 'कुत्ता' अर्थ क्यो न लिया जाए।

२०

गाथा ७—प्राचीन युग मे सर्वप्रथम देव एव पूज्य गुरुजनो को उनके चारो ओर घूमकर प्रदक्षिणा की जाती थी। दाहिनी ओर से घूमना शुरू करते थे, जैसाकि कहा है—'आयाहिण पयाहिण करेइ।' प्रदक्षिणा के अनन्तर किया जाता है। प्रस्तुत मे पहले है, प्रदक्षिणा बाद मे है। सम्भव है, यह अन्तर छन्द रचना की विवशता के केवल के शब्दो मे ही हो, विधि मे नही। वैसे शान्त्याचार्य ने किया है कि पूज्य आत्माओ को देखते ही उन्हे करना है। इसलिए यहाँ प्रदक्षिणा का उल्लेख बाद मे है।

गाथा ९—बृहद्वृत्ति के अनुसार नाथ का अर्थ 'योगक्षेमविधाता' है। की प्राप्ति योग है, और प्राप्त का क्षेम है।

गाथा २२—शान्त्याचार्य ने सत्थकुसल' के दो रूपान्तर किए है—शास्त्रकुशल (आयुर्वेद के मर्मज्ञ विद्वान्) और शस्त्रकुशल (शल्यक्रिया अर्थात् दूषित अगो की चीर-फाड आदि क्रिया मे निपुण)।

गाथा २३—चतुष्पाद चिकित्सा का उल्लेख स्थानाग सूत्र मे भी आता है। 'चउव्विहा तिगिच्छा , त -विज्जो, ओसधाइ, आउरे, परिचारते।'

अ० २१

गाथा २—"भगवान् महावीर के भी व्यापार के लिए सुदूर द्वीपो की समुद्रयात्रा करते थे।"—यह प्रस्तुत गाथा पर से सूचित होता है। इतना ही नही, विदेशी कन्याओ से विवाहसम्बन्ध भी उस निषिद्ध नही था।

पालित निर्ग्रन्थ का कोविद ही नही, विकोविद था, अर्थात् विशिष्ट विद्वान् था।

अ २२

गाथा ५—प्रवचन सारोद्धार वृत्ति (पत्र ४१०-११) मे है कि "शरीर के साथ होने वाले छत्र, चक्र, अकुश आदि रेखाजन्य चिह्न कहे जाते हैं। साधारण मनुष्यो के शरीर मे ३२, बलदेव-वासुदेव के १०८ और चक्रवर्ती तथा तीर्थंकर के १००८ होते है।" आजकल गुरुजनो के नाम से पूर्व १०८ या १००८ श्री का प्रयोग इन्ही लक्षणो का सूचक है।

गाथा ६—शरीर के सन्धिअगो की दोनो हड्डिया परस्पर आटी लगाए हुए हो, उन पर तीसरी हड्डी का वेष्टन—लपेट हो, और चौथी हड्डी की कील उन तीनो को भेद रही हो, इस का वज्र जैसा सुदृढ अस्थिबन्धन 'वज्र-ऋषभ-नाराच' सहनन है।

पालथी मार कर बैठने पर जिस व्यक्ति के चारो कोण सम हो, वह 'सम-चतुरस्र' सर्वश्रेष्ठ सस्थान है।

गाथा ८९—प्राचीनकाल मे अन्तरीय—नीचे पहनने के लिए धोती और उत्तरीय—ऊपर ओढने के लिए चादर, ये दो ही वस्त्र पहने जाते थे। 'दिव्य युगल' उसी का सकेत है।

गाथा १०—गन्धहस्ती सब हाथियो मे श्रेष्ठ होता है। इसकी गन्ध से अन्य हाथी हतप्रभ—निर्वीर्य हो जाते है, भयभीत होकर भाग खडे होते हैं।

गाथा ११—समुद्रविजय, अक्षोभ्य, वसुदेव आदि दस भाई थे। उनके समूह को 'दसार चक्र' कहते थे। दसार के 'दसार' और 'दशार्ह'—दोनो रूप मिलते हैं।

गाथा १३— और वृष्णि दो भाई थे। वृष्णि अरिष्ट नेमि के पितामह अर्थात् दादा होते थे। इनसे 'वृष्णिकुल' का प्रवर्तन हुआ। दशवैकालिक आदि के अनुसार दोनो भाइयो के नाम से 'अन्धक वृष्णिकुल' भी प्रसिद्ध था।

४३—भोजराज उग्रसेन का ही दूसरा नाम है। कीर्तिराज (वि० १४९५ पूर्वेती) ने भी अपने नेमिचरित मे उग्रसेन को भोजराज और राजीमती को भोजपुत्री तथा भोजराजपुत्री कहा है। कुछ प्रतिया मे 'भोगराज' पाठ भी है, जो सगत नही प्रतीत होता।

अ० २३

गाथा २—केशी कुमारश्रमण थे। अविवाहित ही हो गए थे। शान्त्याचार्य बृहद्वृत्ति मे कुमारश्रमण का यही अर्थ करते हैं। "कुमारश्चाऽसावपरिणी ।"

गाथा १२—जैन परम्परा के अनुसार तीर्थंकर भगवान् ऋषभ देव ने अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहरूप पाँच महाव्रतो का उपदेश दिया था। दूसरे अजित जिन से लेकर तेईसवें पार्श्व जिन तक चातुर्याम धर्म का उपदेश रहा। इसमे ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को 'बहिद्धादाणाओ वेरमण'—बहिस्ताद आदान विरमण (बाह्य वस्तुओ के ग्रहण का त्याग) मे समाहित कर दिया गया था। अजित जिन ने ऋषभदेव से पाँच महाव्रतो को इस चतुर्याम मे क्यो परिवर्तित किया, यह अभी ऐतिहासिक मीमासा से ठीक तरह नही हो पाया है। इतिहास की आखो मे अभी यह पार्श्व परम्परा ही देखी गई है। प्रस्तुत अध्ययन मे पार्श्व के चार महाव्रतो को 'याम' शब्द से और वर्धमान महावीर के पाँच महाव्रओ को 'शिक्षा' शब्द से सूचित किया है। यह भी एक रहस्य है।

भगवान् पार्श्व नाथ ने मैथुन को परिग्रह के अन्तर्गत माना था। स्त्री को परिगृहीत किए विना मैथुन कैसे होगा ?[1] इसीलिए पत्नी के लिए 'परिग्रह' भी प्रचलित रहा है। यह एक नैतिक आदर्श को पवित्र धारणा है। इस दृष्टि से पार्श्व जिन ने भिक्षु के लिए ब्रह्मचर्य को अलग से स्थान नही दिया। वह सामान्यत अपरिग्रह मे ही अन्तर्भुक्त कर दिया गया था।

है, पार्श्वजिन के बाद कुतर्क खडे हुए होगे कि स्त्री को विवाह के रूप मे परिगृहीत किए विना भी उसकी पर यदि समागम किया जाए तो क्या हानि है ? अपरिगृहीता के समागम का तो कोई निषेध नही है ? सूत्र (१, ३, ४,१०, ११, १२) मे ऐसे ही कुछ तर्कों का उल्लेख मिलता है। इन्हे सूत्रकृताग मे पार्श्वस्थ गया है। वृत्तिकार ने उन्हे स्वयूथिक भी कहा है। श्रमण भगवान्

१ नो अपरिग्गहियाए इत्थीए जेण परिभोगो ।
ता तव्विरई अबभविरइ त्ति ॥
—कल्पसमर्थनम् गा० १५

महावीर ने ब्रह्मचर्य को महाव्रत के रूप मे अलग से स्थान देकर प्रचलित मिथ्या भ्रमो एव कुतर्कों का निराकरण किया। इसीलिए उन्हे सूत्रकृताग (१।६।२८) मे 'से वारिया इत्थिसराइभत्त'—अर्थात् स्त्री और रात्रि भोजन का निवारण करने कहा है। काल की बदलती परिस्थिति मे ऐसा करना आवश्यक हो गया था। अत गणधर गौतम इसके लिए अपने युग को जड और वक्र कहकर समाधान प्रस्तुत करते हैं। इसका अर्थ यह है कि जडता तथा के जीवन मे ही क्रियाकाण्ड के नियमो तथा तत्सम्बन्धी व्याख्याओ का विस्तार होता है, सरल और प्राज्ञ जीवन मे नही।

गाथा १३—'अचेल' के दो अर्थ है—बिल्कुल ही वस्त्र न रखना, अथवा अल्प मूल्य वाले साधारण श्वेत वस्त्र रखना। 'अ' का अभाव अर्थ भी है, और अल्प भी। जैसे कि अनुदरा कन्या के प्रयोग मे 'अनुदरा' का अर्थ 'बिना पेट की कन्या' नही, अपितु अल्प अर्थात् कृश उदर वाली कन्या है। विष्णुपुराण मे भी जैन मुनियो के निर्वस्त्र और सवस्त्र—दोनो ही रूपो का उल्लेख है—'दिग्वाससामय धर्मो, धर्मोऽय बहुवाससाम्'—अश ३, य १८, श्लोक १०

'सान्तरोत्तर' मे सान्तर और उत्तर—ये दो शब्द हैं। त्तिकार शात्याचार्य सान्तर और उत्तर का वर्ण आदि से विशिष्ट सुन्दर और बहुमूल्य अर्थ करते हैं। ओघनिर्युक्ति-वृत्ति, कल्प सूत्रचूर्णि और धर्म सग्रह आदि के अनुसार बाल, वृद्ध, ग्लान आदि के निमित्त भिक्षा के लिए वर्षा होते रहने पर भी भिक्षु को बाहर जाना होता है, तब अन्दर मे सूती वस्त्र और ऊपर मे वर्षाकल्प ऊनी वस्त्र—कम्बल आदि ओढकर जाना चाहिए, यह अर्थ होता है। प्रस्तुत मे अचेल-सचेल की चर्चा है, अत सान्तरोत्तर' का शब्दानुसारी प्रतिध्वनित अर्थ 'अन्तरीय'—अधोवस्त्र और 'उत्तरीय' ऊपर का वस्त्र भी लिया जा है।

गाथा १७—प्रवचनसारोद्धार (गा० ६७५) के अनुसार तृणो के पाँच प्रकार है—(१) शाली—कमलशाली आदि विशिष्ट चावलो का , (२) व्रीहिक—साठी चावल आदि का पलाल, (३) कोद्रव—कोदो धान्य का पलाल, (४) रालक—कगु अर्थात् कागनी का , और (५) अरण्य तृण— क अर्थात् समा चावल आदि का पलाल। उत्तराध्ययन में पाचवा 'कुश' को गिना है।

गाथा ८९—उक्त अन्तिम गाथा के उत्तरार्ध का अधिकतर टीकाकार यह अर्थ करते है कि 'परिषद् के द्वारा स्तुति किए गए भगवान् केशी और गौतम प्रसन्न हो।' लगता है, यह अर्थ अध्ययन के रचनाकार की दृष्टि से है। यह सभव भी है।

अध्ययन २४

गाथा ३—यहाँ पाँच समिति और तीनगुप्ति—इन ` को ही समिति कहा है। प्रश्न है, ऐसा क्यो ? शात्याचार्य ने समाधान प्रस्तुत किया है कि गुप्तियाँ प्रवीचार और अप्रवीचार दोनो रूप होती है, अर्थात् एकान्त निवृत्तिरूप ही नही, प्रवृत्तिरूप भी होती हैं, अत प्रवृत्ति अश की अपेक्षा से उन्हे भी समिति कह दिया है । समिति मे नियमत गुप्ति होती है, क्योकि उसमे शुभ मे प्रवृत्ति के साथ जो अशुभ से निवृत्तिरूप अश हैं, वह नियमत गुप्ति का अश ही है । गुप्ति मे प्रवृत्तिप्रधान समिति की है।

२५

गाथा १६—पूछे गए चार प्रश्नो के उत्तर इस प्रकार हैं—

(१) वेदो का मुख अर्थात् सारभूत प्रतिपाद्य अग्निहोत्र है। अग्निहोत्र का हवन आदि प्रचलित अर्थ विजयघोष को ज्ञात ही था। किन्तु विजय घोष, जय घोष मुनि से मालूम करना चाहता था कि उनके अभिमत मे अग्निहोत्र क्या है ? मुनि का अग्निहोत्र एक अध्यात्म भाव है, जिसमे तप, , स्वाध्याय, धृति, सत्य और अहिंसा आदि का समावेश होता है। यह भाव अग्निहोत्र ही जयघोषमुनि ने विजयघोष को है। इसी अग्निहोत्र मे मन के विकार स्वाहा होते है।

(२) दूसरा प्रश्न है—यज्ञ का मुख—उपाय (प्रवृत्तिहेतु) क्या है ? उत्तर मे यज्ञ का मुख अर्थात् यज्ञार्थी गया है। यह भी अपनी परम्परा के प्रचलित अर्थ मे विजय घोष जानता ही था। मुनि ने आत्मयज्ञ के सन्दर्भ मे अपने बहिर्मुख इन्द्रिय और मन को से हटाकर सयम मे केन्द्रित करने वाले को ही यज्ञार्थी (याजक) है।

(३) तीसरा प्रश्न कालज्ञान से सम्बन्धित है । स्वाध्याय आदि समयोचित कर्त्तव्य के लिए काल का ज्ञान श्रमण और ब्राह्मण दोनो ही परम्पराओ के लिए था। और वह ज्ञान स्पष्टत नक्षत्रो से होता था। चन्द्र की हानि-वृद्धि से तिथियो का बोध अच्छी तरह हो जाता था। अत मुनि ने ठीक ही उत्तर दिया है कि नक्षत्रो मे मुख्य है। इस उत्तर की तुलना गीता (१०।२१) से की जा सकती है—'नक्षत्राणामह शशी।'

(४) चौथा प्रश्न था धर्मो का मुख अर्थात् उपाय (आदि कारण) क्या है ? धर्म का किससे हुआ ? उत्तर मे जयघोष मुनि ने कहा है—धर्मों का मुख (आदिकारण) है। वर्तमान मे आदि ऋषभदेव ही धर्म के आदि , आदि उपदेष्टा हैं। भगवान् ऋषभदेव ने वार्षिक तप का पारणा

अर्थात् इक्षु रस से किया था, अत वे नाम से प्रसिद्ध हुए। आगे चलकर यह गोत्र ही हो गया। स्थानाग सूत्र मे बताये गए गौतम, वत्स, कौशिक आदि सात गोत्रो मे 'काश्यप' पहला गोत्र है। भागवत (पचम स्कन्ध) आदि वैदिक पुराणो तथा वेदमन्त्रो से भी भगवान् ऋषभदेव की आदिमहत्ता होती है। सूत्रकृताग (१।२।३।२) मे तो ही कहा है कि सब तीर्थंकर काश्यप के द्वारा प्ररूपित धर्म का ही अनुसरण करते रहे हैं—' अणुधम्मचारिणो।'

२६

गाथा १३-१६—'पौरुषी' शब्द का निर्माण पुरुष शब्द से है। पुरुष से जिस काल का माप हो, वह पौरुषी है, अर्थात् प्रहर। पुरुष शब्द के दो अर्थ हैं—पुरुष शरीर और शकु। शकु २४ अगुल होता है। पैर से जानु (घुटने) तक का प्रमाण भी २४ अगुल ही होता है। जिस दिन किसी भी वस्तु की वस्तु के प्रमाण के अनुसार होती है, वह दिन दक्षिणायन का दिन होता है। युग के वर्ष (सूर्य वर्ष) के श्रावण कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा को शकु एव जानु की अपने ही प्रमाण के अनुसार २४ अगुल पडती है। १२ अगुल का एक पाद-पैर होने से एव जानु की २४ अगुल छाया को दो पाद माना है।

एक वर्ष मे दो अयन होते हैं—दक्षिणायन और उत्तरायण। दक्षिणायन श्रावण मास मे प्रारम्भ होता है और उत्तरायण माघ मास मे। दक्षिणायन मे बढती है, और उत्तरायण मे कम होती है।

पौरुषी का —

		पाद-अगुल
पूर्णिमा		२—०
	,,	२—४
भाद्रपद	,,	२—८
आश्विन	,,	३—०
कार्तिक	,,	३—४
मृगशिर	,,	३—८
पौष	,,	४—०
माघ	,,	३—८
फाल्गुन	,,	३—४
चैत्र	,,	३—०
वैशाख	,,	२—८
ज्येष्ठ	,,	२—४

पादोन पुरुषी—पौन पौरुषी का	प्रमाण
	पाद-अगुल
पूर्णिमा	२–६
,,	२–१०
,,	३–४
आश्विन ,,	३–८
कार्तिक ,,	४–०
मार्गशीर्ष ,,	४–६
पौष ,,	४–१०
माघ ,,	४–६
फाल्गुन ,,	४–०
चैत्र ,,	३–८
वैशाख ,,	३–४
ज्येष्ठ ,,	२–१०

गाथा १९-२०—रात्रि के चार भाग होते हैं—(१) प्रादोषिक अर्थात् रात्रि का मुख भाग, (२) अर्धरात्रिक, (३) वैरात्रिक और प्राभातिक। प्रादोषिक और प्राभातिक इन दो प्रहरो मे स्वाध्याय किया जाता है । अर्धरात्रि मे और वैरात्रिक मे शयनक्रिया—निद्रा ।

२७

गाथा १—'गणधर' के प्रमुख अर्थ दो होते हैं—(१) तीर्थंकर भगवान् के प्रमुख शिष्य, जैसे कि भगवान् महावीर के गौतम आदि गणधर। (२) अनुपम ज्ञान आदि गुणो के धारक आचार्य। प्रस्तुत मे दूसरा अर्थ ही अभीष्ट है।

कर्मोदय से शिष्यो द्वारा तोडी गई ज्ञानादिरूप भावसमाधि का पुन अपने आप मे जोडना, प्रतिसन्धान है।

२८

गाथा १—मोक्ष का माग (, ,) ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप है। उनसे सिद्धि गमन रूप जो गति है, वह मोक्ष मार्ग गति है।

गाथा २—प्रस्तुत मे ज्ञान को पहले रखा है, दर्शन को बाद मे। है, यह व्यवहार मे , जानकारी आदि से सम्बन्धित ज्ञान है, जो सम्यग् दर्शन से पूर्व

निश्चय मे ही रहता है। सम्यग् होने पर ही ज्ञान सम्यग्ज्ञान होता है। इसीलिए प्रस्तुत अध्ययन के उपसहार (गा० ३०) मे 'नावसणिस्स नाण' कहा है।

यहाँ दर्शन से सम्यग्दर्शन अभिप्रेत है, सामान्य बोधरूप चक्षु-अचक्षु आदि दर्शन नही। तप भी चारित्र का ही एक रूप है। पृथक् उपादान कर्मक्षपण के प्रति असाधारण हेतुता को लेकर किया है। उपसहार (गा० ३०) मे इसीलिए चरणगुण कहा है, तप का पृथक् उल्लेख नही किया है। आचार्य उमास्वाति के तत्त्वार्थ सूत्र मे भी 'सम्यग् दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्ष मार्ग '—सूत्र ही उपनिबद्ध है।

सम्यग् ज्ञान आदि तीनो या चारो मे समुदित रूप से मोक्ष की कारणता है, पृथक्-पृथक् कारणता नही है। अत 'एय मग्गमणुपत्ता' मे मार्ग के लिए एक वचन प्रयुक्त है।

गाथा ४—प्रस्तुत मे श्रुत ज्ञान का पहले उल्लेख है। टीकाकारो की दृष्टि मे यह इसलिए है कि मति आदि अन्य सभी ज्ञानो का स्वरूपज्ञान श्रुतज्ञान से होता है। अत व्यवहार मे श्रुत की प्रधानता है।

यहाँ श्रुत से द्रव्यश्रुत का ग्रहण नही है। ज्ञान का निरूपण होने से भावश्रुत ही ग्राह्य है।

'आभिनिबोधिक' मति ज्ञान का ही दूसरा नाम है। इन्द्रिय और मन का अपने-अपने शब्दादि विषयो का बोध अभिमुखतारूप से नियत होने के कारण इसे आभिनिबोधिक ज्ञान कहते है।

मति और श्रुत अन्योऽन्याश्रित है। नन्दी सूत्र मे कहा है—जहाँ मति है वहाँ श्रुत है और जहाँ श्रुत है वहाँ मति है। वैसे श्रुत मतिपूर्वक ही होता है।

मति मे पाँच इन्द्रिय और छठा मन निमित्त है, जबकि श्रुत मे मन ही निमित्त होता है—'श्रुतमनिन्द्रियस्य'—तत्त्वार्थ सूत्र, २-२१।

'अवधि ज्ञान' अव अर्थात् अधोऽध (नीचे की ओर) अधिक विस्तृत होता है, अत यह शब्दव्युत्पत्ति से अवधि कहलाता है। 'अव' मर्यादा अर्थ मे भी है। इसके मुख्यरूप से भवप्रत्ययिक (जो देव, नारको को जन्म से ही गतिनिमित्तक होता है) और क्षायोपशमिक (मनुष्य और तिर्यञ्चो को जो वर्तमानजन्मकालीन साधना के निमित्त से होता है) ये दो भेद हैं। मे अवधिज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम दोनो मे अपेक्षित हैं।

प्रस्तुत मे ' ' मे के मन से मनोद्रव्य के पर्याय अपेक्षित है। मनोद्रव्य के पर्यायरूप विभिन्न परिणमनो का ज्ञान मन पर्याय ज्ञान है।

केवल का अर्थ एक है, पूर्ण है। अत जो पूर्ण अनन्त ज्ञान है वह केवल ज्ञान है।

अवधि, मन, पर्याय और केवल ज्ञान ज्ञेय और ज्ञान के बीच मे इन्द्रिय आदि के निमित्त ( ) के बिना सीधे आत्मा से होते है, अत यह प्रत्यक्ष ज्ञान हैं, जबकि मति और श्रुत इन्द्रियादि के निमित्त से होने के कारण परोक्ष है। अवधि, मन पर्याय विकल—अपूर्ण है, और केवल ज्ञान —पूर्ण है।

६—गुणो का आश्रय—आधार द्रव्य है। जीव मे ज्ञानादि गुण हैं। अजीव पुद्गल मे रूप, रस आदि अनन्त गुण है। धर्मास्तिकाय आदि मे भी गतिहेतुता आदि गुण हैं। द्रव्य का लक्षण सत् है। सत् का उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य है। पर्याय दृष्टि से द्रव्य प्रतिक्षण विनष्ट होता रहता है, और ध्रौव्यत्व गुण की दृष्टि से वह मूल त्रिकालाव-स्थायी है, शाश्वत है।

एक द्रव्य के आश्रित गुण होते है। अर्थात् जो द्रव्य के सम्पूर्ण भागो मे और उसकी सम्पूर्ण अवस्थाओ मे अनादि अनन्त रूप से सदा काल रहते है, वे गुण है। द्रव्य कभी निर्गुण नही होता। गुण स्वय निर्गुण होते है। अर्थात् गुणो मे अन्य गुण नही होते।

गुणो के दो भेद है। अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व आदि सामान्य गुण है, जो सामान्य रूप से प्रत्येक जीव-अजीव द्रव्यो मे पाये जाते हैं। जीव मे ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सुख आदि विशेष गुण है, जो अजीव द्रव्य मे नही होते। पुद्गल अजीव मे रूप, रस गन्ध आदि विशेष गुण है, जो जीव द्रव्य मे नही होते। प्रतिनियत गुण विशेष होते हैं।

परिणमन अर्थात्, परिवर्तन को पर्याय कहते हैं। पर्याय द्रव्य और गुण दोनो मे आश्रित है, अर्थात् होती है। गुणो मे भी नव पुराणादि पर्याय त प्रतीयमान है। 'गुणेष्वपि नव-पुराणादि पर्याया प्रत्यक्षप्रतीता एव—सर्वार्थ सिद्धिवृत्ति ।

सहभावी गुण होते हैं, और क्रमभावी पर्याय। एक मे एक गुण की एक पर्याय ही होती है। एक साथ अनेक पर्याय कभी नही होती। वैसे अनन्त गुणो की दृष्टि से एक-एक पर्याय मिलकर एक साथ पर्याय हो सकती है। क्रमभाविता एक गुण की अपेक्षा से है। पर्याय के मुख्यरूप से दो भेद हैं—व्यजन पर्याय (द्रव्य के प्रदेशत्व गुण का परिणमन, विशेष कार्य) और अर्थपर्याय (प्रदेशत्व गुण के अतिरिक्त शेष सम्पूर्ण गुणो का परिणमन)। इनके दो भेद हैं और विभाव। पर के निमित्त के बिना जो परिणमन होता है वह पर्याय है। और पर के निमित्त से जो होता है, वह विभाव पर्याय है।

गाथा १०—काल का लक्षण वर्तना है। जीव और अजीव सभी द्रव्यो मे जो परिणमन होता है उपादान स्वय वे द्रव्य होते है और उनका निमित्त काल को माना है। काल के अपने परिणमन मे भी स्वय काल ही निमित्त है।

काल द्रव्य है, अस्तिकाय नही है, चूँकि वह एक रूप है, प्रदेशो का समूह रूप नही है। भगवती सूत्र (१३।१४) मे काल को जीव-अजीव की पर्याय कहा है। काल के समय (अविभाज्य रूप सर्वाधिक सूक्ष्म अश) अनन्त है। 'सोऽनन्तसमय' —तत्त्वार्थ ५।४०।

श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार दिन, रात्रि आदिरूप व्यवहार काल मनुष्य-क्षेत्र (ढाईद्वीप) प्रमाण है। दिगम्बर परम्परा के अनुसार काल लोकव्यापी तथा अणुरूप हैं। रत्नो की राशि के रूप मे लोकाकाश के एक एक प्रदेश पर एक एक कालाणु स्थित है।

गाथा ३२, ३३—कर्मों के को रोकना सवररूप चारित्र है। कर्मों के पूर्वबद्ध चय को तप से रिक्त करना, क्षय करना निर्जरारूप चारित्र है। प्रस्तुत अध्ययन मे ही चारित्र की उक्त दोनो व्याख्याएँ है। एक है 'चयरित्तकर चारित्त—(गाथा ३३), और दूसरी है—चरित्तेण न गिण्हाइ (गाथा ३५)। अन्तिम शुद्धि चारित्र से ही होती है। चारित्र के पाँच भेद हैं—

(१) सामायिक—सम होना, राग द्वेष से रहित वीतराग भाव का होना, सर्वविरतिरूप सामायिक चारित्र है। यद्यपि सभी चारित्र सामान्यतया सामायिक चारित्र ही होते हैं। जो भेद है, वह विशेष क्रिया काण्डो तथा विभिन्न स्तरो को लेकर है। इत्वरिक—अल्प काल का सामायिक चारित्र भगवान् और महावीर के मे है। यावत्कथिक अर्थात् यावज्जीवन रूप अन्य २२ तीर्थंकरो के शासन मे होता है।

(२) छेदोपस्थापनीय—सातिचार और निरतिचार के भेद से यह दो प्रकार का है। दोषविशेष लगने पर दीक्षा का छेद करना, सातिचार है। और प्रथम लिए हुए सामायिक चारित्र का अमुक समय बाद बिना दोष के भी छेद कर देना, निरतिचार है। बडी दीक्षा के रूप मे जो महाव्रतारोपण है, वह निरतिचार है। वह प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के समय मे ही होता है।

` (३) परीहारविशुद्धि—यह एक विशिष्ट तप साधना है, जो नौ साधु मिलकर करते हैं। इसका कालमान १८ मास है। प्रथम छह मास मे चार साधु ग्रीष्म मे से लेकर तेला तक, शिशिर मे बेला से लेकर चोला तक, और वर्षा में तेला से लेकर पचौला तक तप करते है। पारणा आय बिल से किया जाता है। चार साधु सेवा करते ह। एक ˚ (निर्देशक) होता है। छह महीने बाद सेवा वाले

इसी प्रकार तप करते हैं, और तपस्वी सेवा। तीसरे छह मास मे वाचनाचार्य तप करता है। और उनमे से एक वाचनाचार्य हो जाता है, शेप सेवा करने वाले रहते है।

(४-५) सू —सामायिक या छेदोपस्थापनीय चारित्र की साघना करते-करते जब क्रोध, मान, माया उपशान्त या क्षीण हो जाते है, एकमात्र लोभ का ही बहुत सूक्ष्म वेदन रह जाता है, तब दसवें गुणस्थान मे सूक्ष्म सपराय चारित्र होता है। और जब चारो ही कपाय पूर्णरूप से उपशान्त या क्षीण हो जाते हैं, तब वह चारित्र होता है। यह वीतराग चारित्र हैं। उपशान्त चारित्र ११ वें गुण स्थान मे और क्षायिक १२ में आदि अग्रिम गुण स्थानो मे होता हैं।

२६

सूत्र ७—प्रस्तुत मे 'करणगुणश्रेणि' शब्द एक गम्भीर सैद्धान्तिक शब्द है। अपूर्वकरण से होने वाली गुणहेतुक कर्मनिर्जरा की श्रेणि को ' गुण श्रेणि' कहते है। करण का अर्थ का विशुद्ध परिणाम है। अध्यात्म-विकास की आठवी भूमिका का नाम अपूर्वकरण गुण है। यहाँ परिणामो की धारा इतनी विशुद्ध होती है, जो पहले कभी नही होने के कारण अपूर्व कहलाती है। आगामी क्षणो मे उदित होने वाले मोहनीय कर्म के अनन्त प्रदेशी दलिको को उदयकालीन प्राथमिक क्षण मे क्षय कर देना, भाव विशुद्धि की एक आध्यात्मिक प्रक्रिया है। से दूसरे क्षण मे गुण अधिक कर्मपुद्गलो का क्षय होता है, दूसरे से तीसरे मे अस गुण अधिक और तीसरे से चौथे मे गुण अधिक। इस प्रकार कर्मनिर्जरा की यह तीव्रगति प्रत्येक से अगले मे गुण अधिक होती जाती है, और यह कमनिर्जरा की धारा समयात्मक एक मुहूर्त तक चलती है। देखिए, कर्मनिर्जरा की और आत्मविशुद्धि की कितनी अपूर्व एव दिव्य धारा है। इसे श्रेणी भी कहते है। 'प्र श्रेणि'—सर्वार्थसिद्धि। श्रेणी आठवें गुण से प्रारम्भ होती है। मोहनाश की दो प्रक्रियाएँ है। जिससे मोह का क्रम से होते-होते अन्त मे वह सर्वथा उपशान्त हो है, अन्तर्मुहूर्त के लिए उदय मे बद हो जाता है, उसे श्रेणि कहते हैं। और जिसमे मोह क्षीण होते-होते अन्त मे क्षीण हो जाता है, मोह का एक दलिक भी आत्मा पर शेष नही रहता, वह क्षपकश्रेणि है। श्रेणी से ही कैवल्य प्राप्त होता है।

सूत्र १५—एक, दो या तीन श्लोक से होने वाली गुणकीर्तना स्तुति होती है और तीन से अधिक श्लोको वाली स्तुति को स्तव कहते हैं। वैसे दोनो का भावार्थ एक ही है—भक्तिपूर्वक गुणकीर्तन।

२३—अनुप्रेक्षा का अर्थ सूत्रार्थ का चिन्तन है। यह भी तप है। अत उक्त तप से बन्धन रूप निकाचित कर्म भी शिथिल अर्थात् क्षीण हो जाते हैं। 'तपोरूपत्वावस्यास्तपसश्च निकाचितकर्मक्षयक्षमत्वात्'—सर्वार्थसिद्धि

सूत्र ७१—कषाय भाव मे ही कर्म का स्थितिबन्ध होता है। केवल मन, वचन, काय के कषायरहित व्यापार-रूप योग से तो दीवार पर लगे सूखे गोले की तरह ज्योंही कर्म लगता है, लगते ही झड जाता है। उसमे राग द्वेषजन्य स्निग्धता जो नही है। केवलज्ञानी को भी जब तक वह सयोगी रहता है, चलते-फिरते, उठते-बैठते हर क्षण योगनिमित्तक दो की स्थिति का सुखस्पर्शरूप कर्म बँधता रहता है। अयोगी होने पर वह भी नही।

सूत्र ७२-अ इ उ ऋ लृ—ये पाँच ह्रस्व हैं। इतना काल १४ वे अयोगी गुण स्थान की भूमिका का होता है। तदनन्तर आत्मा देहमुक्त होकर सिद्ध हो जाता है।

'समुच्छिन्नक्रिया अनिवृत्ति' शुक्ल ध्यान का अर्थ है—समुच्छिन्न क्रिया वाला एव पूर्ण कर्म क्षय करने से पहले निवृत्त नही होने वाला पूर्ण निर्मल शुक्ल । यह *शैलेशी-अर्थात् शैलेश मेरु पर्वत के समान सर्वथा अकम्प, आत्मस्थिति है।*

मुक्त आत्मा का आकाशप्रदेशो की ऋजु अर्थात् समश्रेणि से होता है। समश्रेणि को हुआ विषम श्रेणि से नही होता। यही अनुश्रेणी गति भी कहलाती है।

अस्पृशद् गति के अनेक अर्थ हैं। बृहद्वृत्तिकार शान्त्याचार्य के अनुसार अर्थ है—"जितने प्रदेशो को जीव यहाँ अवगाहित किए रहता है, उतने ही प्रदेशो को स्पर्श करता हुआ गति करता है, उसके अतिरिक्त एक भी प्रदेश को नही छूता है। अस्पृशद् गति का यह अर्थ नही कि मुक्त आत्मा आकाशप्रदेशो को स्पर्श ही नही करता।

आचार्य देव के (औपपातिक वृत्ति) अनुसार अस्पृशद्गति का अर्थ है—"अन्तरालवर्ती प्रदेशो का स्पर्श किए बिना यहाँ से ऊर्ध्व मोक्ष स्थान तक पहुँचना।" कहना है कि मुक्त जीव के प्रदेशो का स्पर्श किए बिना ही ऊपर चला जाता है। यदि वह अन्तरालवर्ती प्रदेशो को स्पर्श करता जाए तो एक समय जैसे मे मोक्ष तक कैसे पहुँच है? नही पहुँच ।

चूर्णि के अनुसार अस्पृशद्गति का अर्थ है—मुक्त जीव एक समय मे ही मोक्ष मे पहुँच आता है। वह अपने ऊर्ध्व गमन काल मे दूसरे समय को स्पर्श नही करता। मुक्तात्मा की यह समश्रेणिरूप सहज गति है। इसमे मोड नही लेना होता। अत दूसरे समय की अपेक्षा नही है।

अध्ययन ३०

७—मुक्ति की प्राप्ति मे बहिरग निमित्त है, शरीर आदि बाह्य द्रव्य पर आधारित है, और सर्वसाधारण लोगो द्वारा भी तप रूप मे अभिप्रेत है, अत अनशन आदि बाह्य तप है। यह अन्तरग तप के से ही मुक्ति का कारण है, स्वय साक्षात् कारण नही। इसके विपरीत जो शरीर आदि बाह्य साधनो पर आधारित नही है, अन्त करण से स्वय स्फूर्त है, जो विशिष्ट विवेकी साधको ही समाचरित है, वह तप है।

१०-११—इत्वरिक अनशन तप देश, काल, परिस्थिति आदि को मे रखते हुए अपनी शक्ति के अनुसार एक अमुक समयविशेष की सीमा बाँ किया जाता है। भगवान् महावीर के मे दो घडी से लेकर छह मास तक की सीमा है। सक्षेप मे इसके छह भेद होते है।

(१) श्रेणि तप—उपवास से लेकर छह मास तक क्रमपूर्वक जो तप किया है, वह श्रेणि तप है। इसकी अनेक श्रेणियाँ है। जैसे , बेला—यह दो पदो का श्रेणि तप है। , बेला, तेला, चौला—यह चार पदो का श्रेणितप है।

(२) —एक श्रेणि तप को जितने क्रम अर्थात् प्रकारो से किया जा सकता है, उन सब क्रमो को मिलाने से प्रतर तप होता है। उदाहरणस्वरूप १ २ ३ ४ उपवासो से चार बनते हैं। स्थापना इस है—

क्रम	१	२	३	४
१	उपवास	बेला	तेला	चौला
२	बेला	तेला	चौला	उपवास
३	तेला	चौला	उपवास	बेला
४	चौला	उपवास	बेला	तेला

यह प्रतर तप है। इसमे कुल पदो की १६ है। इस तरह यह तप श्रेणि-पदो को श्रेणि पदो से गुणा करने से बनता है। चार को चार से गुणित करने पर १६ की होती है। यह और विस्तार दोनो मे है।

(३) —जितने पदो की श्रेणि हो, प्रतर तप को उतने पदो से गुणित करने पर घनतप बनता है। जैसे कि ऊपर मे चार पदो की श्रेणि है, अत उपर्युक्त

षोडशपदात्मक तप को चतुष्टयात्मक श्रेणि से गुणा करने पर अर्थात् प्रतर तप को चार बार करने से घन तप होता है। इस प्रकार घनतप के ६४ पद होते हैं।

(४) वर्ग तप—घन को घन से गुणित करने पर वर्ग तप है। अर्थात् को ६४ बार करने से वर्गतप बनता है। इस प्रकार वर्गतप के ६४+६४=४०९६ पद होते है। अर्थात् चार हजार छियाणवें पद है।

(५) व ' तप—वर्ग को वर्ग से गुणित करने पर वर्गवर्ग तप होता है। अर्थात् वर्गतप को ४०९६ बार करने से १ करोड ६७ लाख, ७७ हजार और २१६ पद होते हैं। उक्त पद अको मे इस प्रकार हैं—४०९६×४०९६=१६७७७२१६।

यह श्रेणितप के चार पदो की भावना है। इसी पाँच, छह, सात आदि पदो की भावना भी की जा सकती है।

(६) प्र तप—यह तप श्रेणि आदि निश्चित पदो की रचना किए बिना ही अपनी शक्ति और के अनुसार किया जा ा है। नमस्कारसहिता अर्थात् नौकारसी से लेकर यवमध्य वज्रमध्य, चन्द्रप्रतिमा (चन्द्र की कलाओ के अनुसार उपवासो की १ से लेकर १५ तक और फिर घटाते हुए १ उपवास पर आजाना) आदि प्रकीर्ण तप हैं।

गाथा १२—मरण काल का आमरणान्त अनशन सथारा कहा जाता है। वह सविचार और अविचार-भेद से दो प्रकार का है। सविचार मे उद्वर्तन-परिवर्तन (करवट बदलने) आदि की हरकत होती है, अविचार मे नही।

भक्त और इङ्गिनीमरण सविचार होते हैं। भक्तप्रत्याख्यान स्वय भी आदि बदल ा है, दूसरो से भी इस प्रकार की सेवा ले सकता है। यह दूसरे भिक्षुओ के साथ रहते हुए भी हो सकता है। यह ानुसार त्रिविधाहार चतुर्विधाहार के से किया जा है।

इङ्गिनीमरण सथारा मे अनशनकारी एकान्त मे एकाकी रहता है। यथाशक्ति स्वय तो आदि की क्रियाएँ कर सकता है, किन्तु इसके लिए दूसरो से सेवा नही ले ।

गिरिकन्दरा आदि शून्य स्थानो मे किया जाने पादपोपगमन अविचार ही होता है। जैसे वृक्ष जिस स्थिति मे गिर जाता है, उसी स्थिति मे पडा रहता है, उसी पादपोपगमन मे भी प्रारभ मे जिस का उपयोग करता है अन्ततक उसी मे रहता है आदि बदलने की कोई भी चेष्टा नही करता है। पादपोपगमन के लिए दिगम्बर परम्परा मे 'प्रायोपगमन' शब्द का प्रयोग हुआ है। 'पाओअगमण' शब्द से दोनो ही रूप हो सकते है।

गाथा १३—अथवा यह मरणकालीन अनशन सपरिकर्म (बैठना, उठना, आदि परिकर्म से सहित) और अपरिकर्म भेद से दोप्रकार का है। भक्त और इ गिनी सपरिकर्म होते है, और पादपोपगमन अपरिकर्म ही होता है। सलेखना के परिकर्म से सहित और उससे रहित को भी सपरिकर्म और

अपरिकर्म कहा जाता है। वर्ष आदि पूर्व काल से ही अनशनादि तप करते हुए शरीर को, साथ ही इच्छाओ, कषायो और विकारो को निरन्तर क्षीण करना सलेखना है, अन्तिम मरणकालीन क्षण की पहले से ही तैयारी करना है।

गाँव से बाहर जाकर जो सथारा किया जाता है, वह निर्हारिम है, और जो गाँव मे ही किया जाता है वह अनिर्हारिम है। अथवा जिसके शरीर का मरणोत्तर अग्निसंस्कार आदि होता है, वह निर्हारिम है। और जो गिरिकन्दरा आदि शून्य स्थानो मे सथारा किया जाता है, जिसका अग्निसस्कार आदि नही होता है, वह अनिर्हारिम है। वास्तविकता क्या है, इसके लिए सर्वार्थ सिद्धिकार कहता है—' तु बहुश्रुता विदन्ति।'

गाथा १६-१७-१८—जहाँ कर लगते हो वह ग्राम है। और जहाँ कर न लगते हो, वह नगर है, अर्थात् न कर। निगम—व्यापार की मण्डी। आकर—सोने आदि की खान। पल्ली—वन मे साधारण लोगो की या चोरो की वस्ती। खेट—धूल मिट्टी के कोट वाला ग्राम। कर्बट—छोटा नगर। द्रोण-मुख—जिसके आने जाने के जल और स्थल दोनो मार्ग हो। पत्तन—जहाँ सभी ओर से लोग आते हो। मडब—जिसके पास सब ओर अढाई योजन तक कोई दूसरा गाम न हो। सम्बाध—ब्राह्मण आदि चारो वर्ण के लोगो का जहाँ प्रचुरता से निवास हो। आश्रमपद—तापस आदि के । विहार—देवमन्दिर। सनिवेश—यात्री लोगो के ठहरने का स्थान, अर्थात् । समाज—सभा और परिषद्। घोष—गोकुल। स्थली—ऊँची जगह टीला आदि। सेना और स्कन्धावार (छावनी) प्रसिद्ध है। सार्थ—सार्थवाहो के साथ चलने जनसमूह। सवर्त—जहाँ के लोग भयत्रस्त हो। कोट्ट— , किला आदि। वाट—जिन घरो के चारो ओर काँटो की बाड या तार आदि का घेरा हो। रथ्या—गाँव और नगर की गलियाँ।

क्षेत्र अवमौदर्य का अर्थ है—विहार- आदि की दृष्टि से क्षेत्र की सीमा कम कर लेना।

गाथा १९—(१) पेठा—अर्थात् पेटिका चतुष्कोण होती है। इस प्रकार बीच के घरो को छोडकर चारो श्रेणियो मे भिक्षा लेना।

(२) —इसमे केवल दो श्रेणियो से भिक्षा ली जाती है।

(३) गोमूत्रिका—वक्र अर्थात् टेढे-मेढे भ्रमण से भिक्षा लेना गोमूत्रिका है। जैसे चलते बैल के मूत्र की रेखा टेढी-मेढी होती है।

(४) पतगवीथिका—पतग जैसे हुआ बीच मे कही-कही चमकता है, इसी बीच-बीच मे घरो को छोडते हुए भिक्षा लेना।

(५) शम्बूकावर्ता—शख के आवर्तों की तरह गाँव के बाहरी भाग से भिक्षा लेते हुए अन्दर मे जाना अथवा गाँव के अन्दर से भिक्षा लेते हुए बाहर की ओर आना। शम्बूकावर्ता के ये दो प्रकार है।

(६) -प्रत्यागता—गाँव की सीधी सरल गली मे अन्तिम घर तक जाकर फिर वापस लौटते हुए भिक्षा लेना। इसके दो भेद है—जाते समय गली की एक पक्ति से और आते समय दूसरी पक्ति से भिक्षा लेना। अथवा एक ही पक्ति से भिक्षा लेना, दूसरी पक्ति से नही।

गाथा २५—आठ प्रकार के गोचराग्र मे पूर्वोक्त पेटा आदि छह प्रकार और शम्बूकावर्ता तथा आयतगत्वा प्रत्यागता के वैकल्पिक दो भेद मिलाने से गोचराग्र के आठ भेद हो जाते है।

सात एषणाएँ—

(१) ससृष्टा—खाद्य वस्तु से लिप्त हाथ या पात्र से भिक्षा लेना।

(२) अससृष्टा—अलिप्त हाथ या पात्र से भिक्षा लेना।

(३) उद्धृता—गृहस्थ के द्वारा अपने प्रयोजन के लिए पकाने के पात्र से दूसरे पात्र मे निकाला हुआ आहार लेना।

(४) ` —चने आदि अल्प लेप की वस्तु लेना।

(५) अवगृहीता—खाने के लिए थाली मे परोसा हुआ आहार लेना।

(६) प्रगृहीता—परोसने के लिए कडछी या चम्मच आदि से निकाला हुआ आहार लेना।

(७) उज्झितधर्मा—परिष्ठापन के योग्य अमनोज्ञ आहार लेना।

गाथा ३६—यहाँ व्युत्सर्ग तप मे कायोत्सर्ग की ही गणना की है। प्रावरण एव पात्र आदि उपधि का विसर्जन भी व्युत्सर्ग तप है। कषाय का व्युत्सर्ग भी व्युत्सर्ग मे गिना गया है। काय मुख्य है। अत काय के व्युत्सर्ग मे सभी उत्सर्गों का समावेश हो जाता है।

कायोत्सर्ग देहभाव का ˙ है। वह त्रिगुप्तिरूप है। स्थान—कायगुप्ति, मौन—वचन गुप्ति, तथा ध्यान—मन की प्रवृत्ति का एकीकरण है, अत यह मनोगुप्ति है।

गाथा ३०—साधना की यात्रा बडी दुर्गम है। अत रहते हुए भी दोष लग जाते है। उनको दूर कर अपने को पुन विशुद्ध बना लेना, प्रायश्चित है। उसके दस प्रकार हैं

(१) आलोचनार्ह—अर्ह का अर्थ योग्य है। गुरु के समक्ष अपने दोपो को करना आलोचना है।

(२) प्रतिक्रमणार्ह—कृत पापो से निवृत्त होने के लिए 'मिच्छामि दुक्कड' कहना, 'मेरे सब पाप निष्फल हों'—इस प्रकार पश्चात्तापपूर्वक पापो को अस्वीकृत करना, कायोत्सर्ग आदि करना तथा भविष्य मे पापकार्यों से दूर रहने के लिए सावधान रहना।

(३) तदुभयार्ह—पापनिवृत्ति के लिए आलोचना और प्रतिक्रमण—दोनों करना।

(४) विवेकार्ह—लाये हुए अ आहार आदि का परित्याग करना।

(५) व्युत्सर्गार्ह—चौबीस तीर्थकरो की स्तुति के साथ कायोत्सर्ग करना।

(६) तपोऽर्ह—उपवास आदि तप करना।

(७) छेदार्ह—सयम काल को छेद कर कम करना, दीक्षा काट देना।

(८) मूलार्ह—फिर से महाव्रतो मे आरोपित करना, नई दीक्षा देना।

(९) अनवस्थापनार्ह—तपस्यापूर्वक नई दीक्षा देना।

(१०) पारचिकार्ह—भयकर दोप लगने पर काफी तक भर्त्सना एव अवहेलना करने के अनन्तर नई दीक्षा देना।

३३—वैयावृत्य तप के दस हैं। (१) आचार्य, (२) उपाध्याय, (३) स्थविर—वृद्ध गुरुजन, (४) तपस्वी (५) ग्लान—रोगी, (६) शैक्ष—नवदीक्षित, (७) कुल—गच्छो का समुदाय, (८) गण—कुलो का समुदाय (९) सघ—गणो का समुदाय (१०) सार्धमिक—समानधर्मा, साधु—साध्वी।

३१

गाथा २ से २०—यहाँ चारित्र की विधि-निषेधरूप प्रवृत्ति-निवृत्ति-रूप उभयात्मक की गई है। से निवृत्ति और सयम मे प्रवृत्ति ही चारित्र है। बहिर्मुखता से लौटकर अन्तर्मुखता मे चेतना को लीन करना ही चारित्र का आदर्श है। आचार्य नेमिचन्द्र ने द्रव्य सग्रह मे इसी भाव को यो व्यक्त किया है—"असुहादो विणिवत्ती, सुहे पवत्ती य चारित्त।"

तीन दण्ड—

दुष्प्रवृत्ति मे सलग्न मन, वचन और काया—तीनो दण्ड है। इन से चारित्र-रूप ऐश्वर्य का तिरस्कार होता है, दण्डित होता है।

तीन गौरव—

(१) ऋद्धि गौरव—ऐश्वर्य का अभिमान, (२) रस गौरव—रसो का अभिमान (३) सात गौरव—सुखो का अभिमान।

'गौरव' अभिमान से हुए चित्त की एक विकृत स्थिति है।

तीन —

(१) माया, (२) निदान—ऐहिक तथा पारलौकिक भौतिक सुख की प्राप्ति के लिए धर्म का विनिमय, (२) मिथ्यादर्शन—आत्मा का तत्त्व के प्रति मिथ्यारूप दृष्टिकोण।

शल्य काँटे या शस्त्र की नोक को कहते है। जैसे वह पीडा देता है, उसी को ये शल्य भी निरन्तर उत्पीडित करते हैं।

चार विकथा—

(१) स्त्री कथा—स्त्री के रूप, लावण्य आदि का वर्णन करना। (२) भक्त—नाना प्रकार के भोजन की कथा, (३) देश कथा—नाना देशो के रहन-सहन आदि की कथा, (४) राजकथा—राजाओ के ऐश्वर्य तथा भोगविलास का वर्णन।

चार —

(१) आहार सज्ञा (२) भय सज्ञा, (३) मैथुन सज्ञा और (४) लोभ सज्ञा।

सज्ञा का अर्थ है—आसक्ति और मूर्च्छना।

व्रत और इन्द्रियार्थ—

अहिंसा आदि पाँच व्रत है। शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श—ये पाँच इन्द्रियो के विषय है।

पाँच क्रियाएँ—

(१) कायिकी, (२) आधिकरणिकी—शस्त्रादि अधिकरण से सम्बन्धित, (३) प्राद्वेषिकी—द्वेष रूप, (४) पारितापनिकी, (५) प्राणातिपात—प्राणिहिंसा।

सात और की प्रतिमाएँ—

पिण्ड का अर्थ आहार है। इससे सम्बन्धित प्रतिमाएँ पूर्वोक्त तपोमार्गगति मे वर्णित सात एषणाएँ हैं।

अवग्रह (स्थान) सम्बन्धी सात अभिग्रह-सकल्प इस है—

(१) मैं अमुक प्रकार के स्थान मे रहूँगा, दूसरे मे नही।

(२) मैं दूसरे साधुओ के लिए की याचना करूंगा। दूसरे के द्वारा याचित स्थान मे रहूँगा। यह गच्छान्तर्गत साधुओं के होती है।

(३) मैं दूसरो के लिए स्थान की याचना करूंगा, किन्तु दूसरो के द्वारा याचित स्थान में नही रहूँगा। यह यथालन्दिक साधुओ के होती है।

(४) मैं दूसरो के लिए स्थान की याचना नही करूंगा, परन्तु दूसरो के द्वारा याचित स्थान मे रहूँगा। यह जिन कल्प दशा का अभ्यास करने वाले साधुओं के होती है।

(५) मैं अपने लिए स्थान की याचना करूंगा, दूसरो के लिए नही। यह जिन कल्पिक साधुओ के होती है।

(६) जिसका मैं स्थान ग्रहण करूंगा, उसी के यहा पलाल आदि का सस्तारक प्राप्त होगा तो लूंगा, अन्यथा उकडू या नैषेधिक से बैठे हुए ही सारी रात गुजार दूंगा, यह जिनकल्पिक या अभिग्रहधारी साधुओ के होती है।

(७) जिसका स्थान मैं ग्रहण करूंगा उसी के यहाँ ही सहज भाव से पहले के शिलापट्ट या काष्ठपट्ट प्राप्त होगा तो लूंगा, उकडू या नैषधिक से बैठे-बैठे रात बिताऊंगा। यह भी जिनकल्पिक या अभिग्रहधारी साधुओ के होती है।

भय—

१ इहलोक भय—अपनी ही जाति के प्राणी से डरना, इहलोक भय है। जैसे मनुष्य का मनुष्य से, तिर्यंच का तिर्यंच आदि से डरना।

२ परलोक भय—दूसरी जाति वाले प्राणी से डरना, परलोक भय है। जैसे मनुष्य का देव से या तिर्यञ्च आदि से डरना।

३ भय—अपनी वस्तु की रक्षा के लिए चोर आदि से डरना।

४ भात् भय—किसी वाह्य निमित्त के विना अपने आप ही होकर रात्रि आदि मे डरने लगना।

५ आजीव भय—दुर्भिक्ष आदि मे जीवन-यात्रा के लिए भोजन आदि की अप्राप्ति के दुर्विकल्प से डरना।

६ भय—मृत्यु से डरना।

७ अश्लोक भय—अपयश की आशका से डरना।

तीन गौरव—

(१) ऋद्धि गौरव—ऐश्वर्य का अभिमान, (२) रस गौरव—रसो का अभिमान (३) सात गौरव—सुखो का अभिमान।

'गौरव' अभिमान से हुए चित्त की एक विकृत स्थिति है।

तीन —

(१) माया, (२) निदान—ऐहिक तथा पारलौकिक भौतिक सुख की प्राप्ति के लिए धर्म का विनिमय, (२) मिथ्यादर्शन—आत्मा का तत्त्व के प्रति मिथ्यारूप दृष्टिकोण।

शल्य काँटे या शस्त्र की नोक को कहते हैं। जैसे वह पीडा देता है, उसी को ये शल्य भी निरन्तर उत्पीडित करते है।

चार विकथा—

(१) स्त्री कथा—स्त्री के रूप, लावण्य आदि का वर्णन करना। (२) भक्त—नाना प्रकार के भोजन की कथा, (३) देश कथा—नाना देशो के रहन-सहन आदि की कथा, (४) —राजाओ के ऐश्वर्य तथा भोगविलास का वर्णन।

चार सज्ञा—

(१) आहार सज्ञा (२) भय सज्ञा, (३) मैथुन सज्ञा और (४) लोभ सज्ञा।

सज्ञा का अर्थ है—आसक्ति और मूर्च्छना।

पाँच व्रत और इन्द्रियार्थ—

अहिसा आदि पाँच व्रत हैं। शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श—ये पाँच इन्द्रियो के विषय हैं।

पाँच क्रियाएँ—

(१) कायिकी, (२) आधिकरणिकी—शस्त्रादि अधिकरण से सम्बन्धित, (३) प्राद्वेषिकी—द्वेष रूप, (४) पारितापनिकी, (५) प्राणातिपात—प्राणिहिंसा।

सात पिण्ड और की प्रतिमाएँ—

पिण्ड का अर्थ आहार है। इससे सम्बन्धित प्रतिमाएँ पूर्वोक्त तपोमार्गगति मे वर्णित सात एषणाएँ है।

अवग्रह (स्थान) सम्बन्धी सात अभिग्रह-सकल्प इस है—

(१) मैं अमुक के स्थान मे रहूँगा, दूसरे मे नही।

(२) मैं दूसरे साधुओ के लिए स्थान की याचना करूँगा। दूसरे के द्वारा याचित स्थान मे रहूँगा। यह गच्छान्तर्गत साधुओ के होती है।

(३) मैं दूसरो के लिए स्थान की याचना करूँगा, किन्तु दूसरा के द्वारा याचित में नही रहूँगा। यह यथालन्दिक साधुआ के होती है।

(४) मैं दूसरो के लिए की याचना नही करूँगा, परन्तु दूसरों के द्वारा याचित स्थान मे रहूँगा। यह जिन कल्प दशा का अभ्यास करने वाले साधुओं के होती है।

(५) मैं अपने लिए स्थान की याचना करूँगा, दूसरों के लिए नही। यह जिन कल्पिक साधुओं के होती है।

(६) जिसका मैं ग्रहण करूँगा, उसी के यहा पलाल आदि का प्राप्त होगा तो लूँगा, उकडू या नैषेधिक से बैठे हुए ही सारी रात गुजार दूँगा, यह जिनकल्पिक या अभिग्रहधारी साधुओं के होती है।

(७) जिसका स्थान मैं ग्रहण करूँगा उसी के यहाँ ही सहज भाव से पहले के शिलापट्ट या काष्ठपट्ट प्राप्त होगा तो लूँगा, अन्यथा उकडू या नैषधिक से बैठे-बैठे रात बिताऊँगा। यह भी जिनकल्पिक या अभिग्रहधारी साधुओ के होती है।

भय—

१ इहलोक भय—अपनी ही जाति के प्राणी से , इहलोक भय है। जैसे मनुष्य का मनुष्य से, तिर्यंच का तिर्यंच आदि से डरना।

२ लोक भय—दूसरी जाति वाले प्राणी से , परलोक भय है। जैसे मनुष्य का देव से या तिर्यञ्च आदि से डरना।

३ भय—अपनी वस्तु की रक्षा के लिए चोर आदि से ।

४ मात् भय—किसी बाह्य निमित्त के बिना अपने आप ही होकर रात्रि आदि मे डरने लगना।

५ आजीव भय—दुर्भिक्ष आदि मे जीवन-यात्रा के लिए भोजन आदि की अप्राप्ति के दुर्विकल्प से डरना।

६ मरण भय—मृत्यु से डरना।

७ अश्लोक भय—अपयश की से डरना।

—

१ जाति मद—ऊँची और श्रेष्ठ जाति का अभिमान।

२ कु —ऊँचे कुल का अभिमान।

३ —अपने बल का ।

४ रूप मद—अपने रूप, सौन्दर्य का गर्व।

५ तप मद—उग्र तपस्वी होने का अभिमान।

६ श्रुत मद—शास्त्राभ्यास अर्थात् पाण्डित्य का अभिमान।

७ मद—अभीष्ट वस्तु के मिल जाने पर अपने लाभ का अहंकार।

८ ऐश्वर्य मद—अपने ऐश्वर्य अर्थात् प्रभुत्व का अहंकार।

नौ ब्रह्मचर्य गुप्ति—

१ -वसति सेवन—स्त्री, पशु और नपुंसकों से युक्त स्थान में न ठहरे।

२ स्त्री परिहार—स्त्रियों की कथा-वार्ता, सौन्दर्य आदि की चर्चा न करे।

३ निषद्यानुपवेशन—स्त्री के साथ एक पर न बैठे, उसके उठ जाने पर भी एक मुहूर्त तक उस पर न बैठे।

४ स्त्री-अंगोपांगादर्शन—स्त्रियों के मनोहर अंग उपांग न देखे। यदि कभी अकस्मात् दृष्टि पड़ जाए तो सहसा हटा ले, फिर उसका ध्यान न करे।

५ कुड्यान्तर -श्रवणादि-वर्जन—दीवार आदि की आड़ से स्त्री के शब्द, गीत, रूप आदि न सुने और न देखे।

६ पूर्व भोग रण—पहले भोगे हुए भोगों का स्मरण न करना।

७ प्रणीत भोजन —विकारोत्पादक गरिष्ठ भोजन न करे।

८ अतिमात्र भोजन —रूखा-सूखा भोजन भी अधिक न करे। आधा पेट अन्न से भरे, आधे में से दो भाग पानी के लिए और एक भाग हवा के लिए छोड़ दे।

९ विभूषा-परिवर्जन—अपने शरीर की विभूषा—सजावट न करे।

दस श्रमण धर्म—

१ क्षान्ति—क्रोध न करना।

२. मार्दव—मृदु भाव रखना। जाति, कुल आदि का अहकार न करना।

३ आर्जव—ऋजुभाव—सरलता रखना, माया न करना।

४ मुक्ति—निर्लोभता रखना, लोभ न करना।

५ तप—अनशन आदि बारह प्रकार का तप करना।

६ —हिंसा आदि आश्रवो का निरोध करना।

७ —सत्य भाषण करना, झूठ न बोलना।

८ शौच—सयम मे दूषण न लगाना, के प्रति निरुपलेपता-पवित्रता रखना।

९ आकिंचन्य—परिग्रह न रखना।

१० —ब्रह्मचर्य का पालन करना।

ग्यारह प्रतिमाएं—

१ दर्शन प्रतिमा—किसी भी प्रकार का राजाभियोग आदि आगार न शुद्ध, निरतिचार, विधिपूर्वक सम्यग् का पालन करना। यह प्रतिमा व्रतरहित दर्शन श्रावक की होती है। इसमे मिथ्यात्वरूप कदाग्रह का मुख्य है। 'सम्यग्दर्शनस्य शकादिशल्यरहितस्य अणुव्रतादिगुणविकलस्य योऽभ्युपगम। सा प्रतिमा प्रथमेति।'—अभयदेव, समवायाग वृत्ति। इस प्रतिमा का आराधन एक मास तक किया जाता है।

२ व्रत प्रतिमा—व्रती मम्यक्त्व लाभ के बाद व्रतो की है। पाँच अणुव्रत आदि व्रतो की प्रतिज्ञाओ को अच्छी तरह निभाता है, किन्तु सामायिक का यथा समय सम्यक् पालन नही कर पाता। यह प्रतिमा दो मास की होती है।

३ सामायिक प्रतिमा—इस प्रतिमा मे प्रात और सामायिक व्रत की साधना निरतिचार पालन करने लगता है, समभाव दृढ हो जाता है किन्तु पर्वदिनो मे पौषधव्रत का सम्यक् पालन नही कर पाता। यह प्रतिमा तीन मास की होती है।

४ पोषध प्रतिमा—अष्टमी, चतुर्दशी, और पूर्णिमा आदि पर्व दिनो मे आहार, शरीर सस्कार, अब्रह्मचर्य, और व्यापार का त्याग-इस प्रकार चतुर्विध प्रतिपूर्ण पोषध व्रत का करना, पोषध प्रतिमा है। यह प्रतिमा चार मास की होती है।

५ नियम प्रतिमा—उपर्युक्त सभी व्रतो का भली भाँति पालन करते हुए प्रस्तुत प्रतिमा मे निम्नोक्त नियम विशेपरूप से धारण करने होते है—वह स्नान नही करता, रात्रि मे चारो आहार का त्याग करता है। दिन मे भी प्रकाशभोजी होता है। धोती की लाग नही देता, दिनमे ब्रह्मचारी रहता है, रात्रि मे मैथुन की मर्यादा करता है। पोषध होने पर रात्रि-मैथुन का त्याग और रात्रि मे कायोत्सर्ग करना होता है। यह प्रतिमा कम से कम एक दिन, दो दिन और अधिक से अधिक पाँच मास तक होती है।

६ प्रतिमा—ब्रह्मचर्य का पूर्ण पालन करना। इस प्रतिमा की कालमर्यादा जघन्य एक रात्रि और उत्कृष्ट छह मास की है।

७ सचित्त त्याग प्रतिमा—सचित्त आहार का सर्वथा त्याग करना। यह प्रतिमा जघन्य एक रात्रि की और उत्कृष्ट कालमान से सात मास की होती है।

८ त्याग प्रतिमा—इस प्रतिमा मे स्वय आरम्भ नही करता, छह काय के जीवो की दया पालता है। इसकी काल मर्यादा जघन्य एक, दो, तीन दिन और उत्कृष्ट आठ मास होती है।

९ प्रेष्य प्रतिमा—इस प्रतिमा मे दूसरो के द्वारा आरम्भ कराने का भी त्याग होता है। वह स्वय आरम्भ, नही करता, न दूसरो से करवाता है, किन्तु अनुमोदन का उसे त्याग नही होता। इस प्रतिमा का जघन्यकाल एक, दो, तीन दिन है। और उत्कृष्ट काल नौ मास है।

१० उद्दिष्ट भक्त प्रतिमा—इस प्रतिमा मे उद्दिष्ट भक्त का भी त्याग होता है। अर्थात् अपने निमित्त से बनाया गया भोजन भी ग्रहण नही किया जाता। उस्तरे से सर्वथा शिरो मुण्डन करना होता है, या शिखामात्र रखनी होती है। किसी गृहस्थसम्बन्धी विषयो के पूछे जाने पर यदि जानता है तो जानता हूँ और यदि नही जानता है तो नही जानता हूँ—इतना मात्र कहे। उसके लिए अधिक वाग्व्यापार न करे। यह प्रतिमा जघन्य एक रात्रि की और उत्कृष्ट दस मास की होती है।

११ श्रमणभूत प्रतिमा—इस प्रतिमा मे श्रावक श्रमण तो नही, किन्तु श्रमणभूत अर्थात् मुनि हो जाता है। साधु के समान वेष बनाकर और साधु के योग्य ही भाण्डोपकरण धारण करके विचरता है। शक्ति हो तो लुञ्चन करता है, अन्यथा उस्तरे से शिरोमुण्डन कराता है। साधु के समान ही निर्दोष गोचरी करके भिक्षावृत्ति से जीवन यात्रा चलाता है। इसका जघन्य एक रात्रि अर्थात् एक दिन रात और उत्कृष्ट ग्यारह मास होता है।

बारह भिक्षु प्रतिमाएँ—

१ प्रतिमाधारी भिक्षु को एक दत्ति अन्न और एक दत्ति पानी की लेना है। साधु के पात्र मे दाता द्वारा दिए जाने वाले अन्न और जल की धारा जब तक वनी रहे, नाम दत्ति है। धारा खण्डित होने पर दत्ति की समाप्ति हो जाती है। जहाँ एक व्यक्ति के लिए भोजन वना हो वही से लेना चाहिए। किन्तु जहाँ दो तीन आदि अधिक व्यक्तियो के लिए भोजन वना हो, वहाँ से नही लेना। इसका एक महीना है।

२—७ दूसरी प्रतिमा भी एक मास की है। दो दत्ति आहार की, दो दत्ति पानी की लेना। इसी प्रकार तीसरी, चौथी, पाँचवी, छठी और सातवी प्रतिमाओ मे तीन, चार, पाँच, छह और सात दत्ति अन्न की और उतनी ही पानी की ग्रहण की जाती है। प्रत्येक प्रतिमा का एक-एक मास है। केवल दत्तियो की वृद्धि के कारण ही ये द्विमासिकी, त्रिमासिकी, चतुर्मासिकी, पञ्चमासिकी षाण्मासिकी और सप्तमासिकी कहलाती है।

८ यह आठवी प्रतिमा सप्तरात्रि=सात दिन रात की होती है। इसमे एकान्तर चौविहार करना होता है। गाँव के वाहर उत्तानासन (की ओर मुँह करके सीधा लेटना), पार्श्वासन (एक करवट से लेटना) निषद्यासन (पैरो को बराकर करके होना या बैठना) से लगाना चाहिए।

९ यह प्रतिमा भी सप्तरात्रि की होती है। इसमे चौविहार वेले-वेले पारणा किया जाता है। गाँव के बाहर एकान्त स्थान मे , लगुडासन उत्कटु- से ध्यान किया है।

१० यह भी सप्तरात्रि की होती है। इसमे चौविहार तेले-तेले पारणा किया है। गाँव के बाहर गोदोहन-आसन, वीरासन, आम्रकुब्जासन से किया जाता है।

११ यह प्रतिमा अहोरात्र की होती है। एक दिन और एक रात अर्थात् आठ प्रहर तक इसकी की जाती है। चौविहार वेले के द्वारा इसकी आराधना होती है। नगर के वाहर दोनो हाथो को घुटनो की ओर लम्बा करके दण्डायमान रूप मे खड़े होकर कायोत्सर्ग किया है।

१२ यह प्रतिमा एक रात्रि की है। अर्थात् इसका समय केवल एक रात है। इसका आराधन वेले को व चौविहार तेला करके किया है। गाँव के बाहर खड़े होकर, मस्तक को थोड़ा-सा झुकाकर, किसी एक पुद्गल पर दृष्टि रखकर, निर्निमेष नेत्रो से निश्चलतापूर्वक कायोत्सर्ग किया जाता है। उपसर्गो के आने पर उन्हे समभाव से सहन किया जाता है।

तेरह क्रियास्थान—

१ अर्थक्रिया—अपने किसी अर्थ—प्रयोजन के लिए त्रस स्थावर जीवो का हिंसा करना, कराना तथा अनुमोदन करना। 'अर्थाय क्रिया अर्थ क्रिया।'

२ अनर्थ क्रिया—बिना किसी प्रयोजन के किया जाने वाला पाप कर्म अनर्थ क्रिया कहलाता है। व्यर्थ ही किसी को सताना, पीडा देना।

३ ॉ क्रिया—अमुक व्यक्ति मुझे अथवा मेरे स्नेहियो को कष्ट देता है, देगा अथवा दिया है—यह सोचकर किसी प्राणी की हिंसा करना, हिंसा क्रिया है।

४ अकस्मात् क्रिया—शीघ्रतावश बिना जाने हो जाने पाप, अकस्मात् क्रिया कहलाता है। बाणादि से अन्य की हत्या करते हुए अचानक ही अन्य किसी की हत्या हो जाना।

५ दृष्टि विपर्यास क्रिया—मतिभ्रम से होने पाप। चौरादि के भ्रम मे साधारण निरपराध व्यक्ति को दण्ड देना।

६ मृषा क्रिया—झूठ बोलना।

७ क्रिया—चोरी करना।

८ क्रिया—बाह्य निमित्त के बिना मन मे होने शोक आदि का दुर्भाव।

९ मान क्रिया—अपनी करना, ।

१०. मित्र क्रिया—प्रियजनो को कठोर दण्ड देना आदि।

११ क्रिया—दम्भ करना।

१२ लोभ क्रिया—लोभ करना।

१३ ईर्यापथिकी क्रिया—अप्रमत्त विवेकी सयमी को भी गमनागमन आदि से लगने वाली अल्पकालिक क्रिया।

चौदह भूतग्राम-जीवसमूह—

सूक्ष्म एकेन्द्रिय, एकेन्द्रिय द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असज्ञी पञ्चेन्द्रिय और सज्ञी पञ्चेन्द्रिय। इन सातो के पर्याप्त और अपर्याप्त—कुल चौदह भेद होते हैं। इनकी विराधना करना, किसी भी प्रकार की पीडा देना वर्जित है।

पन्द्रह परमाधार्मिक

१ अम्ब २ अम्बरीष ३ ४ ५ रौद्र ६ उपरौद्र ७ काल ८ महाकाल ९ असिपत्र १० धनु ११ कुम्भ १२ वालुक १३ वैतरणि १४

१५ महाघोष। ये परम-आधार्मिक अर्थात् पापाचारी, क्रूर एव निर्दय असुर जाति के देव हैं। इनके हिंसाकर्मों का अनुमोदन नही करना।

षोडशक—(सूत्र कृताग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध के १६)

१ परसमय २ वैतालीय ३ उपसर्गपरिज्ञा ४ स्त्रीपरिज्ञा ५ नरक विभक्ति ६ वीर स्तुति ७. कुशीलपरिभाषा ८ वीर्य ९ धर्म १० समाधि ११ मार्ग १२ समवसरण १३ १४ ग्रन्थ १५ आदानीय १६ गाथा।

सतरह —

१—९ पृथिवीकाय, अप्‌काय, तेजस्काय, वायुकाय और वनस्पति काय तथा द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय नौ प्रकार के जीवो की हिंसा , कराना, अनुमोदन करना।

१० अजीव —अजीव होने पर भी जिन वस्तुओ के द्वारा होता हो, उन बहुमूल्य वस्त्र पात्र आदि का ग्रहण करना अजीव है।

११. प्रेक्षाअसयम—जीवसहित स्थान मे उठना, बैठना, सोना आदि।

१२ उपेक्षा —गृहस्थ के पाप कर्मों का अनुमोदन करना।

१३ अपहृत्य —अविधि से किसी अनुपयोगी वस्तु का परठना। इसे परिष्ठापना भी कहते है।

१४ प्रमार्जना — पात्र आदि की प्रमार्जना न करना।

१५ मन —मन मे दुर्भाव रखना।

१६ —कुवचन या बोलना

१७ -असयम—गमनागमनादि क्रियाओ मे रहना।

अठारह अब्रह्मचर्य—

देवसम्बन्धी भोगो का मन, और काय से स्वय सेवन करना, दूसरो से करवाना, तथा करते हुए को भला जानना— इस प्रकार नौ भेद वैक्रिय शरीर सम्बन्धी होते हैं। मनुष्य तथा तिर्यञ्चसम्बन्धी औदारिक भोगो के भी इसी तरह नौ भेद लेने चाहिए। मिलाकर अठारह भेद होते हैं।

धर्म के १९ —

१ उत्क्षिप्त अर्थात् मेघकुमार, २ , ३. अण्ड, ४ कूर्म ५ शैलक, ६ तुम्ब, ७ रोहिणी, ८ मल्ली, ९ माकन्दी १० चन्द्रमा, ११ दावद्रव, १२ १४ मण्डूक, १४ तेतलि, १५. नन्दीफल १६. १७ आकीर्णक १८ सु सु-मादारिका १९ पुण्डरीक।

उक्त उन्नीस उदाहरणो के भावानुसार साधुधर्म की साधना करने का विधान है।

असमाधि —

१ द्रुत द्रुत चारित्व=जल्दी जल्दी चलना।
२ अप्रमृज्य चारित्व=बिना पूँजे रात्रि आदि के अन्धकार मे चलना।
३ दुष्प्रमृज्य चारित्व=बिना उपयोग के प्रमार्जन करना।
४ अतिरिक्त शय्यासनिकत्व=अमर्यादित शय्या और आसन रखना।
५ रात्निक =गुरुजनो का अपमान करना।
६ स्थविरोपघात=स्थविरो का उपहनन=अवहेलना करना।
७ भूतोपघात=भूत अर्थात् जीवो का उपहनन (हिंसा) करना।
८ =प्रतिक्षण यानी बार-बार क्रोध करना।
९ दीर्घकोप=चिरकाल तक क्रोध रखना।
१० पृष्ठमासिकत्व=पीठ पीछे निन्दा करना।
११ अधिक्ष्ण =सशक होने पर भी निश्चित भाषा बोलना।
१२ नवाधि =नित्य नए कलह करना।
१३ न्तकलहोदीरण=शान्त हुए कलह को पुन उत्तेजित करना।
१४. = मे स्वाध्याय करना।
१५ सरजस्कपाणि-भिक्षाग्रहण=सचित्तरजसहित हाथ आदि से भिक्षा लेना।
१६ =पहर रात के बाद जोर से बोलना।
१७ ण=गणभेदकारी अर्थात् सघ मे फूट डालने वाले वचन बोलना।
१८ कलहकरण=आक्रोश आदि रूप कलह करना।
१९ सूर्यप्रमाणभोजित्व=दिन भर न कुछ खाते-पीते रहना।
२० एषणाऽसमितत्व=एषणा समिति का उचित ध्यान न रखना।

इक्कीस शबल दोष—

१ हस्त कर्म=हस्त-मैथुन करना।
२ मैथुन=स्त्री स्पर्श आदि रूप मैथुन करना।
३ रात्रि भोजन—रात्रि मे भोजन लेना और करना।
४ आ =साधु के निमित्त से गया भोजन लेना।
५ सागारिकपिण्ड=शय्यातर अर्थात् का आहार लेना।
६ औद्देशिक=साधु के या याचको के निमित्त गया, क्रीत=खरीदा हुआ, आहृत=स्थान पर दिया हुआ, प्रामित्य=उधार लिया हुआ, आच्छिन्न=छीन कर लाया हुआ आहार लेना।

७ भग=बार-बार भग करना।

८ गण परिवर्तन= मास के अन्दर ही जल्दी जल्दी गण से गणान्तर में जाना।

९ लेप=एक मास मे तीन वार नाभि या जघा प्रमाण जल मे प्रवेश कर नदी आदि पार करना।

१० मातृस्थान=एक मास मे तीन वार सेवन करना। अर्थात् कृत को छुपा लेना।

११ राजपिण्ड=राजपिण्ड ग्रहण करना।

१२ आकुट्या हिंसा=जानबूझ कर हिंसा ।

१३. आकुट्या . =जानबूझ कर झूठ बोलना।

१४. आकुट्या =जानबूझकर चोरी करना।

१५ सचित्त पृथ्वी स्पर्श=जानबूझकर सचित्त पृथिवी पर बैठना, सोना, खडे होना।

१६ इसी सचित्त जल से सस्निग्ध और सचित्त रजवाली पृथिवी, सचित्त शिला घुणो वाली लकडी आदि पर बैठना, सोना, कायोत्सर्ग आदि करना।

१७. जीवो वाले पर तथा प्राण, बीज, हरित, कीडी नगरा, लीलन—फूलन, पानी, कीचड, और मकडी के जालो वाले पर बैठना, सोना, कायोत्सर्ग आदि ।

१८ जानबूझकर कन्द, मूल, , , पुष्प, फूल, बीज तथा हरितकाय का भोजन करना।

१९ वर्ष के दस बार लेप लगाना अर्थात् नदी पार करना।

२० वर्ष मे दस मायास्थानो का सेवन ।

२१ जानबूझकर बार-बार सचित्त जल वाले हाथ से तथा सचित्त जल से लिप्त कडछी आदि से दिया जाने आहार ग्रहण ।

बाईस परीषह

देखिए, का दूसरा परीषह -

ग सूत्र के २३ —

श्रुतस्कन्ध के सोलह सोलहवें बोल मे आए है। शेष द्वितीय श्रुतस्कन्ध के इस हैं—१७ पौण्डरीक १८ क्रियास्थान १९ आहार परिज्ञा २० प्रत्याख्यान परिज्ञा २१ श्रुत २२ आर्द्रकीय २३ नालन्दीय।

उक्त तेईस अध्ययनो के कथनानुसार सयमी जीवन न होना, दोष है।

चौबीस देव—

यहाँ रूप का अर्थ एक है। अत पूर्वोक्त तेईस मे एक अधिक मिलाने से रूपाधिक का अर्थ २४ होता है। असुरकुमार आदि दश भवनपति, भूत-यक्ष आदि आठ व्यन्तर, सूर्य-चन्द्र आदि पाँच ज्योतिष्क और एक वैमानिक देव—इस प्रकार कुल चौबीस जाति के देव है। इनकी करना भोग जीवन की करना है और निन्दा करना द्वेष भाव है, अत मुमुक्षु को भाव ही रखना चाहिए।

मे २४ देवो से २४ तीर्थ करो को ग्रहण किया गया है।

पाँच व्रतो की २५ भावनाएँ—

अहिंसा व्रत की ५ भावनाएँ—

१ ईर्या समिति=उपयोग पूर्वक गमनागमन करे। २ आलोकित पान-भोजन=देखभालकर प्रकाशयुक्त मे आहार करे। ३ आदान निक्षेप समिति=विवेक पूर्वक पात्रादि उठाए तथा रक्खे। ४ मनोगुप्ति=मन का सयम। ५ वचन गुप्ति=वाणी का ।

द्वितीय सत्य महाव्रत की ५ भावनाएँ—

१ अनुविचिन्त्य भाषणता=विचारपूर्वक बोलना, २ क्रोधविवेक=क्रोध का , ३ लोभविवेक=लोभ का , ४ भय-विवेक=भय का त्याग, ५ हास्यविवेक=हँसी का त्याग।

तृतीय महाव्रत की ५ भावना—

१ अवग्रहानुज्ञापना=अवग्रह अर्थात् वसति लेते समय उसके स्वामी को अच्छी तरह आज्ञा माँगना। २ अवग्रह सीमापरिज्ञानता=अवग्रह के स्थान की सीमा का यथोचित ज्ञान करना। ३ अवग्रहानुग्रहणता=स्वय अवग्रह की याचना करना अर्थात् वसतिस्थ तृण, पट्टक आदि अवग्रह-स्वामी की लेकर ग्रहण करना ४, गुरुजनो तथा अन्य साधर्मिको की लेकर ही सबके सयुक्त भोजन मे से भोजन । ५ मे पहले से रहे हुए साधर्मिको की आज्ञा लेकर ही वहाँ रहना तथा अन्य प्रवृत्ति करना।

चतुर्थ ब्रह्मचर्य महाव्रत की ५ भावनाए—

१ अति स्निग्ध पौष्टिक आहार नही करना २. पूर्व भुक्त भोगो का स्मरण नही करना शरीर की विभूषा नही करना । ३ स्त्रियो के अग उपाग नही देखना ४ स्त्री, पशु और नपु सक वाले स्थान मे नही ठहरना । ५ स्त्रीविषयक चर्चा नही करना ।

पचम अपरिग्रह महाव्रत की ५ भावनाएँ—

(१–५) पाँचो इन्द्रियो के विषय शब्द, रूप, गध, रस ओर स्पर्श के इन्द्रिय-गोचर होने पर मनोज्ञ पर रागभाव तथा अमनोज्ञ पर द्वेपभाव न लाकर उदासीन भाव ।

दशाश्रुत आदि ी के २६ उद्देशन काल—

स्कन्ध सूत्र के दश उद्देश, वृहत्कल्प के छह उद्देश, और व्यवहार सूत्र के दश उद्देश—इस प्रकार सूत्रत्रयी के छब्बीस उद्देश होते है। जिस श्रुतस्कन्ध या के जितने उद्देश होते हैं उतने ही वहाँ उद्देशनकाल अर्थात् श्रुतोपचार-रूप उद्दे होते हैं। एक दिन मे जितने श्रुत की वाचना (अध्यापन) दी जाती है, उसे 'एक उद्देशन काल' कहा जाता है।

सत्ताईस के गुण—

(१–५) अहिंसा, सत्य, य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह रूप पाँच महाव्रतो का पालन करना। (६) रात्रि भोजन का त्याग करना (७-११) पाँचो इन्द्रियो को वश मे (१२) भाव सत्य=अन्त की शुद्धि (१३) करण सत्य=वस्त्र पात्र आदि की भली-भाँति प्रतिलेखना करना (१४) क्षमा (१५) विरागता=लोभ-निग्रह (१६) मन की शुभ प्रवृत्ति (१७) वचन की शुभ प्रवृत्ति (१८) काय की शुभ प्रवृत्ति (१९-२४) छह काय के जीवो की रक्षा (२५) सयम-योगयुक्तता (२६) वेदना ऽभिसहन=तितिक्षा अर्थात् शीत आदि से सम्बन्धित कष्टसहिष्णुता (२७) मारणान्तिका-ऽभिसहन=मारणान्तिक कष्ट को भी समभाव से सहना। उक्त गुण आचार्य हरिभद्र ने सूत्र की शिष्यहिता वृत्ति मे बताए हैं। समवायाग सूत्र मे भिन्नता है।

अट्ठाईस प्रकल्प—

(१) शस्त्रपरिज्ञा (२) लोकविजय (३) शीतोष्णीय (४) सम्यक्त्व (५) आवती—लोकसार (६) धुताध्ययन (७) महापरिज्ञा (८) विमोक्ष (९) उपधानश्रुत (१०) पिण्डैषणा (११) (१२) ईर्या (१३) भाषा (१४) (१५) पात्रैषणा (१६) अवग्रह प्रतिमा (१६+७=२३) सप्त स्थानादि सप्तसप्तिका (२४) भावना (२५) विमुक्ति (२६) उद्घात (२७) अनुद्घात (२८) और आरोपणा। के २५ आचाराग सूत्र के है, तथा उद्घातादि तीन निशीथ सूत्र के है।

पापश्रुत के २९ भेद—

(१) भौम=भूमिकम्प आदि का फल बताने वाला । (२) = रुधिर वृष्टि, दिशाओ का लाल होना इत्यादि का शुभाशुभ फल बताने निमित्त । (३) स्वप्नशास्त्र । (४) अन्तरिक्ष= मे होने वाले ग्रहवेध आदि का वर्णन करने । (५) अग =शरीर के स्पन्दन आदि का फल कहने । (६) स्वर । (७) व्यजन =तिल, मष आदि का वर्णन करने । (८) =स्त्री पुरुषो के लक्षणो का शुभाशुभ फल बताने ।

ये आठो ही सूत्र, वृत्ति और वार्तिक के भेद से चौबीस हो जाते हैं।

(२५) विकथानुयोग=अर्थ और काम के उपायो को बताने वाले , जैसे वात्स्यायनकृत कामसूत्र आदि । (२६) विद्यानुयोग=रोहिणी आदि विद्याओ की सिद्धि के बताने वाले । (२७) मन्त्रानुयोग=मन्त्र आदि के द्वारा कार्य-सिद्धि बताने वाले । (२८) योगानुयोग=वशीकरण आदि योग बताने वाले । (२९) अन्यतीर्थिकानुयोग=अन्यतीर्थिको प्रवर्तित एव अभिमत हिंसा- ।

मोहनीय के ३० —

१ त्रस जीवो को पानी मे कर मारना । २ त्रस जीवो को आदि रोक कर मारना । ३ त्रस जीवो को आदि मे बद करके धुएँ से घोट कर मारना । ४ त्रस जीवो को पर दण्ड आदि का प्रहार करके । ५ त्रस जीवो को पर गीला आदि बाँध कर मारना । ६ पथिको को धोखा देकर लूटना । ७ गुप्तरीति से अनाचार का सेवन करना । ८ दूसरे पर मिथ्या लगाना । ९ सभा मे जान बूझकर मिश्र =सत्य जैसा प्रतीत होने झूठ बोलना । १० राजा के राज्य का ध्वस करना । ११ बाल-ब्रह्मचारी न होते हुए भी बाल ब्रह्मचारी कहलाना । १२ ब्रह्मचारी न होते हुए भी ब्रह्मचारी का ढोग रचना । १३ का धन चुराना । १४ कृत उपकार को न मानकर कृतघ्नता करना । १५ गृहपति सघपति आदि की हत्या । १६ राष्ट्रनेता की हत्या करना । १७ के आधारभूत विशिष्ट परोपकारी पुरुष की हत्या । १८ दीक्षित साधु को सयम से भ्रष्ट करना १९ केवल ज्ञानी की निन्दा करना । २० अहिंसा आदि मोक्ष मार्ग की बुराई करना । २१ आचार्य तथा की निन्दा करना । २२ आचार्य तथा उपाध्याय की सेवा न करना । २३ बहुश्रुत न होते हुए भी बहुश्रुत=पण्डित कहलाना । २४ तप-स्वी न होते हुए भी अपने को तपस्वी कहना । २५ शक्ति होते हुए भी अपने आश्रित

वृद्ध, रोगी आदि की सेवा न करना। २६ हिंसा तथा कामोत्पादक विकथाओ का बार-बार प्रयोग करना। २७ जादू-टोना आदि करना। २८. कामभोग मे अत्यधिक लिप्त रहना, रहना। २९ देवताओ की निन्दा करना। ३० देवदर्शन न होते हुए भी प्रतिष्ठा के मोह से देवदर्शन की बात कहना।

सिद्धो के ३१ अतिशायी गुण—

१ क्षीण-मतिज्ञानावरण २ क्षीण श्रुतज्ञानावरण ३. क्षीण अवधिज्ञानावरण ४ क्षीण मन पर्यायज्ञानावरण। ५ क्षीण-केवल ज्ञानावरण। ६ क्षीण-चक्षुर्दर्शनावरण ७ क्षीण अचक्षुर्दर्शनावरण ८ क्षीण अवधिदर्शनावरण ९ क्षीण केवल दर्शनावरण। १०. क्षीण-निद्रा। ११ क्षीण निद्रा निद्रा। १२. क्षीणप्रचला १३ क्षीण प्रचला प्रचला। १४ क्षीण स्त्यानगृद्धि। १५. क्षीण सातवेदनीय। १६ क्षीण असातवेदनीय। १७ क्षीण दर्शन मोहनीय। १८ क्षीण चारित्र मोहनीय। १९. क्षीण नैरयिकायु। २०. क्षीण तिर्यचायु। २१. क्षीण मनुष्यायु। २२. क्षीण देवायु। २३ क्षीण उच्चगोत्र। २४ क्षीण नीचगोत्र। २५ क्षीण शुभनाम। २६. क्षीण अशुभनाम। २७ क्षीण दानान्तराय। २८ क्षीण लाभान्तराय। २९. क्षीण भोगान्तराय। ३० क्षीण उप-भोगान्तराय। ३१. क्षीण वीर्यान्तराय।

बत्तीस योग —

१ गुरुजनो के पास दोषो की आलोचना करना। २ किसी के दोषो की आलोचना सुनकर अन्य के पास न कहना ३ पडने पर भी धर्म मे दृढ रहना। ४. आसक्ति रहित तप करना। ५. सूत्रार्थग्रहणरूप ग्रहण शिक्षा एव प्रतिलेखना आदि रूप आसेवना=आचार शिक्षा का अभ्यास करना। ६. शोभा-शृगार नही करना। ७ पूजा प्रतिष्ठा का मोह त्याग कर तप करना। ८ लोभ का त्याग ९. तितिक्षा १० आर्जव=सरलता। ११ शुचि=सयम एव सत्य की पवित्रता। १२ शुद्धि। १३. समाधि=प्रसन्नचित्तता। १४ आचार पालन मे माया न करना। १५ विनय। १६ धैर्य। १७. सवेग=सासारिक भोगो से भय मोक्षाभिलाषा। १८ माया न करना। १९. सदनुष्ठान। २०. सवर=पापाश्रव को रोकना। २१ दोषो की शुद्धि करना। २२. काम भोगो से विरक्ति २३. मूल गुणो का पालन। २४ उत्तर गुणो का पालन २५. व्युत्सर्ग करना। २६ न करना। २७ प्रतिक्षण सयम यात्रा मे सावधानी रखना। २८. शुभ ध्यान। २९ मारणान्तिक वेदना होने पर भी अधीर न होना। ३० सग का परित्याग करना। ३१ प्रायश्चित ग्रहण करना। ३२ अन्त समय मे सलेखना करके बनना।

तेतीस —

१ मार्ग मे रत्नाधिक (अपने से दीक्षा मे बडे) से आगे चलना। २ मार्ग मे रत्नाधिक के बराबर चलना। ३ मार्ग मे रत्नाधिक के पीछे अडकर चलना। (४–६) रत्नाधिक के आगे, बराबर मे तथा पीछे खडे होना। (७–९) रत्नाधिक के आगे, बराबर मे तथा पीछे अडकर बैठना। १० रत्नाधिक और शिष्य विचार-भूमि (शौचार्थ) मे गए हो, वहाँ रत्नाधिक से पूर्व आचमन-शौचशुद्धि करना। ११ बाहर से उपाश्रय मे लौटने पर रत्नाधिक से पहले ईर्यापथ की आलोचना करना। १२ रात्रि मे रत्नाधिक की ओर से 'कौन जागता है ?' पूछने पर जागते हुए भी उत्तर न देना। १३ जिस व्यक्ति से, रत्नाधिक को पहले बात-चीत करनी चाहिए, उससे पहले स्वय ही बात-चीत करना। १४ आहार आदि की आलोचना प्रथम दूसरे साधुओ के करने के बाद रत्नाधिक के समुख करना। १५ आहार आदि प्रथम दूसरे साधुओ को दिखला कर बाद मे रत्नाधिक को दिखलाना। १६ आहार आदि के लिए प्रथम दूसरे साधुओ को निमन्त्रित कर बाद मे रत्नाधिक को निमन्त्रण देना। १७ रत्नाधिक को बिना पूछे दूसरे साधु को उसकी इच्छानुसार प्रचुर आहार देना। १८ रत्नाधिक के साथ आहार करते समय सुस्वादु आहार स्वय खा लेना, आहार भी शीघ्रता से अधिक खा लेना। १९ रत्नाधिक के बुलाये जाने पर सुना-अनसुना कर देना। २० रत्नाधिक के प्रति या उनके कठोर मर्यादा से अधिक बोलना २१ रत्नाधिक के द्वारा बुलाये जाने पर शिष्य को उत्तर मे 'मत्थएण वदामि' कहना चाहिए। ऐसा न कह कर 'क्या कहते हो' इन शब्दो मे उत्तर देना। २२ रत्नाधिक के द्वारा बुलाने पर शिष्य को उनके समीप आकर बात सुननी चाहिए। ऐसा न करके आसन पर बैठे ही बैठे बात सुनना और उत्तर देना। २३ गुरुदेव के प्रति 'तू' का प्रयोग करना २४ गुरुदेव किसी कार्य के लिए दें तो उसे स्वीकार न करके उल्टा उन्ही से कहना कि 'आप ही कर लें।' २५ गुरुदेव के धर्मकथा कहने पर ध्यान से सुनना और रहना, प्रवचन की न करना। २६ रत्नाधिक धर्म-कथा करते हो तो बीच मे ही रोकना कि—'आप भूल गए। यह ऐसे नही, ऐसे है, २७ रत्नाधिक धर्मकथा कर रहे हो, उस समय किसी से कथाभग करना और स्वय कथा कहने लगना। २८ रत्नाधिक धर्मकथा करते हो उस समय परिषद् का भेदन और कहना कि—'कब तक कहोगे, भिक्षा का समय हो गया है। २९ रत्नाधिक धर्म-कथा कर चुके हो और जनता अभी बिखरी न हो तो उस सभा मे गुरु देव कथित धर्मकथा का ही अन्य और कहना कि, 'इसके ये भाव और होते है।' ३० गुरुदेव के शय्या-सस्तारक को पैर से छूकर क्षमा माँगे बिना ही चले जाना। ३१ गुरुदेव के -स पर खडे होना, बैठना और सोना।

३२ गुरुदेव के से ऊँचे पर खडे होना, बैठना और सोना। ३३. गुरुदेव के के बराबर पर खडे होना, बैठना और सोना।

उक्त बोलो मे से बोलो के आगम तथा टीकाओ मे अन्य भी है।

श्री अमरमुनि जी द्वारा सम्पादित श्रमण सूत्र मे विस्तार से वर्णन है। एक से लेकर तेंतीस तक के बोल , तथा वर्जन के योग्य है।

३२

गाथा १— का अर्थ है, वह जिसका अन्त न हो। 'अन्त' का अर्थ है—छोर, किनारा, समाप्ति। वस्तु के दो छोर होते है—आरम्भ और अन्त। यहाँ आरम्भ, अर्थ ग्राह्य है। अर्थात् वह अतीत जिसका आरम्भ नही है, आदि नही है, अनादि।

२—गुरु का अर्थ है—शास्त्र का यथार्थवेत्ता। वृद्ध के तीन है—श्रुत वृद्ध, पर्याय—दीक्षा वृद्ध, और वयोवृद्ध।

२३—प्रस्तुत मे दो बार 'ग्रहण' का प्रयोग है। कर्ता अर्थ मे है—'गृह्णतीति ग्रहणम्'—अर्थात् ग्राहक। दूसरा ग्राह्य (विषय) अर्थ मे हैं— 'गृह्यते इति म्।' इन्द्रिय और उसके विषय मे ग्राह्य-ग्राहक भाव अर्थात् उपकार्योपकारक भाव है। रूप ग्राह्य है, चक्षु ग्राहक है, जानने है।

३७—'हरिणमृग' मे पुनरुक्ति नही है। मृग के मृग शीर्ष नक्षत्र, हाथी की एक जाति, पशु और हरिण आदि अनेक अर्थ हैं। यहाँ मृग का अर्थ 'पशु' है।

५०—टीकाकारो ने यहाँ 'औषधि' से नागदमनी आदि औषधि ग्रहण की है।

८७—मन का ग्राह्य भाव है। वह यहाँ अतीत भोगो की स्मृति-रूप है, और भविष्य के भोगो की अर्थात् है। भाव अर्थात् विचार इन्द्रियो का विषय नही है, इसलिए पृथक् है—'इन्द्रियाविषयत्वात्' —सर्वार्थसिद्धि वृत्ति।

८९—मन के हाथी को पहले की पकडी हुई शिक्षित हथिनी के आता है। प्रश्न है—हथिनी को देखकर कामासक्त होना, यह तो चक्षु इन्द्रिय और रूप से सम्बन्धित है। भाव मे कैसे ग्रहण है? यहाँ मन की है। रूपदर्शन के पश्चात् जो होती है, उसमे चक्षु इन्द्रिय का व्यापार नही है, मन की ही प्रवृत्ति है।

गाथा १०७—'सकल्प' मे आए 'कल्प' का अर्थ राग-द्वेष-मोह रूप -साय है। विकल्पना का अर्थ है—उन के मे सर्वदोषमूलत्वादि की परिभावना

करना। अर्थात् यह चिन्तन करना कि ादि पाप के हेतु नही हैं, वस्तुत रागादि ही हेतु हैं।

अ ३३

१—समास का अर्थ सक्षेप है। सक्षेप से आठ कर्म हैं, अभिप्राय है कि वैसे तो जितने प्राणी है, उतने ही कर्म हैं, अर्थात् कर्म अनन्त है। यहाँ विशेष- की विवक्षा से आठ भेद है।

गोत्र का अर्थ है—'कुलक्रमागत आचरण।' उच्च आचरण उच्च गोत्र है, और नीच नीच गोत्र। अतएव गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गाथा १३ मे कहा है— नीच , नीच गोद।'

६—सुखप्रतिबोधा निद्रा है। दु खप्रतिबोधात्मिका अतिशायिनी निद्रा-निद्रा है। बैठे-बैठे सो जाना निद्रा है—'प्रचलत्यस्यामासीनोऽपि। चलते हुए भी सो जाना - है। 'प्रचलैवातिशायिनी चक् प्र - ।'

'स्त्यानर्द्धि' का अर्थ है—जिसमे सबसे अधिक ऋद्धि अर्थात् गृद्धि का है, उपचय है, वह निद्रा। वासुदेव का बल आ है, इसमे। ेष प्राणी इस निद्रा मे बड़े-बड़े जैसे कर्म कर लेता है और उसे भान ही नही होता कि मैंने क्या किया है?

७—'स्वाद्यते इति सातम्'—इस निर्युक्ति से स्वादु अर्थ मे 'सात' शब्द निष्पन्न है। सात का अर्थ है—शारीरिक और मानसिक । शारीर च'—सर्वार्थसिद्धिवृत्ति। तद्विपरीत है, दु ख है।

९—' मोहनीय कर्म' लिकरूप है, अत उसके उदय मे भी तत्त्वरुचिरूप हो है। पर, उसमे आदि अतिचारो की मलिनता बनी रहती है। मिथ्यात्व अशुद्धदलिकरूप है, उसके कारण तत्त्व मे अतत्त्वरुचि और मे तत्त्वरुचि होती है। सम्यग्मिथ्यात्व के दलिक -शुद्ध अर्थात् मिश्र हैं।

गाथा १०—'नोकषाय' मे प्रयुक्त 'नो' का अर्थ 'सहश' है। जो के हैं, के सहवर्ती हैं, वे हास्य, रति, अरति आदि नोकषाय हैं।

गाथा ११—एक बार भोग मे आने वाले पुष्प, आहार आदि भोग है। बार-बार भोग मे आने वाले वस्त्र, , आदि उपभोग है।

दान लेने भी है, देय वस्तु भी है, दान के फल को भी है, फिर भी दान मे प्रवृत्ति न होना, दानान्तराय है। उदार दाता के होने पर भी याचना-निपुण भी न पा सके, यह है।

धन वैभव और अन्य वस्तु के होने पर भी भोगोप-भोग न कर सके, वह भोगान्तराय और उपभोगान्तराय है।

बलवान् और निरोग होते हुए भी तिनका तोडने जैसी भी -शक्ति का न होना, वीर्यान्तराय है।

इनके जघन्य, , आदि अनेक भेद हैं।

गाथा १७—एक मे बँधने वाले कर्मों का प्रदेशाग्र (कर्मपुद्गलो के परमाणुओ का परिमाण) अनन्त है। अर्थात् के प्रत्येक प्रदेश पर एक समय मे परमाणुओ से निष्पन्न कर्मवर्गणाएँ श्लिष्ट होती है।

ये कर्मवर्गणाएँ जीवो से गुणा अधिक और सिद्धो से अनन्तवें भाग होती हैं। अर्थात् एक कर्म वर्गणाओ से सिद्ध गुणा अधिक है।

जीवो को ग्रन्थिकसत्त्व कहते है। अभव्यो की सम्यक्त्वप्रतिरोधक तथा मिथ्यात्वमूलक तीव्र राग-द्वे ग्रन्थि अभेद्य होती है, अत उन्हे ग्रन्थिक ग्रन्थिग (जीव) कहा है।

१८—पूर्व आदि चार, और ऊर्ध्व एव अध ये छह दिशाएँ है। जिस क्षेत्र मे जीव है, रह रहा है, वही के कर्मपुद्गल रागादि स्नेह के योग से आत्मा मे बद्ध हो जाते हैं। भिन्न क्षेत्र मे रहे हुए कर्म पुद्गल वहाँ से को नही लगते।

ईशान आदि विदिशाओ के भी कर्म पुद्गल बधते हैं, पर विदिशाएँ दिशाओ मे गृहीत हो जाने से यहाँ अविवक्षित है।

यह छह दिशाओ का कर्मबन्धसम्बन्धी नियम द्वीन्द्रिय जीवो से लेकर पञ्चेन्द्रिय तक जीवो को लक्ष्य मे गया है। एकेन्द्रिय जीवो के लिए तो कभी तीन, कभी चार, कभी पाँच, और कभी छह दिशाओ का उल्लेख है।

ज्ञानावरणादि सभी कर्म के सभी प्रदेशो से बँधते हैं, अमुक प्रदेशो पर ही नही। के प्रदेश बुद्धिपरिकल्पित हैं, पुद्गल की तरह से मिलने-बिछुडने वाले परमाणु जैसे नही।

गाथा १९-२०—प्रस्तुत मे वेदनीय कर्म की स्थिति भी अन्तर्मु ही बतायी गई है, जबकि १२ का उल्लेख है। टीकाकार कहते हैं, क्या अभिप्राय है, हम नही जानते। 'तत्रा न विद्म.।'

३४

१—कर्मलेश्या का अर्थ है—कर्म बन्ध के हेतु रागादिभाव। लेश्याएँ भाव और द्रव्य के भेद से दो प्रकार की हैं। आचार्य कषायानुरजित योग-प्रवृत्ति को लेश्या कहते हैं। इस दृष्टि से यह छद्मस्थ व्यक्ति को ही हो सकती है। किन्तु शुक्ल लेश्या १३ वें गुण स्थानवर्ती केवली को भी है, अयोगी केवली को नही। अत योग की प्रवृत्ति ही लेश्या है। तो केवल उसमे तीव्रता आदि का सनिवेश करती है। आवश्यक चूर्णि मे जिनदास महत्तर ने कहा है—"लेश्याभिरात्मनि कर्माणि सश्लिष्यन्ते। योगपरिणामो लेश्या। अयोगिकेवली अलेस्सो।"

गाथा ११—त्रिकटुक से अभिप्राय सू ठ, मिरच और पिप्पल के एक सयुक्त योग से है। "याहशरि शु ठि-मिरिच-पिप्पल्यारसस्तीक्ष्ण"—सर्वार्थ-सिद्धिवृत्ति।

गाथा २०—जघन्य, , के भेद से सर्वप्रथम लेश्या के तीन हैं। जघन्य आदि तीनो के फिर , , के भेद से तीन-तीन होने से नौ भेद होते है। फिर इसी क्रम से त्रिक की गुणनप्रक्रिया से २७, ८१ और २४३ भेद होते हैं। यह एक की वृद्धि का स्थूल है। वैसे तारतम्य की दृष्टि से का नियम नही है। स्वय उक्त (गा० ३३) मे प्रकर्षापकर्ष की दृष्टि से लोकाकाश प्रदेशो के परिमाण के अनुसार स्थान बताए हैं। अशुभ लेश्याओ के सक्लेशरूप परिणाम हैं, और शुभ के विशुद्ध परिणाम हैं।

गाथा ३४—मुहूर्तार्ध शब्द से सर्वथा समविभाग रूप 'अर्ध' अर्थ विवक्षित नही है। अत एक समय से ऊपर और पूर्ण मुहूर्त से नीचे के सभी छोटे-बड़े अश विवक्षित हैं। इस दृष्टि से मुहूर्तार्ध का अर्थ अन्तर्मुहूर्त है।

गाथा ३८—यहाँ पद्म लेश्या की एक मुहूर्त अधिक दस सागर की स्थिति जो बताई है, उसमे मुहूर्त से पूर्व एव भव से सम्बन्धित दो अन्तर्मुहूर्त विवक्षित है।

नील लेश्या आदि के स्थिति वर्णन मे जो पल्योपम का असख्येय भाग है, उसमे भी पूर्वोत्तर भवसम्बन्धी अन्तर्मुहूर्तद्वय प्रक्षिप्त हैं। फिर भी असख्येय भाग कहने से कोई हानि नही है। क्योकि असख्येय के भी असख्येय भेद होते हैं।

गाथा ४५-४६—तिर्यंच और मनुष्यो मे जघन्य और दोनो ही रूप से लेश्याओ की स्थिति अन्तर्मुहूर्त है। यह भाव लेश्या की दृष्टि से कथन है। व्यक्ति के भाव अन्तर्मुहूर्त से अधिक एक स्थिति मे नही रहते।

परन्तु यहाँ केवला अर्थात् शुद्ध शुक्ल लेश्या को छोड दिया है। क्योकि सयोगी केवली की उत्कृष्ट केवलपर्याय नौ वर्ष कम पूर्वकोटि है। और सयोगकेवली को एक जैसे अवस्थित भाव होने से उनकी शुक्ल लेश्या की स्थिति भी नववर्षन्यून पूर्व-कोटि ही है।

गाथा ५२—मूल पाठ मे गाथाओ का जान है। ५२ के स्थान पर ५३ वी और ५३ के स्थान ५२ वी गाथा होनी चाहिए। क्योकि ५१ वी मे आगमकार ने भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक सभी देवो की तेजो-लेश्या के की प्रतिज्ञा की है, किन्तु ५२ वी गाथा मे केवल वैमानिक देवो की ही तेजोलेश्या निरूपित की हैं। जबकि ५३ वें श्लोक मे प्रतिपादित लेश्या का चारो ही के देवो की अपेक्षा से है। टीकाकारो ने भी इस विसगति का किया है। 'इय च सामान्योपक्रमेऽपि वैमानिकनिकायविषयतया नेया'—सर्वार्थसिद्धि ।

गाथा ५८-५९—प्रतिपत्तिकाल की अपेक्षा से छहो ही लेश्याओ के प्रथम समय मे जीव का परभव मे जन्म नही होता है और न अन्तिम मे ही। लेश्या की प्राप्ति के बाद अन्तर्मुहूर्त बीत जाने पर और अन्तर्मुहूर्त ही शेप रहने पर जीव परलोक मे जन्म लेते हैं।

भाव यह हैं कि मृत्युकाल मे आगामी भव की और उत्पत्ति काल मे अतीत भव की लेश्या का अन्तर्मुहूर्त काल तक होना, है। देवलोक और नरक मे होने वाले मनुष्य और तिर्यंचो को मृत्युकाल मे अन्तर्मुहूर्त तक अग्रिम भव की लेश्या का सद्भाव होता है। मनुष्य और तिर्यंच गति मे होने वाले देव नारको को भी मरणानन्तर अपने पहले भव की लेश्या अन्तर्मुहूर्त काल तक रहती है। अतएव मे देव और नारको की लेश्या का पहले और पिछले भव के लेश्या-सम्बन्धी दो अन्तर्मुहूर्तों के साथ स्थितिकाल बताया गया है। प्रज्ञापनासूत्र मे कहा है—"जल्लेसाइ करेइ, तल्लेसेसु ।"

३५

गाथा ४-६—भिक्षु को किवाडो से युक्त मे रहने की मन से भी न करनी चाहिए। यह उत्कृष्ट का, अगुप्तता का और अपरिग्रह भाव का सूचक है।

श्मशान मे रहने से अनित्य एव वैराग्य की जागृति रहती है। चिता मे शवो को और दग्ध अस्थियो को देखकर किस को विपय भोगो से विरक्ति न होगी।

वृक्ष के नीचे रहना भी महत्त्व पूर्ण है। प्रतिकूलताओ को तो सहना होता ही है। बौद्धग्रन्थ विसुद्धि मार्ग मे कहा है कि वृक्ष के नीचे रहने से को हर समय

पेड के पत्तो को परिवर्तित होते और पीले पत्तो को गिरते देखकर जीवन की अनित्यता का पैदा होता रहेगा। अल्पेच्छता भी रहेगी।

गाथा २०—देह के छोडने का अर्थ 'देह को नही, देहभाव को छोडना है, देह मे नही, देह की प्रतिबद्धता—आसक्ति मे ही बन्धन है। देह की प्रतिबद्धता से मुक्त होते ही के लिए देह मात्र जीवन यात्रा का एक साधन रह जाता है, नही।

३६

गाथा ३—यहाँ भाव का अर्थ पर्याय है।

४—पूरण-गलनधर्मा पुद्गल रूपी अजीव द्रव्य है। रूप से रूप, रस, गन्ध, और स्पर्श-चारो का ग्रहण है। धर्मास्तिकाय आदि चार अरूपी अजीव द्रव्य हैं। इनमे उक्त रूपादि चार धर्म नही हैं।

गाथा ५—पदार्थ और दोनो तरह से जाना है। धर्मास्तिकाय आदि अरूपी अजीव वस्तुत द्रव्य हैं। फिर भी उनके स्कन्ध, देश, प्रदेश के रूप मे तीन भेद किए है। धर्मास्तिकाय मे देश और प्रदेश बुद्धि-परिकल्पित है। एक परमाणु जितना क्षेत्रावगाहन करता है, वह अविभागी विभाग, अर्थात् फिर भाग होने की से रहित सर्वाधिक सूक्ष्म अश प्रदेश कहलाता है। अनेक प्रदेशो से परिकल्पित स्कन्धगत छोटे बडे नाना अश देश कहलाते है। पूर्ण द्रव्य कहलाता है। धर्म और अधर्म अस्तिकाय से एक हैं। उनके देश और प्रदेश है। के असख्य ही भेद होते है, यह मे रहे। के प्रदेश होते है। लोकाकाश के य और अलो के अनन्त होने से प्रदेश है। वैसे एक ही है।

काल को कहा है। यह इसलिए कि समय के सिद्धान्त आदि अनेक अर्थ होते हैं। के विशेषण से वह वर्तनालक्षण काल द्रव्य का ही बोध है। स्थानागसूत्र (४, १, २६४) की अभयदेवीय वृत्ति के अनुसार काल का सूय की गति से रहता है। अत दिन, रात आदि के रूप मे काल अढाई द्वीप प्रमाण मनुष्य क्षेत्र मे ही है, अन्यत्र नही। काल मे देश-प्रदेश की परिकल्पना नही है, क्योकि वह निश्चय मे होने से निर्विभागी है। अत उसे और अस्तिकाय भी नही माना है।

गाथा ९—अपरापरोत्पत्तिरूप प्रवाहात्मक सन्तति की अपेक्षा से काल अनादि है। किन्तु दिन, रात आदि प्रतिनियत व्यक्तिस्वरूप की अपेक्षा सादि सान्त है।

गाथा १०—पुद्गल के , देश, प्रदेश और परमाणु चार भेद हैं। मूल पुद्गल द्रव्य परमाणु ही है। दूसरा भाग नही होता है, अत वह निरश होने से परमाणु

कहलाता है। दो परमाणुओ से मिलकर एकत्व परिणतिरूप द्विप्रदेशी स्कन्ध होता है। इसी प्रकार त्रिप्रदेशी आदि से लेकर अनन्तानन्त प्रदेशी स्कन्ध होते हैं। पुद्गल के है। परमाणु स्कन्ध मे सलग्न रहता है, तब उसे प्रदेश कहते हैं और जब वह पृथक् अर्थात् रहता है, तब वह परमाणु कहलाता है।

गाथा १३, १४—पुद्गल द्रव्य की स्थिति से अभिप्राय यह है कि जघन्यत एक तथा उत्कृष्टत काल के बाद आदि रूप से रहे हुए पुद्गल की सस्थिति मे परिवतन हो है। स्कन्ध बिखर है, तथा परमाणु भी स्कन्ध मे सलग्न होकर प्रदेश का रूप ले लेता है।

से अभिप्राय है—पहले के अवगाहित क्षेत्र को छोडकर पुन उसी विवक्षित क्षेत्र की अवस्थिति को होने मे जो होता है, वह बीच का काल।

१५ से ४६—पुद्गल के असाधरण धर्मों मे भी एक धर्म है। के दो भेद हैं—(१) इत्थस्थ और २ अनित्थस्थ। जिसका त्रिकोण आदि नियत हो, वह इत्थ स्थ कहलाता है, और जिसका कोई नियत न हो, उसे अनित्थस्थ कहते हैं। के पाँच है—(१) परिमण्डल—चूडी की तरह गोल, (२) वृत्त—गेंद की तरह गोल, (३) त्र्यस्र—त्रिकोण, (४) चतुरस्र—चौकोन, और (५) आयत—बास या रस्सी की तरह ।

धर्मास्तिकाय आदि अरूपी द्रव्यो के केवल द्रव्य, क्षेत्र का ही वर्णन किया है, भाव का नही। यह अर्थ नही कि इनके भाव नही होते। क्योकि भाव अर्थात् पर्याय से शून्य कोई द्रव्य होता ही नही है। परन्तु पुद्गल के वर्ण आदि के अरूपी द्रव्य के इन्द्रियग्राह्य स्थूल पर्याय नही होते, अत भावो का उल्लेख नही किया है।

पुद्गल के वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श आदि इन्द्रियग्राह्य भाव हैं, अत वर्णन विस्तार से किया गया है। कृष्णादि वर्ण गन्ध आदि से होते हैं, तब वि प्रत्येक पाँच वर्ण २० भेदो से गुणित होने पर वर्ण पर्याय के १०० भग होते हैं। इसी प्रकार सुगन्ध के २३ और दुर्गन्ध के २३, दोनो के मिलकर गन्ध पर्याय के ४६ भग होते है। इसी प्रत्येक रस के बीस-बीस भेद मिलाकर रस के सयोगी भग १०० होते हैं। मृदु आदि प्रत्येक स्पर्श के सतरह-सतरह भेद मिलाकर आठ स्पर्श के १३६ भग होते हैं। प्रत्येक के बीस-बीस भेद मिलाकर - पचक के १०० सयोगी भग होते है। भगो की ४८२ है।

ये सब भग स्थूल दृष्टि से गिने गए है। वस्तुत की दृष्टि से सिद्धान्तत देखा जाए तो प्रत्येक के अनन्त भग होते हैं।

गाथा ४८—सिद्धो के स्त्रीलिंग और पुरुषलिंग आदि अनेक प्रकार पूर्व जन्म-कालीन विभिन्न स्थितियो की अपेक्षा से हैं। मे सब सिद्ध एक समान है। केवल अवगाहना का अन्तर है। अवगाहना का अर्थ शरीर नही है। अपितु आत्मा भी द्रव्य होने से अपनी अमूर्त आकृति तो रखता ही है। द्रव्य आकार-शून्य कभी नही होता। आत्मा के जितने प्रदेश क्षेत्रो को अवगाहन करता है, उस अपेक्षा से सिद्धो की अवगाहना है।

गाथा ५६—सिद्ध लोकाग्र मे स्थित है, इसका अभिप्राय यह है कि उनकी ऊर्ध्वगमन रूप गति वही तक है। आगे अलोक मे गति हेतुक धर्मास्तिकाय का होने से गति नही है।

यहाँ पृथ्वी पर शरीर छोडकर वहाँ लोकाग्र मे सिद्ध होते है, इसका इतना ही अभिप्राय है कि गतिकाल का एक ही समय है। अत पूर्वापर काल की स्थिति असभव होने से जिस समय मे भव क्षय होता है, उसी मे लोकाग्र तक गति और मोक्ष स्थिति हो जाती है। वैसे निश्चय दृष्टि से होते ही सिद्धत्व भाव यहाँ ही हो जाता है।

गाथा ६४—पूर्व जन्म के अन्तिम देह का जो ऊँचाई का परिमाण होता है उससे त्रिभागहीन (एक तिहाई कम) सिद्धो की अवगाहना होती है। पूर्वावस्था मे उत्कृष्ट अवगाहना पाँच सौ धनुष की मानी है, अत मुक्त मे शुषिर (शरीर के खाली पोले अश) से रहित प्रदेशो के सघन हो जाने से वह त्रिभागहीन अर्थात् तीन सौ तेतीस धनुष बत्तीस अगुल रह जाती है। और सबसे कम जघन्य (दो हाथ वाले आत्माओ की) एक हाथ आठ अगुल प्रमाण होती है।

गाथा ७२—प्रस्तुत सूत्र मे खर पृथ्वी के ३६ भेद बताए है, जबकि प्रज्ञापना मे ४० गिनाए है। इतने ही क्यो, यह तो स्थूल रूप से प्रमुखता की अपेक्षा से गणना है। वैसे भेद है।

ने ३६ भेदो की प्रतिज्ञा की है, जबकि मणि के प्रकारो मे चार भेद गणना से अधिक है। वृत्तिकार ने उपभेद के रूप मे अन्तर्भाव दूसरो मे बताया है। पर किस मे किस का अन्तर्भाव है, यह सूचित नही किया है।

- गाथा ९३—साधारण का अर्थ समान है। जिन जीवो का - एक ही शरीर होता है, वे कहलाते हैं। शरीर का एकत्व है। अत आहार और श्वासोच्छ्वास भी समान अर्थात् एक ही होता है। 'उपलक्षण चैतद् आहारानपानयोरपि —सर्वार्थ सिद्धि।

प्रत्येक वे कहलाते है, जिन का शरीर अपना-अपना भिन्न होता है। जो एक का शरीर है, वह दूसरो का नही होता।

प्रत्येक वनस्पति जीवो की उत्कृष्ट दश हजार वर्ष की आयु होती है, जघन्य अन्तमुंहूर्त। साधारण जीवो की जघन्य-उत्कृष्ट अन्तमुंहूर्त की ही आयु है।

गाथा १०४—पनक का अर्थ सेवाल अर्थात् जल पर की काई है। परन्तु यहाँ कायस्थिति के वर्णन मे पनक समग्र वनस्पति काय का वाचक है। सामान्य रूप से वनस्पति जीवो की ष्ट कायस्थिति अनन्त काल बताई है, जो प्रत्येक और साधारण दोनो की मिलकर है। अलग-अलग विवक्षा की अपेक्षा से तो प्रत्येक वनस्पति, बादर निगोद और सूक्ष्म निगोद जीवो की काल की कायस्थिति है। प्रत्येक की जघन्य अन्तमुंहूर्त और उत्कृष्ट ७० कोटि-कोटि सागरोपम है। निगोद की समुच्चय काय स्थिति जघन्य अन्तमुंहूर्त और उत्कृष्ट अनन्त काल है। बादर निगोद की उत्कृष्ट ७० कोटि-कोटि है, और सूक्ष्म निगोद की त काल। जघन्य स्थिति दोनो की अन्तमुंहूर्त है।

गाथा १०७—तेजस्, वायु और त्रस-ये त्रस के तीन भेद हैं। तेजस् और वायु एकेन्द्रिय हैं, अत अन्यत्र इन की गणना पाच स्थावरो मे की गई है। यह पक्ष सैद्धान्तिक है। स्थावरनाम कर्म का उदय होने से ये निश्चय से स्थावर है, त्रस नही। केवल एक देश से दूसरे देश मे त्रसन अर्थात् सक्रमणक्रिया होने से और वायु की त्रसमे गणना की गई है। इसका परिणाम यह हुआ कि त्रस के उदार और अनुदार भेद करने पडे। आगे चलकर तेजस् और वायु को 'गतित्रस' और द्वीन्द्रिय आदि को त्रसनाम कर्म के उदय के कारण 'लब्धि त्रस' कहा गया। स्थानाग सूत्र (३।२।१६४) मे उक्त तीनो को त्रस सज्ञा दी है। श्वेताम्बरसम्मत तत्त्वार्थ सूत्र मे भी ऐसा ही उल्लेख है। आचाराग सूत्र का प्रथम श्रुत सर्वाधिक प्राचीन आगम माना जाता है। उसमे यह जीव निकाय का क्रम एक भिन्न ही प्रकार का है—पृथ्वी, अग्नि, वनस्पति, त्रस और वायु।

गाथा १६९—नरक से निकल कर पुन नरक मे ही उत्पन्न होने का जघन्य व्यवधानकाल अन्तमुंहूर्तका बताया है, अभिप्राय यह है कि नारक जीव नरक से निकल कर सख्यातवर्षायुष्क गर्भज तिर्यंच और मनुष्य मे ही जन्म लेता है। वहाँ से अति क्लिष्ट अध्यवसाय कोई जीव अन्तमुंहूर्त परिमाण आयु भोग कर पुन नरक मे ही उत्पन्न हो है।

गाथा १७०—अतिशय मूढता को समूर्च्छा कहते हैं। समूर्च्छा प्राणी सम्मूच्छिम कहलाता है। गर्भ से उत्पन्न न होने वाले तिर्यंच तथा मनुष्य मन पर्याप्ति के अभाव से सदैव अत्यन्त मूच्छित जैसी मूढ स्थिति मे रहते हैं।

'गर्भ व्युत्क्रान्तिक' मे व्युत्क्रान्तिका अर्थ उत्पत्ति है।

१८०—स्थलचर चतुष्पदो मे एकखुर आदि है, जिनका खुर एक है, है, फटा नही है। द्विखुर गाय आदि है, जिनके खुर फटे हुए होने से दो अशो मे विभक्त हैं। गण्डी अर्थात् कमलकर्णिका के जिनके पैर वृत्ताकार गोल हैं, वे हाथी आदि गण्डी पद हैं। नखसहित पैर वाले सिंह आदि पद हैं।

गाथा १८१—भुजाओ से परिसर्पण (गति) करने वाले नकुल, मूषक आदि भुज परिसर्प हैं। तथा उर (वक्ष, छाती) से परिसर्पण करने वाले सर्प आदि उर-परिसर्प हैं।

गाथा १८५—स्थलचरो की कायस्थिति पूर्वकोटि पृथक्त्व तीन पल्योपम की बताई है, अभिप्राय यह है कि पल्योपम आयु वाले तो पुन वही पल्योपम की स्थिति वाले स्थलचर होते नही हैं। मरकर देवलोक मे जाते हैं। पूर्व कोटि आयु वाले इतनी ही स्थिति वाले के रूप मे पुन उत्पन्न हो सकते है। वे भी सात आठ भव से अधिक नही। अत पूर्वकोटि आयु के पृथक्त्व भव ग्रहण कर अन्त मे पल्योपम आयु पाने वाले जीवो की अपेक्षा से यह काय-स्थिति बताई है।

१८८—चर्म की पखो वाले आदि चर्म पक्षी है। और रोम की पखो वाले हस आदि रोम पक्षी हैं।

समुद्ग अर्थात् डिब्बा के समान सदैव बन्द पखो वाले समुद्ग पक्षी होते हैं। सदैव फैली हुई पखो वाले विततपक्षी कहलाते हैं।

—०—